श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला १, २

श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागरजी द्वारा विरचित

श्रावकधर्मप्रदीप

संस्कृत व हिन्दी टीकाकार

श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री

प्रधान अध्यापक श्री दि० जैन शिक्षासंस्था कटनी

प्रकाशक

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

भदैनी घाट, बनारस

ग्रन्थमाला सम्पादक
पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

वीर नि० सं० २४८१
प्रथम संस्करण
मूल्य ४)

मुद्रक—
शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस, काशी।

प्रकाशकीय

श्रावकधर्मप्रदीप श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराजकी रचना है। इसमें गृहस्थके सभी आवश्यक कर्तव्योंका निर्देश पुराने श्रावकाचारोंके अनुसार विशेषतः आचार्य जिनसेनके महापुराण और सागारधर्मामृतके अनुसार किया गया है। कुछ ऐसे नये विषय, जो वर्तमान कालमें प्रचलित हैं, श्रावकाचारके अंग बनाये गये हैं। उदाहरणार्थ मृतदेह विसर्जनविधि और सूतक-पातकविधि आदि।

इसकी संस्कृत और हिन्दी टीका कटनीनिवासी सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने की है। पण्डित जी समाजके एक सुप्रसिद्ध सरलपरिणामी शान्तचित्त विद्वान् हैं। अपने जीवनके प्रारम्भसे ही आपकी रुचि त्यागकी ओर है और इस समय आप द्वितीय प्रतिमाके अनुरूप व्रतोंका पालन करते हैं। यहां यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि पण्डितजीने इन टीकाओंके निर्माणमें बहुत बड़ा परिश्रम किया है। इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि ये साहित्य निर्माणके कार्यमें प्रारम्भसे ही ध्यान देते तो आज इनकी इस प्रकारकी और कई साहित्यिक रचनायें न केवल दृष्टिगोचर होतीं अपि तु उनका स्थायी लाभ भी आंका जाने लगता। पण्डितजीका हिन्दी और संस्कृत पर पूरा अधिकार है और ये टीकाएं मजी हुई भाषामें लिखी गई हैं।

श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालासे अब तक जो साहित्य प्रकाशित हुआ है वह अपनी मौलिक विशेषताको लिए हुए है। इस सम्बन्धमें हमारी सदासे यह दृष्टि रही है कि इसमें सर्व प्रथम पूज्यपाद श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णीके प्रवचनोंको लिपिबद्ध कराकर और उनके बिखरे हुए साहित्यका संकलन करा कर उसे प्रकाशित किया जाय। फलस्वरूप अब तक मेरी जीवनगाथा व वर्णीवाणीके तीन भाग इसके द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। इसके बाद हम ऐसे साहित्यको स्वीकार करते हैं जो किसी न किसी रूपमें अपनी मौलिक विशेषता रखता है। जब हमारे सामने श्रावकधर्मप्रदीप व उसकी टीकाओंके प्रकाशनका प्रस्ताव आया तो हमने उसे भी इसी दृष्टिसे देखा। हमारा विश्वास है कि समाजकी ज्ञानवृद्धि और चरित्रशुद्धिमें इनसे पर्याप्त सहायता मिलेगी। हमने इनके प्रकाशनका निर्णय करते समय किन्हीं विशिष्ट मतोंका आग्रह न करके ग्रन्थकार और टीकाकारके भावोंकी पूरी तरहसे रक्षा हो इस बातका पूरा ख्याल रखा है। हमारा विश्वास है कि साहित्यनिर्माण और प्रकाशनमें यदि यह उदारता बरती जाय तो इससे समाजमें उदार और सहिष्णु क्षेत्रके निर्माणमें पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

यद्यपि सोलापुरमें श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराजके साहित्यको प्रकाशित करनेवाली उन्हींके नामसे एक संस्था स्थापित है, पर कई महानुभावों और खासकर श्रावकधर्मप्रदीपके सुयोग्य टीकाकार श्रीमान् पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्रीका विशेष आग्रह होनेसे वर्णी ग्रन्थमालाने इसे स्वीकार किया है।

इस पर प्रास्ताविक वक्तव्य समाजमान्य श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री (प्रधान अध्यापक श्री स्याद्वाद महाविद्यालय) ने लिखकर दिया है। इससे इस प्रकाशनकी महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई है। पण्डित जी का शास्त्रीय ज्ञान किसीसे छिपा हुआ नहीं है। समाजमें इस पीढ़ीके ऐतिहासिक दृष्टिसे विचारपूर्ण लेखकोंमें वे प्रथम हैं यह बात उनके प्रास्ताविक वक्तव्यसे ही स्पष्ट हो जाती है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थको सर्वांगपूर्ण प्रकाशन योग्य बनानेमें वर्णी ग्रन्थमालासे सम्बद्ध व्यक्तियोंका श्रम तो है ही साथ ही श्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी साहित्य गद्दीको सुशोभित करनेवाले श्री पण्डित अमृतलाल जी दर्शनाचार्य, साहित्याचार्यका श्रम कुछ कम नहीं है। उन्होंने इसपर अनेक प्रकारसे श्रम किया है और उसीके फलस्वरूप हम इस प्रकाशनको इस स्थितिमें देख रहे हैं।

वर्णी ग्रन्थमालाके सामने अनेक उपयोगी कार्य रहनेसे उसके आर्थिक पहलूका निर्वाह करना बड़ा कठिन बना रहता है। इस ग्रन्थको प्रकाशनके लिए स्वीकार करते समय भी हमारे सामने यह प्रश्न था। हमें यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि श्री सिंघई तोड़रमल कन्हैयालाल जी दि० जैन पारमार्थिक ट्रष्टफंडके ट्रष्टियों और उसके सुयोग्य मंत्री जीके सामने जब यह प्रश्न आया तो उन्होंने बड़ी उदारतापूर्वक इसके प्रकाशनके लिए १२००) स्वीकार करनेकी कृपा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त अनेक महानुभावोंके सत्प्रयत्नके फलस्वरूप हम श्रावकधर्म-दीपको ऐसी व्यवस्थित सामग्रीके साथ सुन्दर रूपमें प्रकाशित करनेमें समर्थ हो सके हैं, अतएव हम उक्त सब महानुभावोंके अत्यन्त आभारी हैं।

यह ग्रन्थ जैन शासनके प्रभावको बढ़ानेमें सहायक हो यही हमारी अन्तिम कामना है।

बंशीधर व्याकरणाचार्य
मंत्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला

प्रास्ताविक

आचरणकी दृष्टिसे जैनधर्मके दो रूप हैं, सागार अथवा गृहस्थधर्म और अनगार अथवा मुनिधर्म। किन्तु यथार्थमें जैनधर्म अनगारोंका ही धर्म था। जैनधर्मका प्रधान लक्ष्य है मोक्षप्राप्ति और अनगारधर्म ही मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण है। अनगारधर्म धारण किये बिना मोक्षको प्राप्ति संभव नहीं है। इसीसे पुरुषार्थसिद्धयुपायमें, जो श्रावकधर्मका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है, आचार्य अमृतचन्द्र सूरेने लिखा है कि जो उपदेष्टा यतिधर्मका उपदेश न देकर गृहस्थधर्मका उपदेश देता है, जैन प्रवचनमें उसे निग्रहस्थानके योग्य कहा है।

इसका स्पष्ट निदर्शन हमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोंमें मिलता है। उनके षट्प्राभृतोंमें मुनिको लक्ष्य करके ही धर्मका प्रतिपादन किया गया है। श्रावकधर्मका निर्देशमात्र चारित्रप्राभृतमें है। श्रावकके बारह व्रत और ग्यारह दर्जे (प्रतिमा) यही साधारणतया श्रावकधर्मका प्राचीन रूप है। तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्ड श्रावकाचारसे बारह व्रतोंके अतिचारोंकी परम्पराका आरम्भ होता है।

यद्यपि उत्तरकालमें निर्मित श्रावकाचारोंमें अतिचारोंका वर्णन विशेषरूपसे तत्त्वार्थसूत्रका ऋणी है तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध श्रावकाचारोंमें आद्य श्रावकाचार है और वह एक प्राचीन तथा स्वतंत्र परम्पराका प्रतिनिधित्व करता है।

आचार्य समन्तभद्रकी आप्तमीमांसामें जो सन्तुलितपन, क्रमबद्धता तथा प्रौढ़ता है वही रत्नकरण्डश्रावका-चारमें भी पाई जाती है। उसका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन मौलिक है। सम्यग्दर्शनका चित्रण करते हुए उन्होंने गुरुमूढ़ताके लिए पाषण्डिमोहन शब्द रखा है। यहां पाषण्डि शब्द साधुका वाचक है। पहले साधुसामान्यको पाषण्डि कहते थे। उत्तर कालमें इसीका भ्रष्ट रूप पाखण्डी बनाकर साधुओंके अर्थमें व्यवहृत होने लगा। अशोकके शिलालेखोंमें पाषण्डी शब्द अपने मूल अर्थमें व्यवहृत हुआ है। अतः पाषण्डी शब्दका प्रयोग रत्नकरण्डको प्राचीनताका सूचक है इसी तरह प्रोषधोपवासके लक्षणमें पर्वण्यष्टम्यां च में पर्व शब्द भी खास ध्यान देने योग्य है। टीकाकार प्रभाचन्द्रने पर्वका अर्थ चतुर्दशी प्रचलित प्रवृत्तिके अनुसार कर दिया है। किन्तु 'पर्व' का प्राचीन अर्थ अमावस्या पूर्णिमा ही मिलता है।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परामें वस्त्रके लिये 'चेल' शब्द ही प्राचीन कालसे प्रचलित है। रत्नकरण्डमें भी 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' तथा 'चेलखण्डधरः' शब्दोंके द्वारा उसी प्राचीन शब्दका प्रयोग किया गया है। बादके श्रावकाचारोंमें इस शब्दके स्थानमें 'कौपीन' 'संव्यान' आदि वस्त्र विशेषोंका प्रयोग पाया जाता है चेल या चेलखण्डका नहीं। इसी तरह सामायिकशिक्षाव्रत और सामायिकप्रतिमाका स्वरूप भी प्राचीन परिपाटीको बतलाता है। पांच अणुव्रतोंमें चौथे अणुव्रतका नाम परदारनिवृत्ति और स्वदारसंतोष दिये हैं। ये दो नाम प्रकारान्तरसे एक ही अर्थके सूचक हैं। किन्तु उत्तर कालमें परदारनिवृत्तिका अर्थ केवल परस्त्रीनिवृत्ति करके एक ही व्रतके दो टुकड़े कर दिये गये और उसमेंसे वेश्यासेवनकी गुञ्जाइश निकाल ली गई।

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यने पांच अणुव्रतोंके सिवाय तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बतलाये। तथा दिक्परिमाण, अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा तथा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत गिनाये। तत्त्वार्थसूत्रमें गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद न करके सात शील बतलाये-दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग।

सल्लेखनाको अलगसे बतलाया।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कुन्दकुन्दाचार्यकी तरह ही गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार बतलाये। गुणव्रतके भेद दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण भी कुन्दकुन्दकी तरह ही किये। किन्तु शिक्षाव्रतोंके भेदोंमें परिवर्तन कर दिया - देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य। तत्त्वार्थसूत्रकी तरह सल्लेखनाको अलगसे बतलाया। इसी तरह व्रतों और शीलोंके अतिचारों को बतलाते हुए परिग्रहपरिमाण व्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचार तत्त्वार्थसूत्रसे बिल्कुल भिन्न ही बतलाये—जो तत्त्वार्थ सूत्रमें प्रतिपादित अतिचारोंसे अधिक बुद्धिग्राह्य हैं और ठीक बैठते हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकी महत्ताके कारण उसमें प्रतिपादित अतिचार ही उत्तर कालमें प्रचलित हुए।

स्वामी जिनसेनाचार्यके आदिपुराणमें श्रावकाचारमें कुछ नवीनताका सूत्रपात हुआ। उन्होंने पक्ष, चर्या और साधनके द्वारा श्रावकके तीन भेद किये—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। अपनेसे पूर्वके सभी श्रावक आचारों-का संकलन करके सागारधर्मामृतको रचनेवाले आचार्यकल्प पं० आशाधर जीने आदिपुराणका अनुसरण करते हुए ही श्रावकके तीन भेदोंको आधार बनाकर कथन किया।

प्रस्तुत श्रावकाचार

प्रस्तुत श्रावकधर्मप्रदीपमें भी स्वामी जिनसेनाचार्यकी सरणि का अनुसरण करके आचार्य श्रीकुंथु सागर जी ने श्रावकधर्मका वर्णन किया है। प्रथम अध्यायमें १५ श्लोकोंके द्वारा उन्होंने पाक्षिक श्रावकका स्वरूप और आचार बहुत सरल रीतिसे बतलाया है, अहिंसा ही परम धर्म है, वीतराग देव ही सच्चे देव हैं, निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चा साधु है और जिनोक्त शास्त्र ही पठनीय है ऐसा जिसका भाव है वह पाक्षिक श्रावक है। पाक्षिक श्रावक भोगोपभोगमें विरक्त नहीं होता और त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं होता है तथापि धर्मकार्य करनेमें सदा तत्पर रहता है। वह दान देता है, पूजा करता है और यज्ञोपवीत धारण करता है।

विद्वानों का मत है कि ग्रन्थकार अपने समयका प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना तत्कालीन विचारोंसे अछूती नहीं रहती। श्रावकधर्मप्रदीपमें भी हम इस तथ्यके दर्शन पाते हैं। यह सब जानते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्धके कालसे विश्वमें सुख शान्ति स्थापित करनेकी सर्वत्र चर्चा है। आचार्य कुन्थुसागर जीने भी श्लोक ११ में उसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि दुष्टका निग्रह और सज्जनका रक्षण सम्पूर्ण विश्वमें सुख शान्तिका कारण है ऐसा भाव पाक्षिकका होता है।

दूसरे अध्यायमें नैष्ठिक श्रावकका वर्णन है। प्रथम तीन अध्यायोंके द्वारा पहली प्रतिमाका वर्णन खूब विस्तारसे किया है और अन्य श्रावकाचारोंमें दार्शनिक श्रावकके सम्बन्धमें जो कहा है उस सबका संकलन कर दिया है, साथ ही कुछ नवीन बातें भी हैं, जो अन्य श्रावकाचारोंमें नहीं हैं उदाहरणके लिये सूतककी चर्चा किसी भी श्रावकाचारमें नहीं पाई जाती, किन्तु इस श्रावकाचारमें उसे भी समाविष्ट कर दिया गया है।

आगेके अध्यायोंमें शेष प्रतिमाओंका वर्णन है।

आचार्य श्री कुन्थुसागर जी

इस ग्रन्थके कर्ता आचार्य श्री कुन्थुसागर जी इस युगके आदर्श साधु थे। उनकी सौम्य मूर्ति, सद्व्यवहार, भाषा संयम, एक साधुके अनुरूप थे। जो कोई उनके परिचयमें आता था वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। त्यागवृत्ति अपनानेसे पूर्व उनका ज्ञान उतना विकसित नहीं था। किन्तु त्यागी होनेपर उन्होंने बराबर ज्ञानाराधनामें अपना उपयोग लगाया। जब वह सप्तम प्रतिमामें थे तो एकबार अध्ययनके लिये श्री स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस

में भी आये थे। किन्तु वहाँका जलवायु अनुकूल न होनेसे उन्हें चले जाना पड़ा था। मुनिदीक्षा लेनेके पश्चात् जब मुझे प्रथम बार उनके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मैं तो उन्हें नहीं पहचान सका, किन्तु उन्होंने मुझे तुरन्त पहचान लिया।

आपका जन्म स्थान कर्नाटक प्रान्तके बेलगांव जिलेमें स्थित ऐनापुर ग्राम था। आपका जन्म नाम रामचन्द्र था। पच्चीस वर्ष तक गृहस्थाश्रममें रहनेके पश्चात् सन् १९२५ में आपने श्रवणबेलगोलामें आचार्य श्री शान्तिसागरजीसे क्षुल्लक दीक्षा ली और आपका नाम पार्श्वकीर्ति रखा गया। तत्पश्चात् सोनागिर सिद्धक्षेत्र पर आचार्य महाराजसे ही दिगम्बर जिनदीक्षा ले ली। उसके पश्चात् आप अध्ययनमें लगे रहे। और उसके फलस्वरूप संस्कृत भाषामें ग्रन्थ रचना भी करने लगे। आपकी वक्तृत्व शक्ति भी अपूर्व थी। उत्तरप्रान्तसे विहार करते हुए आपने गुजरात प्रान्तको अपना वासस्थान बनाया। और उस प्रान्तके गांवोंमें विहार कर लोगोंको धर्ममें स्थिर किया। जैन अजैन सभी आपके उपदेशसे प्रभावित होते थे। अनेक राजाओंने भी आपका सन्मान किया और उपदेश सुनकर प्रभावित हुए तथा अपने राज्यमें अहिंसाका पालन करनेका नियम लिया। खेद है कि २ जुलाई सन् १९४५ को आपका असमयमें स्वर्गवास होगया। इस युगमें ऐसा साधु होना दुर्लभ है।

टीका और टीकाकार

श्रावकधर्मप्रदीप नामक ग्रन्थकी संस्कृत और हिन्दी टीका जैन समाजके प्रसिद्ध धर्मात्मा विद्वान् पं० जगन्मोहनलालजी ने की है। पं० जगन्मोहनलालजी मध्यप्रान्तके निवासी और स्व० ब्र० गोकुलप्रसादजीके सुपुत्र हैं। ब्र० गोकुलप्रसादजी सच्चे त्यागी थे। उनके गुण उनके सुपुत्रमें भी अवतरित हुए। विद्वान् होनेके साथ ही साथ आप द्वितीय प्रतिमाके धारी हैं और ३२ वर्षसे जैन शिक्षा संस्था कटनीमें प्रधानाध्यापकीका कार्य अत्यन्त सन्तोष और निरीहवृत्तिसे कर रहे हैं।

जैसे ग्रन्थकार आचार्य श्री कुन्थुसागरजी इस युगके आदर्श साधु थे वैसे ही उसके टीकाकार पं० जगन्मोहन लाल जी अपने समय के आदर्श विद्वान् हैं। उनकी दोनों टीकाओंने ग्रन्थके महत्त्वको चौगुना कर दिया है। इस युगके विद्वानोंमें ग्रन्थ रचनाकी पद्धति क्वचित् ही पाई जाती है। किन्तु संस्कृतमें टीका रचना तो अपूर्व सी ही बात है। टीका बहुत ही सुबोध है और छात्रोंके लिये उपयोगी है, इसी तरह हिन्दीटीका भी बहुत ही उपयोगी है। उसमें स्वाध्याय करनेवालोंके लिये श्रवाकाचारका विषय भरा हुआ है। मूलग्रन्थमें तो केवल मूल मूल बातें हैं, किन्तु हिन्दी टीका में प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा है और इस तरह यह ग्रन्थ स्वाध्याय करनेवालोंके लिये बहुत ही उपयोगी बन गया है। हम अपने मित्रको ऐसी सुन्दर टीकाएं रचनेके लिये बधाई देते हैं। वर्णी ग्रन्थमालाने इसे प्रकाशित करके उचित ही किया है और इसके लिये वह धन्यवादार्ह है।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

(प्रधान अध्यापक श्री स्या० म० वि० बनारस)

आद्य-वक्तव्य

ज्ञान आत्माका गुण है। ज्ञानावरणादि कर्मोंके निमित्तसे उसमें हीनाधिकता हो सकती है तथापि आत्मासे ज्ञानका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। स्वभाव अपरिहार्य है। वस्तु स्वरूपको जाननेके लिए प्राणिमात्र लालायित रहता है। ज्ञान प्राप्तिसे जिस अनिर्वचनीय सुखका आनन्द प्राप्त होता है वह अन्य किसी कार्यके होनेसे नहीं प्राप्त होता। सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्गमें बहुत बड़ा साधन है। बिना उसके मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

संसारी जन उसी केवलज्ञानकी आभाके द्वारा, जो भगवान् केवलीकी वाणी द्वारा प्राप्त होती है, अपनी आत्माको आलोकित कर अपनेको पवित्र करते हैं। इस कालमें ज्ञानरविकी किरणें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी द्वारा फैली हैं। उनकी शिष्य परम्परामें ६८३ वर्ष तक तो अंग-पूर्वसंबंधी ज्ञान मौखिक चलता रहा। उसके बाद बचा हुआ ज्ञान ग्रंथ रूपमें निबद्ध हुआ। उस श्रुतके आधार पर अनेक आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीसे लेकर स्वपरकल्याण करते हुए उस धाराको आज भी अविच्छिन्न बनाए हुए हैं।

यद्यपि दक्षिण प्रान्तमें सदासे साधु परम्परा है, और पंचम कालके अन्त तक रहेगी ऐसा भगवान्‌का वचन है तथापि उत्तर प्रान्तमें इस परम्पराका अभाव था। श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराजने इस कालमें इस परम्पराको इस प्रान्तमें चालू कर दिया है। उनमेंसे एक प्रस्तुत ग्रंथके कर्ता श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर भी हैं। ये श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजीके शिष्य हैं। अनेक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। मोक्षमार्गप्रदीपके अनन्तर मुनिधर्म प्रदीप और उसके बाद 'श्रावकधर्मप्रदीप' की रचना इन्होंने की है। संस्कृत भाषामें इतनी सरल रचना कर सकनेका सौभाग्य बहुत कम महानुभावोंको प्राप्त होता है। इस सरल ग्रंथकी टीका और सरल होना चाहिए थी, पर वह सम्भव नहीं हो सका, तथापि आचार्यश्री की आज्ञासे मैंने टीका लिखनेका प्रयास किया है। भले ही हम उसमें यथोचित सफलता नहीं पा सके हों पर आचार्यश्रीकी आज्ञाका पालन मैं कर सका इसका मुझे सन्तोष है। मैं श्रावकाचारसंबन्धी एक पुस्तक लिख रहा हूं, तथापि वह अपूर्ण है। मुझे इस ग्रन्थकी टीका लिखनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हुआ, और उसके लिखनेकी अन्तःप्रेरणा क्यों हुई ? इसकी एक कहानी है।

अन्तःप्रेरणा

मेरे पिता सप्तम प्रतिमाधारी पूज्य ब्र० गोकुलप्रसादजी संवत् १९८० विक्रमाब्दमें स्वर्गवासी हुए। स्वर्गवासी शब्दका मैंने व्यावहारिक शब्द प्रयोगकी पद्धत्यनुसार प्रयोग नहीं किया, किन्तु वे श्रावक व्रती थे अतः जैनसिद्धान्तके अनुसार उनका देहावसान होने पर अन्य पर्यायमें स्वर्ग गति प्राप्त करना निश्चित है। अस्तु। वे जबलपुर जिलाके अन्तर्गत मझौली ग्रामके निवासी थे किन्तु अपनी मुकद्दमेंबाजीकी हानिकारक आदतवश उत्पन्न हुई आर्थिक हानिके कारण वे अनेक स्थानोंमें भ्रमण कर पिंडरई (मंडला) में व्यवसाय करने लगे थे। काल लब्धिसे उनकी रुचि स्वाध्यायकी ओर हुई और उन्होंने संसार देह और भोगोंसे उदासीनताको प्राप्त किया। अभ्यासावस्थारूप श्रावक व्रत और ब्रह्मचर्यका पालन, जिन मन्दिरमें आवास, स्वाध्याय, और तीर्थयात्रा ये ही उनके कार्य शेष थे। व्यवसायिक कार्य हमारे चचेरे ज्येष्ठ भ्राता तथा मामा पर छोड़ दिया था। सं० १९६५ में हमारी माताका देहावसान हुआ। पिताने इसे सुयोग समझा और सप्तम प्रतिमाके व्रत जिनप्रतिमाके सन्मुख स्वयं गृहीत किए। इनके जीवनका परिचय पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज ने

अपने दीक्षागुरुके रूपमें अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' में दिया है, अतः विशेष लिखना उपयुक्त नहीं है। इनकी इच्छा बहुत समय तक विद्याभ्यासकी रही। स्वर्गीय गुरुवर्य न्यायवाचस्पति स्याद्वाद-वारिधि पंडित गोपालदासजी बरैया मारेना (ग्वालियर स्टेट) में उन दिनों जीवित थे। वे दिग्गज विद्वान् थे। उनके पास विद्याभ्यास हेतु गए, मैं भी साथ था। गुरुजीने मुझे रत्नकरण्डश्रावकाचारके कुछ श्लोक पढ़ाए और बादमें यह कह दिया कि बालक छोटा है इसे मथुरा पहुंचा दो। वहाँ महासभाका महाविद्यालय खुलनेवाला है। मुझे मथुरा भेजकर वे मोरेनामें अध्ययन करते रहे। अध्ययन कालके बाद उनके व्रतोंमें विशेष विशुद्धि आई। उनके अनेक शिष्य हुए। विशेष संख्या होनेके कारण दमोहके पास श्री कुण्डलपुरजी नामक प्राचीन क्षेत्र पर ब्रह्मचारियोंका एक आश्रम स्थापित किया। एक आश्रम इंदोरमें भी स्थापित किया जो अभी उदासीनाश्रमके नामसे चल रहा है। इनका उद्देश्य ग्राम्य जनताको धार्मिक शिक्षण देना था, अतः वे प्रायः ग्रामोंमें विहार करते थे और वहीं विहार करनेके लिए शिष्य समुदायको भी प्रेरणा करते थे। लौकिक कीर्तिकी अभिलाषा उन्हें छू तक न गई थी, इसलिए इतनी सेवाओंके बाद भी शहरी जनता तथा अखबारी दुनियाके लोग उन्हें कम जानते थे।

उन्होंने "श्रावकप्रतिमादर्पण" नामसे एक ग्रंथ लिखना प्रारंभ किया था। वे चाहते थे कि श्रावकोंकी प्रतिमाओंके संबंधमें एक ग्रंथ ऐसा लिखा जाय जो सरल हो और उसे पढ़नेके बाद कोई भी व्रती निःसंदेह होकर व्रत पालनमें अग्रसर हो। जीवनके अन्तके दिनोंमें उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि मेरा ग्रंथ अपूर्ण रहा जाता है। तुमने विद्या प्राप्त की है, तुम इसे पूरा कर सकते हो, अतः इसे पूर्ण करना। यह उनकी अन्तिम आज्ञा थी। मैं चाहता था कि उसे पूरा करदूँ. पर मुझे कठिनताका अनुभव हुआ। कारण यह था कि उन्होंने हिन्दी शास्त्रोंकी पुरानी जयपुरी ढूँढारी भाषामें लिखना प्रारंभ किया था। उस भाषामें प्रयत्न करने पर भी मैं नहीं लिख सका। अनेक वर्षों तक ग्रंथ रखा रहा और मैं कार्यसे निराश हो गया, यह समझ कर कि मैं इसे लिख न सकूँगा, फिर भी चित्तमें खटका था। मुझे अन्त प्रेरणा होती थी कि इस संबंधमें कुछ लिखा जाय चाहे वह इस रूपमें न भी हो, अन्य किसी रूपमें हो पर पिताजीकी जो इच्छा या आज्ञा थी उसे पूरा करना ही चाहिए। यह तो कोई लौकिक कामना नहीं थी, पारमार्थिक कार्य भी यदि पूरा न किया जासके तो इससे अधिक और क्या प्रमाद होगा ? पर भाषा ढूँढारी लिखना मेरे बशकी बात नहीं थी। अतःप्रेरणा उत्पन्न होती थी, पर उसकी पूर्ति नहीं हो पाती थी।

लेखनका सौभाग्य

विक्रमाब्द २००० में दशलक्षणपर्वमें शास्त्रप्रवचनके हेतु मुझे खण्डवा जैन पञ्चायतका आमंत्रण मिला। मैंने १० दिन वहाँ प्रवचन किए। तदनन्तर मध्यके तीर्थोंकी यात्रा करते हुए इंदौर गया। इंदौरमें हमारे ग्रामके एक सज्जन मिले और हमारा उनका विचार हुआ कि बांसवाड़ा (वागड़प्रान्त) में श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर जी का चातुर्मास है वहाँ दर्शनहेतु चला जाय। हम दोनों वहाँ पहुँचे। बाँसवाड़ामें श्री मन्दिर जीमें सभाभवनमें ६००, ७०० श्रोता थे और आचार्य जी का संस्कृतवाङ्मयमें उपदेश चल रहा था। मेरा प्रथम प्रसंग था जब कि उनके मुखारविन्दसे मैं भाषण सुन रहा था और इससे अधिक आश्चर्य यह था कि वह संस्कृत भाषा में था। भाषा इतनी सरल थी कि उपस्थित जनता उसे समझ सके। जहाँ थोड़ीसी कठिनता महाराज समझते वहाँ हिन्दी भाषामें बोलने लगते थे। इस तरह उभय भाषाके संगममें चलनेवाला आचार्य श्री का प्रवचन बड़ा ही हृदयग्राही था।

जनताको देखकर मेरा अनुभव था कि यहाँ कमसे कम १५०, २०० घर जैनोंके होंगे। पूँछने पर यह ज्ञात हुआ कि यहाँ केवल ३६ घर दिगम्बरोंके हैं और ५० घर श्वेताम्बरोंके हैं। जनता जो एकत्रित है उसमें

शहरके पढ़े लिखे सुशिक्षित राजकर्मचारी, अध्यापक, वकील, डाक्टर आदि प्रमुख पुरुष हैं। प्रतिदिन आफिस कार्यके अनन्तर यही समय सबके लिए अनुकूल होनेसे आचार्यश्री का प्रवचन इसी समय शामको ६ बजे होता है। आचार्य श्री का प्रभाव अचिन्त्य था। भाषण सुनने पर किसीको यह प्रतीत नहीं होता था कि वक्ता साधु किस धर्मका है और किस धर्मका उपदेश कर रहा है। जैनधर्म शब्दका प्रयोग किए बिना भी आत्मधर्म और गृहस्थके कर्त्तव्योंका जिस सुन्दरता और आकर्षक ढंगसे वे प्रतिपादन करते थे उससे उनकी सार्वजनीन हितभावना पद पद पर व्यक्त होती थी। मतभेदोंकी या स्वमतप्रशंसाकी गंध लाए बिना सद्धर्मका दृढ़तासे प्रतिपादन करनेवाला उपदेश मैंने अपने जीवनमें पहिली बार सुना। वह कला आश्चर्यजनक थी जिसके स्मरणमात्रसे आज भी हृदय पुलकित हो उठता है।

आचार्य महाराजका जीवन प्रारंभसे ही उन्नतिशील था। ये कर्नाटक प्रान्तके ऐनापुर ग्रामके निवासी थे। इनके पिताका नाम सातप्पा (शान्तात्मा) और माताका नाम सरस्वती था। इनका पूर्व नाम श्री रामचंद्र था। बाल्यकालसे ही उक्त गृहस्थ धार्मिक दम्पतिने उनमें धर्मके संस्कार उत्पन्न किए थे। केवल माता पिताकी इच्छासे उन्होंने विवाह किया था। वैराग्य भावना उनके हृदयमें थी। यद्यपि इनके श्वसुर धनिक थे और अपुत्रवान् होनेसे इन्हें सम्पूर्ण धनका वारिस बनाना चाहते थे, पर ये तो सांसारिक सम्पत्तिको विपत्ति मानकर उससे दूर ही रहना चाहते थे। इन्होंने २५ वर्षकी तरुण वयमें ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। श्रीसम्मेदशिखरजीकी यात्राको जाते समय इनका कटनी पदार्पण हुआ। उस समय हिन्दीका ज्ञान इन्हें बहुत सामान्य था।

धर्मकी विशेष अभिलाषासे ये कटनी करीब १ सप्ताह ठहरे। धर्मचर्चाका सुनना यही एकमात्र कार्य उस समय था। दूसरी बार सं० १९८५ में परमपूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी का कटनी में चातुर्मास हुआ। उस समय संघमें आप ऐलकपद पर आसीन होकर आये थे। पार्श्वकीर्ति आपकी संज्ञा थी। यह ज्ञात हुआ कि आपने तीन वर्ष पूर्व ही क्षुल्लकदीक्षा और उसके बाद ही इस वर्ष ऐलकदीक्षा ली है। उस समय आपकी अवस्था ३२ सालकी थी। संघमें इन्हे यह कार्य दिया गया था कि श्रावकोंको कमसे कम मूलगुण तथा उनका चिह्न यज्ञोपवीत (जनेऊ) देकर श्रावक बनावें। इस कारण इन्हें साधारण लोग जनेऊ महाज के नामसे संबोधित करते थे। हृष्ट-पुष्ट शरीर, प्रसन्नवदन, सलोना सावंला रंग, मिष्टवाणी अध्यात्मरसप्रेमी और स्निग्ध दृष्टि, इस प्रकारके यदि किसी साधुकी आप कल्पना कर सकते हों तो वह श्री पार्श्वकीर्ति महाराज थे।

कटनी चातुर्माससें ही उन्होंने विद्याभिवृद्धिके हेतु संस्कृत भाषाका अध्ययन प्रारम्भ किया। उनके अध्ययन प्रेमको देखकर आचार्य श्री ने संघके अन्य साधुओं तथा क्षुल्लक ऐलकोंको भी अध्ययन की प्रेरणा की। संघमें पण्डित नन्दनलाल जी शास्त्री सप्तम प्रतिमाधारी थे। इसलिये सभी साधुओंका अध्ययन चातुर्मासके बाद विहार कर जाने पर भी चालू रहा। दो-तीन वर्ष में ही ये संस्कृत विद्याके प्रौढ़ विद्वान् बन गए। श्री पं० नन्दनलालजीने भी क्षुल्लक दीक्षा ली और बादमें मुनिदीक्षा लेकर आचार्य सुधर्मसागरका पद प्राप्त किया। सोनागिर सिद्धक्षेत्रपर विक्रमांक १९८६ में पार्श्वकीर्ति जीने आचार्य महाराजसे दिगम्बरी दीक्षा धारण कर अपनी चिरकालकी बलवत्तर वैराग्य भावनाको सफल किया। तारंगा पञ्चकल्याणकके समय एक दूसरे प्रसिद्ध आचार्य शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) के आदेशानुसार इन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ।

इस प्रकार आप श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर जी बने। आपकी अगाध विद्वत्ता, सरलता, परोपकारिता और सर्वजनहितैषिताने आपको विमल कीर्ति प्रदान की। गुजरात प्रान्तने सबसे अधिक आपके सदुपदेशोंका लाभ लिया। इस प्रान्तकी रियासतोंके राजा महाराजा तथा उच्च राजकर्मचारी तक आपके जीवनचरित्र तथा विद्वत्तासे प्रभावित थे। श्री आचार्य महाराज कभी कभी एक एक सप्ताह तक मौन रहते थे। जब कोई राजा उनके दर्शनार्थ ऐसे

समय आता तो जबतक मौन न खुल जाय और उपदेश प्राप्त न कर ले तब तक वहाँ रुकता था। मुदासना, शिरोही, डूंगरपुर, और बाँसवाड़ा आदि अनेक रियासतों में तत्कालीन राजाओंने आचार्यश्रीके जन्मदिन कार्तिक शुक्ल २ को राज्यभरमें अहिंसादिवस घोषित कर अपनी आचार्यश्रीके तथा दिगम्बर जैनधर्मके प्रति श्रद्धा व भक्ति प्रकट की थी। आचार्यश्रीने करीब ३० ग्रंथ संस्कृत भाषामें लिखे हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ उनमें से एक है। बांसवाड़ासे जब मैं दुःखपूर्वक विदा होने लगा, मैंने आचार्य श्री से पुण्याशीर्वाद प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना की। आचार्यश्रीने श्रावकधर्मप्रदीप ग्रंथकी मूल प्रति मुझे लाकर दी और यह आदेश दिया कि इसकी संस्कृत भाषामें और हिन्दी भाषामें टीका करो। यह श्रुतसेवा ही तुम्हारा कल्याण करेगी। मैंने विचार किया तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रावकाचार के लिये ही मुझे पिता से प्रेरणा प्राप्त हुई थी और वही आदेश आचार्यश्रीका है। इस कार्यसे मेरे दोनों उद्देश्य पूरे होंगे तथा ढूंढारी भाषाकी कठिनता भी हल होगी। मैंने दोनों कार्यों की पूर्ति इस ग्रंथकी टीकामें ही मानकर इसे लिखने का प्रयास किया।

ग्रंथमें कुछ विषय और समाविष्ट होनेकी आवश्यकताका अनुभव हो रहा है। जैसे षोडशसंस्कार व उसकी विधि, यज्ञोपवीत, विवाह संस्कार, गृहस्थोंका उत्तराधिकार (दायभाग) और समाधिमरण इत्यादि, तथापि मूल ग्रंथ में इन विषयों पर कोई विशेष रचना न होनेसे नहीं लिखा गया।

मुझे लिखनेका अभ्यास नहीं है, ज्ञान भी अपरिपुष्ट है। इन दोनों कारणोंसे लिखनेका प्रारंभ करके भी पूर्ण होनेकी बात कठिनाई में थी। श्रीमान् सिद्धान्तवेत्ता सुलेखक भाई पंडित फूलचन्द्रजी शास्त्री काशी मेरे परम मित्र हैं। हम उनके बहुत आभारी हैं कि उनकी प्रेरणासे ही मैंने येन केन प्रकारेण इसे पूरा किया है। एक बार लिखकर उसे लौटकर देखनेका मुझे समय ही नहीं मिला। इस कारण टीकामें अनेक स्खलन मेरे ज्ञातभावमें भी रह गए हैं और अज्ञात भावमें भी होंगे। बहुतोंका संशोधन उक्त पण्डितजीके साहाय्यसे भाई पं० अमृतलाल जी शास्त्री साहित्याचार्य काशीने किया है। इसके लिए हम उनके भी आभारी हैं। श्रीमान् भाई कैलाशचन्द्र जी शास्त्रीने पुस्तककी भूमिका लिखनेकी कृपा की है। ग्रंथमें जो सौन्दर्य है वह तो मूल ग्रंथकर्ता आचार्य महाराजकी कृति है और टीकामें यदि कुछ गुण हैं तो वह हमारे उक्त मित्रोंकी कृपा है जो सहज स्नेहवश है। जो त्रुटियां हैं वे मेरे प्रमाद व अज्ञानजन्य हैं। उन्हें पूर्वाचार्य प्रणीत आगमसे मिलाकर शुद्ध कर लेनेकी प्रार्थना विद्वानोंसे करता हुआ मैं अपने इस वक्तव्यको समाप्त करता हूँ।

जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री

कटनी (म० प्र०)

ग्रंथ प्रकाशनमें विशेष सहायक

श्रीसिंघई तोड़रमल कन्हैयालाल जी दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रष्टफंड कटनीके ट्रष्टियोंने इस ग्रंथप्रकाशनमें १२००) की सहायता प्रदान की है। इस सहायताके कारण यह ग्रंथ प्रकाशमें आया है। उक्त ट्रष्टफंडके संस्थापक स्वर्गीय सिंघई तोड़रमल जी हैं। वे अपने जीवनके अन्तिम क्षणोंमें इसका निर्णय कर गए थे। ये दो भाई थे। श्रीयुक्त सि० टोड़रमलजी बड़े और सिं० कन्हैयालाल जी इनके छोटे भाई थे। छोटे भाई बड़े भाई के समयमें ही स्वर्गगामी हो गए थे।

इनके पूर्वज कटनीसे ८ मील पर स्थित बिलहरी ग्राम के निवासी थे। यह एक प्राचीन ऐतिहासिक नगरी है। प्राचीन खण्डहरोंके रूपमें इसका विस्तार अनेक मीलों तक पाया जाता है। अनेक कूप, विशाल बावड़ियां, लक्ष्मणसागर नामका विशाल तालाब, पञ्चकुण्ड, कामकन्दला, और मैंसाखड़ आदि तथा उनमें अनेक प्राचीन पाषाणोंमें उकेरी गई सुन्दर कारीगरी, मन्दिरोंके व गढ़ोंके भग्नावशेष आज भी उसके प्राचीन गौरवकी गाथा गारहे हैं। अशोक कालमें यह पुष्पावती नगरीके नामसे प्रसिद्ध थी। २४ मीलके विशाल घेरेमें बसी हुई यह नगरी एक महान् व्यापारिक केन्द्र थी। बिलहरी, रूपनाथ, बहुरीबन्द, कारोतलाई और ब्रह्मपुरी आदि प्राचीन स्थान एक ही विस्तृत राज्यके अंग थे। प्रसिद्ध स्थान त्रिपुरी कलचुरि राजाओं द्वारा शासित थी। उन्हींके वंशजोंमें एक बहुत प्रसिद्ध लक्ष्मणसिंह नामक कलचुरि राजा हो गये हैं। कालक्रमसे उनकी राजधानी इस नगरीमें थी। इनके नामका लक्ष्मणसागर सागरकी तरह आज भी लहरा रहा है। माधवानल और कामकन्दलाकी प्रसिद्ध कथा इसी नगरीसे संबधित है कामकंदलाके नामका सुन्दर स्थान आज भी खण्डहरोंके रूपमें खड़ा है।

पान और पाषाणके लिए यह स्थान प्राचीनकालसे प्रसिद्ध है। आइने अकबरीमें लिखा है कि बिलहरीका पान बहुत उत्तम होता है। बादशाह अकबर उसे बहुत पसंद करते थे। वह बिलहरी यही है। आज भी यह पानके लिए प्रख्यात है।

यहां आजसे ६० वर्ष पूर्व जैनोंके सैकड़ों घर थे। घर घर मंगलाचार होता था। पांच जिनालय आज भी उस नगरीके धर्मनिष्ठ लोगोंका स्मरण दिलाते हैं। कालक्रमसे वे लोग व्यापारकी अभिवृद्धि हेतु नगरोंमें बस गए। रेलवे स्टेशन होनेके कारण कटनी व्यापारिक स्थान हुआ, अतः वहांके पचासों जैनगृह कटनी आकर बस गए। उनमें उक्त दोनों सिंघई बंधु भी थे।

कटनीमें आकर उन्होंने अच्छा व्यवसाय किया। लक्षाधिपति बने। दोनों भाईयोंके सन्तान नहीं थी। खर्च सीमित था। दोनों भाई सरलचित्त थे। इन्होंने अपने जीवन कालमें पचास हजार रुपयोंके दान द्वारा इस ट्रष्टका निर्माण कर सन्तानरहित पुरुषोंके लिए एक आदर्श उपस्थित कर दिया है।

जैन जनताकी न्यूनताके कारण बिलहरीके मंदिरोंकी अविनय देखकर व बिलहरीसे आए हुए अन्य जैनोंके सहयोगको प्राप्त कर इन्होंने कटनीमें एक मंदिरका निर्माण किया जो बहुत ही सुन्दर बना है और कांचके मन्दिरके नामसे प्रख्यात है। बिलहरीके जिनबिम्ब लाकर इसमें विराजमान किये गये हैं। कटनीमें एकबार हजारों रुपया खर्चकर आपने विमानोत्सव भी किया था।

सिंघई तोड़रमलजी बहुत बुद्धिमान् थे। धार्मिक कार्योंमें बहुत विचार और विवेकके साथ पैसा लगाते थे। कटनी जैन संस्थाको समय समय पर उनकी सहायता प्राप्त होती रहती थी। वे आजन्म उसके ट्रष्टी रहे। कठिन अवसरोंपर उनकी सम्मति मिलती रहती थी और वह बहुत बड़ा काम करती थी। वे हसमुख, तर्कशील,

बुद्धिमान और धर्मप्रेमी थे। हजारों व्यक्तियोंके बीच बैठकर ऐसे तर्कपूर्ण व्यंग वचन बोलते थे कि पूरी सभा हँस पड़े पर स्वयं मौन। कटनीकी जनता आज भी उनको याद करती है।

जीवनके अन्तमें आपको देखनेके लिए अनेक प्रमुख जैनजन आपके घर गए थे। उसी समय आपने अपने छोटे भाईकी इच्छानुसार प्रदत्त एक मकान तथा हनुमानगंजमें बहुत रुचिसे बनाया हुआ अपना एक कांचवाला मकान दोनों दानहेतु दे दिए। सिंहुड़ी व धनिगाँ गाँव भी दानमें दिये थे जो जमीदारी उन्मूलन कानूनके अन्तर्गत राज्य सरकारने ले लिये हैं।

उनके स्वर्गवासके पश्चात् दोनों भाइयोंकी धर्मपत्नियों द्वारा उक्त संपत्तिका विधिवत् रजिस्टर्ड ट्रष्ट करा दिया गया है। और उनकी उदारता व इच्छासे ही इसी ट्रष्टकी ओरसे १२००) एक हजार दोसौ रुपया इस ग्रंथके प्रकाशन हेतु श्री ग० वर्णी जैन ग्रंथमाला काशीको दिये गये हैं जिससे यह ग्रंथ प्रकाशमें आया है।

इस श्रुतभक्तिके लिए हम उन दोनों माताओं व ट्रष्टके ट्रष्टियोंके अत्यन्त आभारी हैं।

फूलचन्द्र शास्त्री
श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनीघाट, बनारस।

विषय-क्रमाङ्क

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	श्रवकों	श्रावकों
५	२८	आत्मनं	आत्मानं
८	२१	करके	करे
६	६	प्रोत्साहित करे	प्रोत्साहित न करे
१३	१०	कह सकते हैं	कह चुके हैं
१५	११	पास्परिका	पारस्परिका
१६	२७	जिस	जिन
१६	३५	शद्र	शूद्र
१६	३१	समभाव हो	समभाव है
१६	३५	संघटन	संगठन
२०	२४	न्हीं	इन्हीं
२१	४	द्ररिद्र	दरिद्र
२१	२२	इसीलिए यही	इसलिए यह
२३	३४	अपना साधन	अपना स्वार्थसाधन
२७	३०	करनी	करना
२८	४	श्रावकके	श्रावकका
२६	१७	ह	हैं
३१	१३	एतत्स्वपराव-	एतत्स्वपराव-
३२	६	तत्त्वाकी	तत्त्वोंकी
३३	२८-२६	मिथ्यग्दृष्टियोंकी	मिथ्यादृष्टियोंकी
३४	६	सव	सब
३४	१६	यस्याति	यस्यास्ति
३४	३२	सम्पक्त्व	सम्यक्त्व
३५	१०	स्वात्मानम्	स्वात्मनम्
३५	१८	है । तब	है तब
३६	२५	वह । हमारे	वह हमारे
३७	२	चिन्हानि	चिह्नानि
३७	१३	प्रीति करोति	प्रीतिं करोति
३७	१५	कृतार्थ मन्यते	कृतार्थं मन्यते
३८	१५	विरुद्व	विरुद्ध
३८	२८	स्वधर्मात्	स्वधर्माज्

पृष्ठ	पं०	अशु०	शु०
३९	२१	व्यक्तिका	व्यक्तियोंका
४०	६	प्रायश्चित	प्रायश्चित्त
४०	१८	धामिक	धार्मिक
४०	३०	**निलययानि**	**निलयानि**
४०	२६	स्थितिकरणस्य	स्थितीकरणस्य
४२	१६	कारना	करना
४५	४	उसे	जैसे
४५	२०	मिथ्याकी अनुत्पष्टता	मिथ्यात्वकी अनुत्कृष्टता
४६	१०	**अज्ञनां**	**अज्ञानां**
४६	२४	पर्णाङ्ग सम्यक्त्व	पूर्णाङ्ग सम्यक्त्व
४८	६ के बाद	३५ वें श्लोककी टीका छापने से छूट गयी है	सत्यधर्मस्वरूपमविज्ञाय लौकिक धनपुत्रादिप्राप्त्यर्थं यमूढः कुदेवं याति सा संसारभ्रमण हेतुभूता दुःखदायिनी देवमूढता स्यात् ।
४८	२१	-तथा	-तया
५०	६	आयतन	अनायतन
५०	९	स्तत्वतो	तत्वतो
५०	९	सुश्रूपादिकं	शुश्रूषादिकं
५०	१३	सुश्रूकादिकं	शुश्रूषादिकं
५१	२७	**शिष्यस्य**	**शिष्यस्य तस्य**
५३	२८	व्यक्तिकी	व्यक्तिमें
६१	७	**मदांस्त्यक्त्वा**	**तान्मदांस्त्यक्त्वा**
६१	२३	**अज्ञाना**	**स्वीयाज्ञाना**
६४	३	**मरणाभय**	**मरणभय**
६४	२७	पुरुपक	पुरुषको
७३	२३	सम्मार्ग	सन्मार्ग
७४	२४	किसीका	किसीकी
७६	४	बम्धन	बन्धन
७६	१०	स लिए	इस लिए
७६	१०	गभस्थ	गर्भस्थ
७६	१४	धनोपाजन	धनोपार्जन
७६	१५	भाजन कराता	भोजन कराती
७६	२१	अथ	अर्थ
७६	२२	धमात्मा	धर्मात्मा
७७	२५	युद्व	युद्ध

पृ०	पं०	अशु०	शु०
७७	१५	प्राक्तास्	प्रोक्तास्
८०	७	सप्तानि	सप्तैव
८१	६	सन्तः	सन्तो
८६	४	तत्पसङ्गः	तत्प्रसङ्गः
९०	२०	किं वदा-	किं स्याद् वदा-
९४	३	जन्तो हिंसा	जन्तोर्हिंसा
९४	५	ि जात्मशान्त्यै	निजात्मशान्त्यै
९८	२१	(उपसंहार)	(उपजातिः)
९९	१	सत्यवतस्वरूपं	सत्यव्रतस्वरूपं
१०२	१६	चर्यतत्र	चर्यमत
१०२	२३	पूर्वोक्ति-	पूर्वोक्त-
११३	४	धनधान्यादिकमग्राह्यं	अग्राह्यं धनधान्यादि
१२८	१	प्रसिद्धयै	सिद्धयै
१४०	१६	शुक्लश्चेत	शुक्लश्चेति
१४२	१६	पश्चात्यतो	पश्चाद्यतो
१४४	३	युक्तंऽन्येषां	-णमन्येषां
१४८	६	चतुर्विशितः	चतुर्विंशतिः
१५१	३	हिकानि	हि कानि
१५१	८ व १६	दाराविं-	दारवि-
१५१	१५	वक्ष्ये	वक्ष्येऽहं
१६५	७	संसारर्ण-	संसाराणं-
१६६	१८	विजात्मनि	निजात्मनि
१६८	१६	कन्दर्प-	स्युः कन्दर्प-
१७०	१५	-धादियुता	-धादिसंयुता
१७०	१८	साधननां	साधनानां
१७१	६	सामयिकमें	सामायिकमें
१७१	१४	सामयिकं	सामायिकं
१७२	६	चतुर्विंशति-	चतुर्विंशति-
१७२	१२	-चिद्रपो	-चिद्रूपो
१७६	३	कषा	कषायं
१९६	१८	-धमविषये	-धर्मविषये
२०५	२७	-भाजन-	-भोजन-
२१५	३४	-मतेवि-	-मतेर्वि-
२२८	११	-तोऽथि-	-तोऽतिथि
२३१	२५	स्वमात्त-	स्वर्गमोक्ष-

ॐ

आचार्यश्रीकुन्थुसागरविरचितः

पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिप्रणीतया प्रभाख्यया

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्यया विभूषितः

श्रावकधर्मप्रदीपः

(श्रावकाचारः)

ग्रन्थकर्तो मङ्गलाचरण प्रतिज्ञा च

(अनुष्टुप्)

श्रीदं नत्वा जिनं भक्त्या कुन्दकुन्दादिसूरिणः ।
सदा शान्तिसुधर्मौ च श्राद्धसद्बोधहेतवे ॥ १ ॥
श्रावकधर्मप्रदीपो ग्रन्थोऽयं सौख्यदो भुवि ।
लिख्यते स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागरसूरिणा ॥ २ ॥ युग्मम् ।

टीकाकृतो मङ्गलाचरणमात्मपरिचयश्च

श्रीकुन्थुस्वामिनं नत्वा सर्वज्ञं गुणोदधिम् ।
टीकां करोमि ग्रन्थस्य सतो लघुधारिणि ॥ १ ॥
व्याकरणछन्दसम्पर्कात् स्थूलस्थूलधिया जितः ।
रचिष्यामि समर्थोऽहं मन्याशा हृदि वर्तते ॥ २ ॥

श्रीदमित्यादिः—श्रियम् अनन्तज्ञानादिस्वरूपलाभात्मिकामन्तरङ्गां समवशरणादिलक्षणां चक्रवर्त्यादि-विभूतिभूषितां वा बहिरङ्गलक्ष्मीं ददातीति श्रीदस्तम्, कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तम्—श्रीवृषभादिमहावीरान्त-चतुर्विंशतितीर्थंकरनिकायमिति यावत् । भक्त्या भक्तिपूर्वकं हर्षप्रकर्षपुरस्सरम् । नत्वा नमस्कारं कृत्वा; मूलधर्मोपदे-शकत्वात्तेषामेव प्रथमनमस्कारार्हत्वात् । तत्पश्चात् तदुपदेशानुसारेण स्वपरोपकारनिरतान् श्रीकुन्दकुन्दप्रमुखान् सूरिणो मुनीश्वरान् नत्वा । ततः श्रीकुन्दकुन्दादिस्वामिनिरूपितपरम्परायातसद्धर्मसाधकं श्रीमन्तं तपोनिधिं दक्षिण-प्रान्तविहारिणं स्वदीक्षागुरुम् आचार्यशान्तिसागरस्वामिनं तथोत्तरप्रान्तविहारिणं विद्यागुरुं श्रीसुधर्मसागरमाचार्य-मपि नत्वा । श्रद्धया सहिताः सम्यग्दर्शनादिगुणसम्पन्ना ये श्राद्धाः श्रावकाः तेषां सद्बोधहेतवे कर्तव्याकर्तव्यविषयेषु विवेकसम्प्राप्त्यर्थम् ॥ १ ॥ भुवि संसारे । सौख्यं ददातीति सौख्यदः । श्रावकाणां धर्ममार्गप्रकाशने प्रदीपरूपत्वात् 'श्रावकधर्मप्रदीपः' इत्यन्वर्थनामा अयं ग्रन्थः । स्वात्मन्येव तुष्टेन तृप्तेन सर्वविषयाभिलाषरहितेनेति यावत् । श्रीकुन्थुसागरसूरिणा । लिख्यते विरच्यते ॥ १-२ ॥

केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्वरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी तथा समवशरणादि स्वरूप या चक्रवर्ति आदि की विशेष विभूतिरूप बाह्य लक्ष्मी ऐसी दोनों प्रकार की लक्ष्मीको प्रदान करनेवाले तथा कर्म शत्रुपर विजय प्राप्त करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवको विनय व हर्ष सहित नमस्कार करके तत्पश्चात् उनके मार्गानुसारी श्रीकुन्दकुन्दादि आचार्योंको मुख्य लेकर भगवान् महावीर स्वामीकी परम्परामें चले आए हुए आचार्य वर्गको भी प्रणाम करके तथा इसके बाद दक्षिणप्रान्तमें विहार करनेवाले अपने दीक्षागुरु श्री आचार्य शान्तिसागर स्वामी तथा उत्तरप्रान्तविहारी स्वर्गीय विद्यागुरु श्री सुधर्मसागर आचार्यको भी सदाकाल प्रणाम करके श्रद्धागुणसम्पन्न होनेसे जिन्हें 'श्राद्ध' संज्ञा प्राप्त है ऐसे श्रावकों को उनके कर्त्तव्य अर्थात् करने योग्य तथा अकर्त्तव्य अर्थात् न करने योग्य कार्योंके विवेक की प्राप्ति के लिए श्रावकोंके धर्मको प्रकाशित करनेवाला दीपक की तरह यह 'श्रावकधर्मप्रदीप' नामक ग्रंथ विषयवाञ्छासे दूर परम वीतरागी निस्पृह अतएव स्वात्मसंतोषी श्री कुन्थुसागर आचार्य महाराजके द्वारा लिखा जा रहा है ॥१-२॥

गृहस्थ धर्माराधक ३ प्रकारके माने गए हैं—१ पाक्षिक, २ नैष्ठिक, ३ साधक। इनमेंसे पाक्षिक श्रावकों के स्वरूप जानने के लिए किसी शिष्य ने प्रश्न किया।

प्रश्नः—पाक्षिकश्रावकाणां किं चिह्नमस्ति गुरो वद ?

हे गुरुवर ! पाक्षिक श्रावकों की क्या पहिचान है। ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

पाक्षिकों का चिह्न—

(अनुष्टुप्)

अहिंसैव परो धर्मः स एको विश्वरक्षकः।
आचन्द्रं प्राणिनां चित्तेऽतस्तिष्ठतु सदा मुदा ॥ ३ ॥
तदन्यः केवलं पक्षो मिथः स्याद्वैरवर्धकः।
इत्येव निश्चयो यस्य विवेकी स च पाक्षिकः ॥ ४ ॥ युग्मम्

अहिंसेत्यादिः—पाक्षिकाणां स्वरूपं प्रतिपादयिष्यन्नाचार्यः परमधर्मस्वरूपायाः भगवत्या अहिंसाया महतीमुपयोगितां वक्ति—अहिंसा नाम सर्वप्राणिपीडापरित्यागः स एव एकोऽद्वितीयः विश्वस्य प्राणिमात्रस्य रक्षकः कल्याणकारकः परमोत्कृष्टो धर्मोऽस्ति। हिंसात एव अखिलसंसारस्य नाशो भवति; हिंसायाः स्वयं विनाशरूपत्वात् तद्विरुद्धस्वरूपाया अहिंसाया विश्वरक्षकत्वं सकललोककल्याणकारकत्वं च सुतरां सिद्धमेव। स परः पवित्रधर्मः प्राणिनां चित्ते मनसि सदा निरन्तरं मुदा हर्षेण आचन्द्रं चन्द्रस्य स्थितिर्यावत् संसृतौ वर्तते तावत्कालपर्यन्तम् सर्वकालम् इति यावत् तिष्ठतु निवसतु ॥ ३ ॥ यतः कारणात् सकललोकमङ्गलकारकत्वम् अहिंसायामेव तिष्ठति तस्मात् सा एव सर्वोत्तमां धर्मपद्धतिमास्कन्दति। पाक्षिकस्य इयमिच्छा सदा वर्तते यत्साऽहिंसा प्राणिनां हृदि सदैव स्यात् यया मम सर्वलोकस्य च मङ्गलं भवेत्। अहिंसाधर्मव्यतिरिक्तः हिंसारूपो धर्मोऽस्तीति असत्पक्षः प्राणिषु मिथः परस्परं केवलं वैरवर्धक एव। यः खलु कश्चिदपरं घातयति स इह जन्मनि असमर्थोऽपि जन्मान्तरे यदा शक्तिशाली भविष्यति तदा स्वपूर्वघातकं घातयिष्यति सोऽपि जन्मान्तरे शक्तिको भूत्वा तेन स्ववैरं निष्कासयिष्यति इति भाविजन्मपरंपरासु वैरपरंपरावर्धकत्वात् हिंसाधर्मः न स्वस्य कल्याणकारको भवति नापरस्य च। इत्येवंप्रकारो यस्य निश्चयः वर्तते स विवेकशील एव 'पाक्षिकः' इति कथ्यते ॥३-४॥

प्राणिमात्रकी हिंसासे दूर रहना ही अहिंसा धर्म है, वही सर्वोत्तम धर्म है। तथा उस अहिंसा धर्ममें ही लोककल्याण करनेकी परिपूर्ण शक्ति निहित है। इसमें किसी भी प्राणीको पीड़ा पहुँचाना

आदि जो-जो भी कार्य धर्मके नाम पर व्याख्यान किए जाते हैं वे केवल पक्ष मात्र हैं उनसे परस्परमें वैर ही बढ़ता है इसलिए अहिंसा परमधर्म जीवधारियोंके हृदयमें सदा काल निवास करे इस प्रकारका विचार जिसका हो वही विवेकी पुरुष पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

भावार्थ—प्राणियोंको उनके इष्ट अर्थात् वास्तविक सुखको जो प्राप्त करा दे उसे धर्म कहते हैं। अपनी कल्याण कामना करनेवाला हरएक जीव इसीलिए धर्मकी आकांक्षा करता है। धर्मका ही दूसरा नाम कर्त्तव्य है। जो इष्टकारक है वही तो कर्त्तव्य है। दुःखाभावको ही सुख कहते हैं। अनादिकालसे दुःखके सागर इस संसारमें भ्रमण करनेवाले प्राणीकी यह इच्छा स्वाभाविक है कि वह अब इस दुःखके सागरसे अपना उद्धार करे इसीलिए वह अपने कर्त्तव्य (धर्म) की खोजमें है कि कब वह उपाय हाथ लगे कि मैं दुःख से निवृत्त हो जाऊँ। हिंसा स्वयं दुखरूप है। परप्राणघातक मनुष्य स्वयं क्रोधादि बुरे परिणामोंके अधीन होकर दुःखी होता है और फिर दूसरेके प्राणोंको भी पीड़न कर दुःख पहुँचाता है। इसका फल यह होता है कि दोनोंमें परस्पर वैरका बंध होता है। न केवल इस जन्ममें, बल्कि जन्मान्तरोंमें भी। जो शक्तिशाली होता है वह अपने पूर्व जन्मके वैरीको दुःखी किए विना नहीं रहता और वह दुखी किया हुआ प्राणी भी उसी जन्ममें या जन्मान्तरमें शक्ति शाली बनने पर अपना वैर निकालता है। इसका फल यह होता है कि परस्पर वैरकी परम्परा उनमें चलती रहती है। यह तो एक प्राणीके साथ चलनेवाले वैरकी कथा है। यदि वह अनेक जीवोंसे हो तो फिर उस दुःख परंपराका कहना ही क्या? इसका सारांश यह हुआ कि जब हिंसा स्वयं विनाश शीलताके कारण अमर रहनेकी इच्छा रखनेवाले प्राणिमात्रके लिए दुःखरूप है तो उसके विरुद्ध तत्परित्यागरूप अहिंसा अवश्य ही सुखदायिनी होगी। यह अहिंसा यदि एक प्राणीके साथ व्यवहार में लाई जावे तो वह जैसे उसमें बन्धुत्वकी भावना उत्पन्न कर देती है उसी तरह यदि प्राणिमात्रके प्रति प्रयोगमें लाई जावे तो विश्वके सभी प्राणियोंमें बंधुत्वकी भावना जागृत कर सकती है। यही कारण है कि नीतिकारोंने उदार चरित महापुरुषोंके लिए सारे विश्वको ही कुटुंब मान लिया है। हमने यदि विश्वके प्राणी मात्रमें बंधुत्व भावना उत्पन्न कर ली है तो हम उनके प्रति हिंसक नहीं होंगे, साथ ही विश्वके वे सब प्राणी भी हमारे प्रति अहिंसक रहेंगे। इस तरह हम लोकके रक्षक और लोक हमारा रक्षक बन जाते हैं। यदि विश्वके समस्त प्राणी ऐसा ही विचार कर अहिंसा धर्म स्वीकार करलें तो यह निःसंदेह है कि विश्वमें युद्ध और कलहकी समाप्ति हो जावे। इससे यह बात सप्रमाण सिद्ध है कि अहिंसा ही विश्वकी रक्षा करनेमें समर्थ है। इसीलिए वही प्राणिमात्रके लिए श्रेष्ठतम धर्म है। मनुष्यको अपना कर्त्तव्य पथ दिखानेके लिए नाना धर्मोंकी सृष्टि मनुष्य समाजके ही अनेक व्यक्तियोंने कर ली है। सबका यह दावा है कि मेरा चलाया हुआ धर्म ही प्राणीको सुपथ पर ले जावेगा और उससे भिन्न धर्म कुपथ पर। इस प्रकारके भिन्न २ पक्ष केवल पक्षमात्र हैं। उनसे धर्मके नामपर पारस्परिक कलह बढ़नेके सिवाय कोई लाभ नहीं यह भी एक अर्थ श्लोकमें निहित है अतएव सर्व प्राणियोंके लिए अनुभूत और परीक्षित श्रेष्ठ धर्म अहिंसा ही है अतएव उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद है। पाक्षिक श्रावकके ऐसे विचार रहते हैं कि वह लोक कल्याणकारी धर्म मेरे हृदयसे कभी दूर न होवे। वह तब तक मेरे मनमें निवास करे जबतक संसार में चन्द्रमा स्थित है अर्थात् जिस तरह द्रव्य दृष्टि से चन्द्रमा कभी नाशको प्राप्त नहीं होगा उसी तरह यह अहिंसा परम धर्म भी मेरे मनसे कभी दूर न होवे॥ ३-४॥

प्रश्नः—सद्गुरोर्विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य वा ?।

प्रशस्तधर्मोपदेशक एव सद्गुरुः तस्य सम्बन्धे पाक्षिकस्य कीदृग्भावो भवति इति पृच्छति शिष्यस्तदा तं समादधात्याचार्यः—

सच्चा गुरु, जो कल्याणकारक मार्गको ठीक तरहसे बता सके, कौन है इस विषयमें पाक्षिक क्या समझता है ऐसे शिष्यके प्रश्न पर आचार्य उत्तर देते हैं।—

(इन्द्रवज्रा)

निर्ग्रन्थसाधुः सुखदः सदैव मान्योऽपि वन्द्योऽखिलविश्वशान्त्यै।
त्याज्यस्तदन्योऽखिलविश्ववैरी स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति ॥ ५ ॥

निर्ग्रन्थसाधुरित्यादिः—यस्य पुरुषस्य सद्गुरोर्विषयेऽनेन प्रकारेण निश्चयो वर्तते स एव पाक्षिकः श्रावकः। यत्- अखिलविश्वशान्त्यै सद्गुरुरेव माननीयः। लोकेऽस्मिन् पण्डितंमन्या बहवो वेषधारिण आत्मनो गुरुत्वं ख्यातयन्तः परिभ्रमन्ति किन्तु न ते सद्गुरवः। यः खलु परिग्रहाशाभ्यां त्यज्य केवलं परोपकारवृत्तित्वाच्छ-न्मार्गमुपदिशति स एव सद्गुरुः। स एव सद्गुरुः यः खलु निर्ग्रन्थः ग्रंथेन धनधान्यादिदशविधेन बाह्येन, बाह्या-ध्यात्मकेन चतुर्दशभेदेनान्तरङ्गेण च परिग्रहेण रहितो निःसंग इति यावत् तथा स एव सद्गुरुः यः खलु स्वपरोप-कारम् साधयति। तत्साधनमेव यस्य ध्येयं स साधुः। प्राणिनां कल्याणकारकमार्गप्रदर्शकत्वात् स एव सुखदो भवति स एव माननीयः वन्दनीयश्च भवति एवंभूतेनैव गुरुणा लोके पारस्परिकविरोधपरिहारेण शान्तिर्भवति। तद्भिन्नः खलु विषयाभिलाषी तदभिलाषसाधकः कुगुरुः स्यात्। कुगुरुः किल न केवलं स्वात्मानं नाशयति अपि तु अखिललोकान् स्वविषयाभिलाषपोषणाय कुमार्गं दर्शयन् तेषां शत्रुत्वं करोति अत एव स खलु विश्ववैरी। अनादिपरम्परया परिभ्रमन्तः प्राणिनः संसारदुःखादात्मनस्समुद्धारवाञ्छया धर्मोपदेशिनां सद्गुरूणां चरणाना-श्रयन्ति। मिथ्यागुरुः किल दुःखादुद्विग्नानां तेषां शिष्याणां वराग्यभावनया स्वार्थसाधनाय गुरुवेषमङ्गीकृत्य संसारमार्गभीतान् शिष्यान् कुमार्गे नयति अतएव स स्वपरकल्याणद्रोही विश्ववैरी एव। विश्वं कलहकारिणि दुःखात्मके विषयाभिलाषमार्गे परिभ्रामयन् तद्वैरित्वं दर्शयति अतएव च विश्ववैरी। अतएव सोऽवश्यमेव त्याज्यः ॥ ५ ॥

संसार में शान्ति-स्थापन करनेवाला परिग्रह और विषयाभिलाषासे रहित स्व-परोपकार-साधक साधु ही सदा माननीय व वन्दनीय सुखदाता होता है। इससे भिन्न संसारके दुःखोंसे उद्विग्न पुरुषोंको कुमार्ग में ले जानेवाला कुगुरु विश्वका वैरी है अतएव वह त्याग देने योग्य है ऐसा जिसके हृदयमें निश्चय है वह विचारवान् पाक्षिक श्रावक है।

भावार्थ—इस संसारमें अनादि परम्परासे नाना योनियोंमें परिभ्रमण करता और तरह-तरह के दुःख उठाता हुआ यह प्राणी जब अपने कल्याण मार्गके ढूँढ़नेकी अभिलाषासे धर्मका आश्रय पकड़नेके लिए फिरता है उस समय अपने स्वार्थके साधन करने की इच्छा रखनेवाले अनेक विषयाभिलाषी पुरुष उसे धोखा देकर भी स्वार्थ सिद्ध कर लेनेकी गरजसे गुमराह करते हैं। संसारो-द्धारक, परमवीतरागी, निस्पृह, विषयोंकी वांछासे दूर और धन-वैभवको लात मारकर आत्मशुद्धि के लिए तपस्याका मार्ग आश्रय करनेवाले सच्चे साधुओंके विशुद्ध मार्गको मलिन करनेवाले ऐसे बहुत से साधु हैं जो अपनेको उसी मार्गमें चलनेवाला घोषित करते बाह्यमें तदनुकूल वेष रखते हैं किन्तु अन्तरंगमें कपटका भाव रखते हुए धर्म मार्गमें जानेवाले उन प्राणियोंको व्यर्थ ही कुमार्ग में भटका देते हैं।

यह संसारी प्राणी मोह मदिरा पिए हुए वैसे ही इन्द्रियोंका दास है। उनकी आकांक्षाओंको पूरा करते-करते उसका जीवन ही समाप्त हो जाता है। विषयपूर्ति के लिए ही उसे देश-देश, वन-वन छान डालने पड़ते हैं। बड़ा से बड़ा जोखिम भी प्राणों की बाजी लगाकर वह उठा लेता है। उसके इस कार्य में यदि कोई विघ्नकारक हो तो उसे वैरी समझकर यह उससे कषाय करता है और कषाय के निमित्त से भी अनेकानेक पाप करता है। इन सब बातों से वह भी इतना परेशान है कि उसे स्वयं

कुछ मार्ग नहीं सूझता। वह चाहता है कि मैं उलझनों को सुलझा लूँ परन्तु जब सुलझाने जाता है तब एक न एक नई उलझनमें फँस जाता है। इसका कारण यह है कि उसने विपरीत मार्ग ग्रहण कर रखा है। दुःख-निवृत्ति का जो मार्ग है वह उसने नहीं पाया और दुखोत्पादक मार्ग को ही सुख का मार्ग समझकर भटक रहा है। पूर्व को जाने की अभिलाषा करनेवाला यदि मार्गभ्रष्ट होकर पश्चिम या उत्तर को चला जावे तो निरन्तर प्रयत्न और परिश्रम करने पर भी वह अपने ध्येय को नहीं पा सकता, इसी तरह विषय कषाय से परिपूर्ण मार्ग में भ्रमण करते हुए प्राणी को बहुत प्रयत्न करते हुए हो गया पर सुख नहीं मिला। शान्तिकी इच्छा रखनेवाला यह प्राणी जब दुःख दूर करनेवाले मार्ग की खोज में किसी मार्गदर्शक को ढूँढ़ता है तब अनेक वञ्चक उस विरक्त पुरुषका धन बटा लेने की गरज से परम-पवित्र धर्मोपदेश के मार्ग को मलिन करते हुए अपने को सद्गुरु घोषित करते हुए उसे भटका देते हैं। वे सारे विश्वके प्राणियोंके लिए धर्मोपदेशकका जामा पहिनकर भी स्वार्थमय उपदेश देकर विश्व का अहित करते हैं, इसीलिए उन्हें विश्व का वैरी कहना युक्तिसंगत है। जब तक यह मनुष्य उनको पहिचान कर उनका संसर्ग न छोड़ेगा तब तक उसे सुमार्ग प्राप्त न होगा। सुमार्ग प्राप्त करने की अभिलाषा करनेवाले को सद्गुरु की पहिचान करनी होगी। सद्गुरु वही है जिसे स्वयं विषयाभिलाषा न हो, कषायवान न हो, हिंसा के कारणभूत आरम्भ व परिग्रह से सर्वथा रहित हो ज्ञान ध्यान व तपस्या करना ही जिसका एकमात्र कर्तव्य हो। वह वही विश्व को शान्तिमय मार्ग बता सकता है। ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है वही पाक्षिक श्रावक है॥ ५॥

प्रश्नः देवस्य विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य मे ?

कोऽसौ देवः ? किं च तत्स्वरूपम् ? तत्सम्बन्धे पाक्षिकस्य मे कीदृग्भावो भवतीति पृष्टः सन्नाचार्यं प्राह।

देव कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? मुझ पाक्षिकको इस विषयमें कैसा भाव रखना चाहिए ? इस प्रश्न पर आचार्य उत्तर देते हैं—

(इन्द्रवज्रा)

श्रीवीतरागोऽपि हितोपदेशी. सर्वज्ञदेवोऽपि स एव योग्यः।
निर्दोषयोगादिति सर्ववन्द्यः, स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति॥ ६॥

श्रीवीतरागीत्यादिः— यस्मिन् प्राणिनि निर्दोषत्वं वर्तते स एव देवः। समासतो रागद्वेषौ एव दोषौ सर्वदोषाधायकत्वात्तयोरेव प्रमुखत्वम्। व्यासतस्तु जन्म-मरण-जरा-पिपासा-क्षुधा-खेद-मद-मोह-भय-चिन्ता-रोग-शोक-राग-वैर-विस्मय-अरति-स्वेद-निद्राः इत्यष्टादश दोषाः एतैरेव जन्तवः संसारे परिपीड्यन्ते। एभ्य एव मुक्तिः प्राणिनामभीष्टा। सैव च परमं सुखमिति। संसारज्वरोत्पन्नसंतापनिदानं परिज्ञाय येनैते दोषाः समुन्मूलिताः स वीतरागीति। वीतरागिण एव सर्वज्ञत्वमाप्नुवन्ति, ज्ञानस्वरूपत्वादात्मनः। दोषाभावे न कोऽपि बाधको यः किल आत्मनं स्वरूपप्राप्तिमार्गे रुन्ध्यात्। इत्यनेन प्रकारेण वीतरागत्वं सर्वज्ञत्वञ्च प्राप्नुवन् पुरुष एव प्राणिना हितकारकं मार्गम् उपदेष्टुं क्षमते, यतः स्वार्थवासनारहितानामेव परिपूर्णज्ञानिनां हितोपदेशकत्वं संभवति। अथवा प्राप्तपरिपूर्णस्वार्थानामेव निश्चयतः परोपकारकरणवृत्तिः संभवति। न खलु वीतरागत्वसर्वज्ञत्वयोः हितोपदेशित्वेनैव व्याप्तिः सर्वत्र, किन्तु यः किल यथार्थतया हितमुपदिशति तेन सर्वज्ञेन वीतरागेण च भवितव्यमेव, अन्यथा तस्य हितोपदेशित्वं न स्यात्। वीतरागत्वं सर्वज्ञत्वञ्चापन्नाः मूककेवलिनः निरुद्धयोगा अयोगकेवलिनः सिद्धपरमेष्ठिनश्च सन्ति ये नोपदिशन्ति, अतः परिपूर्णपदार्थग्राही द्वेषस्नेहादिदोषविनिर्मुक्तः एव जीवानां हितमार्गप्रदर्शने प्रभवति तथा स एव निर्दोषः स्यात् सर्वैरेवजनैर्वन्दनीयश्च स्यात्। एतदेव लक्षणं देवत्वस्य। इति गुणत्रयविशिष्ट एव देवः इति यस्य हृदि निश्चयो वर्तते स किल पाक्षिकः समस्ति॥६॥

राग द्वेषादि १८ दोषरहित वीतरागी तथा परिपूर्ण केवलज्ञानको प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ही हितका उपदेश देनेके योग्य है इस तरह वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी इन गुणों सहित होना ही देवका सच्चा लक्षण है। जिसमें ये गुण नहीं वह देव कहलाने योग्य नहीं। सच्चा देव निर्दोष होनेके कारण ही जगत्पूज्य होता है ऐसा जिस गृहस्थको निश्चय है वह पाक्षिक है।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी आदर्शको सामने रखकर ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है बिना ऐसा किए उसे इष्टसिद्धिके लिए मार्ग ही नहीं मिलता। संसार परिभ्रमणके दुःखसे दुखी प्राणी जब धर्मके मार्गमें आता है तब यह देखता है कि इस मार्ग पर मेरे पूर्व चलनेवाले सज्जन कौन हैं और उनमें क्या-क्या गुण थे? धर्म मार्गके आदर्श पुरुष ही 'देव' संज्ञाको प्राप्त करते हैं इसलिए उन्हें 'देव' नामसे ही सम्बोधित किया है।

'देव' संसार के दुःखों से पार हो चुके हैं, हमें भी पार होना है इसलिए अपने इस उद्देश्य की पूर्तिके लिए हमें 'देव' की शिक्षा ग्रहण करनी होगी। दुनियाके दूसरे-दूसरे विभागोंकी तरह इस विभागमें भी अपनेको 'देव' बनानेवाले व्यक्ति बहुत हैं जो हमें अपने उपदेशके अनुसार चलने को बाध्य करते हैं। यहाँ हमें यह देख लेना आवश्यक है कि इनमें सच्चा देव कौन है जिसे आदर्श मानकर हम उसकी शिक्षा ग्रहण कर अपना कल्याण कर सकें। उस देवका स्वरूप या उसकी पहिचान यही हो सकती है कि हम जिन राग-द्वेष-मद-मोह आदि १८ दोषोंसे परिपूर्ण हैं और दुखी हैं, उस देवमें ये दोष न हों। हम जिस अपरिपक्व ज्ञान, जिसे अज्ञान कह देना भी अनुपयुक्त नहीं, के कारण भी मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। उस देवमें यह दोष भी न हो वह परिपक्व पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) हो। तथा सर्व प्राणियोंके हितकी भावनाके संस्कारसे जिसका उपदेश होता हो। इन ३ गुणोंसे जो सहित है वही 'देव' पदके योग्य है, वही निर्दोष होनेके कारण विश्व-वंद्य है और वही दोषविजयी होनेसे 'जिन' कहलाता है। पाक्षिक गृहस्थके हृदयमें 'देव' के सम्बन्धमें उक्त विचार निश्चित रहते हैं। वह इन गुणोंसे रहित व्यक्तिको देव नहीं मानता। उसे दुःखोन्मोचनके मार्गमें साधक न मानकर बाधक ही समझता है इसलिए उससे दूर रहनेका सदा ध्यान रखता है इस विचारसे कि कहीं मैं भुला न दिया जाऊँ कि जिससे वास्तविक मार्गसे दूर हो जाऊँ॥ ६॥

प्रश्नः—शास्त्रस्य विषये कीदृग्भावोऽस्ति पाक्षिकस्य मे ?

धर्मोपदेशने शास्त्राणामपि महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते इति तस्य किंलक्षणम् तद्विषये मे पाक्षिकस्य कीदृग्विचारः कार्य इति प्रश्ने उत्तरयति—

धर्मोपदेशके कार्यमें शास्त्रोंका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है इसलिए शास्त्रके सच्चेपनकी क्या पहिचान है इस संबंधमें मुझे क्या विचार रखना चाहिए ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

(इन्द्रवज्रा)

बोधप्रदं वैरहरं मिथः कौ श्रीदं जिनोक्तं हि सदेति शास्त्रम्।
आचन्द्रसूर्यं पठितुं प्रमाणं स्यान्निश्चयो यस्य स पाक्षिकोऽस्ति॥ ७॥

बोधप्रदमित्यादिः—जिनोक्तम् उक्तलक्षणगुणविशिष्टेन जिनेन उक्तं समुपदिष्टम् बोधप्रदम् अज्ञान-निवृत्तिपूर्वकं सम्यग्ज्ञानसंपादकम् श्रीदं श्रियम् अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्ष्मीम् शोभाञ्चददातीति श्रीदम्। शास्त्र-ज्ञानेन जीवानां स्वपरभेदज्ञानं भवति तदेव तस्य शोभा। अथवा शास्त्रोपदिष्टमार्गमनुसरन् संसारी संसारस्थ-देवेन्द्र नागेन्द्र-नरेन्द्र तीर्थकरनारायणादिपर्यायसंभवविभूतिविशेषानप्यवाप्नोति स्वपरविभेदपूर्वकम् अनन्तज्ञान-

दर्शनसुखाद्यात्मकस्वापूर्वसंपत्तिं च प्राप्नोति इति शास्त्रं श्रीदम्। उक्तगुणद्वयविशिष्टमेव शास्त्रं कौ पृथिव्यां सर्वप्राणिनां पारस्परिकं वैरमपहरति यतः पारस्परिकमैत्रीसमुत्पादने शास्त्राणामेवोपयोगदर्शनात् तदेव च सच्छास्त्रम्। वैरविरोधवर्धकत्वात् अहितमार्गप्रदर्शकत्वाच्च शेषमसच्छास्त्रम् इति यावत्। आचन्द्रसूर्यं यावच्चन्द्र दिवाकरौ सच्छास्त्रं पठितुं प्रमाणम्। इत्थं शास्त्रस्य विषये यस्य निश्चय. स च पाक्षिकोऽस्ति।।७।।

सच्चे देवका उपदेश ही सच्चा शास्त्र है उसकी पहिचान यह है कि वह अज्ञान निवृत्ति कर जीवोंको वास्तविक बोध देता है। लोक व परलोकमें लक्ष्मीको देनेवाला अर्थात् बाह्यसंपत्ति व ज्ञानसंपत्तिको बढ़ाने वाला होता है साथ ही वह ऐसा होता है कि जिसे सुनकर पृथिवीके प्राणी अपना पारस्परिक वैर छोड़कर प्रेम व सहानुभूतिके मार्ग पर उतर आवें ऐसे शास्त्र सदाकाल जबतक दुनियांमें सूर्य और चन्द्रमा हैं पठन पाठनके योग्य प्रमाणीभूत हैं।

भावार्थ—इस लोकमें शत्रुओंको परास्त कर अपना राज्य वैभव व सम्पत्तिकी रक्षा कर लेने के लिए जैसे शस्त्रकी उपयोगिता है उसी तरह अपने दुर्गुण रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेके लिए शास्त्रकी भी आवश्यकता है। शास्त्रकी प्रमाणताकी छाप लोगोंके हृदयों पर बराबर अङ्कित है। वेद-स्मृति-पुराणादि सब शास्त्रके नामसे पुकारे जाते हैं और उनका उपदेश ही लोकमें ग्राह्य माना जाता है। मुसलमान भाइयों और ईसाइयोंके यहाँ भी कुरान और बाइबिलके नामसे शास्त्रोंकी प्रमाणता सिद्ध है। हरएक सम्प्रदायका व्यक्ति किसी विवादग्रस्त विषयको सुलझानेके लिए यह खोज करता है कि इस विषयमें धर्मकी पुस्तक क्या कहती है। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रकी प्रमाणताकी छाप हर सम्प्रदायके व्यक्ति-व्यक्ति पर अंकित है। इसका कारण यह है कि सम्यग्धर्मोपदेष्टाका मूलतः अभाव होनेके कारण लोग उन प्राचीन पुस्तकोंको देखकर निर्णय करना चाहते हैं जिनको जमानेका परिपूर्ण अनुभव करके आजसे सदियों पहिले लोग लिख गए हैं। अथवा वे मानते हैं कि वह ईश्वरीय पुस्तक है या उसकी देन है या उसका उपदेश है। सारांश यह है कि ईश्वर या 'देव' के विषयमें लोगोंको जितना आदर है उतना ही आदर उसकी वाणीके प्रति भी है। इससे यह बात सहज सिद्ध हो जाती है कि शास्त्र वही प्रमाणीभूत है जो परमवीतरागी, निस्पृह, पूर्णज्ञानी, और परोपकारी इन गुणोंसे परिपूर्ण व्यक्ति द्वारा उपदेशित किया गया हो। वचनकी प्रामाणिकता वक्ता की प्रामाणिकतासे है। प्रत्येक व्यक्ति इतनी सामर्थ्य नहीं रखता कि वह उपदेशित विषयकी सत्यता असत्यताकी परीक्षा स्वयं कर सके। इसके लिए भी तो महान् ज्ञान गंभीर अध्ययन व अनुभवकी आवश्यकता है जो कि प्रत्येक व्यक्तिमें सम्भव नहीं अतएव किसी भी वचनकी प्रामाणिकताके सम्बन्धकी परीक्षाका मापदण्ड वह व्यक्ति होता है जिसने उक्त वचन कहा हो। यदि वक्तापूर्ण ज्ञानी है तो यह निश्चय कर लिया जा सकता है कि वह वस्तुका स्वरूप बतलानेमें भूला नहीं होगा अज्ञानी या अपूर्णज्ञानी कितना भी परोपकार दृष्टिवाला स्वार्थ-वासनारहित हो पर उसके कहनेमें ज्ञानकी कमीके कारण भ्रम होना नितान्त सम्भव है इसलिए वक्ताको पूर्णज्ञानी होना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि किसी वस्तुका वास्तविक ज्ञान रखनेवाला भी व्यक्ति यदि परोपकरण वृत्तिवाला नहीं है तो वह क्यों किसीको हित मार्गका उपदेश करेगा? यह कार्य वही करेगा जिसे यह भावना हो कि अज्ञानताके कारण संसारके जो प्राणी भटक रहे हैं उनको सन्मार्ग सुझाया जावे ताकि वे दुःखके मार्गसे दूर होकर अपने को सुखी बना सकें। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि उस वक्ता को पूर्णज्ञानीकी तरह परोपकार वृत्तिवाला भी होना आवश्यक है। परोपकारी व ज्ञानी पुरुष भी यदि किसीके प्रति स्नेह और किसीके प्रति विरोधी भावना रखनेवाला होगा तो भी उससे जनता का यथार्थ हित न हो सकेगा वह अपने स्नेह भाजन व्यक्तियोंको हितकारक मार्ग अवश्य बतायगा पर जिनके प्रति विद्वेष की भावना होगी उसे तो विरुद्ध मार्ग ही बतायगा। लोकमें ऐसी घटनाएँ

सदा देखनेमें आती है इसलिए वक्तामें पूर्णज्ञानित्व और परोपकारवृत्तित्वकी तरह वीतरागद्वेषित्व अर्थात् स्नेह और वैर रहितत्व सर्व-जीव-समभाव होना यह गुण भी आवश्यक है। परोपकारवृत्ति उन्हीं पुरुषोंकी होती है जिन्हें जीवमात्र पर समभाव होता है। उसे भेद-भावकी भावना दूर रखना पड़ेगी। मान लो एक आदमी सड़क पर बीमार और दुखी पड़ा है, ठंडके मारे अकड़ रहा है, यद्यपि उसके पास ओढ़नेको कम्बल है तो भी वह बेहोश होनेके कारण उससे अपना शरीर नहीं ढाँक सकता। ऐसे समय परोपकारवृत्तिवाला गृहस्थ वही हो सकता है जो उस पर अपने भाई बन्धुओं की तरह समभाव रखता हो—वही व्यक्ति उसे कम्बलसे ढक देगा, औषधिका उपचार करनेके लिए यदि वह स्वयं वैद्य (जानकार) न होगा जो कि पूर्ण परोपकार कर सकनेके लिए उसे होना चाहिए तो किसी योग्य जानकार व्यक्ति का जो वैद्य हो संयोग जोड़ेगा। स्वयं घर लाकर उसकी खुशामद करेगा और उसे चंगा कर देगा। जो इतना नहीं कर सकता तो समझना चाहिए कि अभी उसके सर्व जीव समभाव नामक वृत्ति पैदा नहीं हुई। अभी उसे स्वजन और परजनका भेद है, एकसे स्नेह और अपरसे स्नेहाभाव है। यदि उसके ऐसा भाव न होता तो वह वीतराग और वीत-द्वेष समझा जाता और वह परोपकारी होनेका दावा कर सकता था। इससे यही सिद्ध होता है कि वक्तामें उक्त गुण यदि हों तो ही उसके वचनोंमें प्रमाणता आ सकेगी अन्यथा नहीं, इसलिये सर्वसाधारण पुरुष जो स्वयं तत्त्व-परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं वे वक्ताको गुणवान् देखकर ही उपदेशकी उपयोगिता या अनुपयोगिताको स्वीकार कर लेते हैं इसलिए सच्चे शास्त्रकी परीक्षाका पहिला चिह्न है कि वह वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी 'देव' या 'जिन' के द्वारा कहा गया हो ॥ ७ ॥

दूसरा विशेषण यह है कि सच्चा शास्त्र वह है जो बोधप्रद हो अर्थात् वास्तविक बोध कहिये ज्ञान उत्पन्न करानेवाला हो। इस विशेषणकी आवश्यकता इसलिए हुई कि सदा सर्वज्ञ परमात्मा संसारमें स्थित नहीं रहते वे तो लोकोपकारक उपदेश देकर मुक्ति दशाको प्राप्त हो जाते हैं। फिर हजारों वर्षोंके बाद सर्वसाधारण जनता कैसे निर्णय करके कि यथार्थतया उस परमात्माका उपदेश कौन शास्त्रमें लिखा है, क्योंकि परमात्माके मुक्ति गमनके बाद अपनेको परमात्मा प्रसिद्ध करनेवाले भी अनेक व्यक्ति होते आये हैं और उन्होंने भी जनताके हितका दावा करते हुए पुस्तकें लिखी हैं। उनमें कौन सत्य हैं कौन नहीं इसका निर्णय कैसे होगा? इसका निर्णय करनेके लिए हमें अब केवल वक्ता की प्रामाणिकता से वस्तु की प्रामाणिकताकी बात भुलानी होगी और इसकी परीक्षा करनी होगी कि ईश्वरके उपदेश के बाद जो परम्परा चली आई है किन्तु अनेक अहम्मन्य हितोपदेशियोंके विभिन्न उपदेशोंमें मिलकर पहिचानने में नहीं आती आखिर उसकी पहिचान कैसे होगी? उसकी पहिचान होगी उपदेशित तत्त्वकी परीक्षासे। वह परीक्षा ही ग्रंथकर्त्ता आचार्यने 'बोधप्रद' विशेषण द्वारा प्रकट की है। यह देखना होगा कि हमें किस शास्त्रके अध्ययनसे बोध अर्थात् वस्तुका यथार्थ ज्ञान होता है? वस्तु का यथार्थ ज्ञान क्या है इसका निर्णय भी सर्वसाधारणका कार्य नहीं। इसलिए उसकी कसौटी "कौ मिथः वैरहरं" इन शब्दोंमें आचार्य महाराजने प्रतिपादित की है अर्थात् जिस शास्त्रका उपदेश हमारे परस्पर कलह, वैर, विरोध, ईर्षा, डाह आदिको छुड़ाकर प्रेम व सहानुभूतिका पाठ पढ़ावे समझ लो कि वही शास्त्र सच्चा शास्त्र है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि पहिले राग-द्वेषरहित होना ही श्रेष्ठ बताया गया था और अब केवल वैर छोड़कर परस्पर अनुरागका उपदेश कैसे दिया गया? उसका समाधान यह है कि त्यागके मार्गमें भी कुछ क्रम है। पहिले द्वेषका त्याग होगा, द्वेषका त्याग करके सर्व जीवों पर स्नेह भाव रखना यह वीतरागी बननेकी पहिली सीढ़ी है। जिसने द्वेष भाव पर विजय प्राप्त कर ली और सबसे स्नेह करने लगा वह व्यक्ति भी जबतक अपने स्वार्थसाधक व्यक्तियोंको स्वजन मानकर अधिक स्नेह और शेष पर केवल द्वेषाभाव मात्र स्नेह रखता है तबतक

वह पूर्ण वीत-द्वेष नहीं कहा जा सकता। उसे अभी अपने स्नेहको बखेरनेमें उदारतासे काम लेना होगा। जब वह ऐसा कर सकेगा और "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्तका परिपूर्ण अनुयायी हो जायगा तब समझा जावेगा कि वह पूर्ण वीतरागी हुआ। सच्चा शास्त्र पारस्परिक कलहोत्पादक उपदेशकी रचना नहीं कर सकता। यह सुनिश्चित है कि वक्ताके हृदयका भाव उसके वचनोंमें अवश्य अंकित हो जाता है। अपने भावोंको दूसरोंको समझानेके लिए ही तो मनुष्यको शब्दोंका आश्रय लेना पड़ता है। तब यह कैसे संभव हो सकता है कि हितोपदेशी वीतरागी सर्वजीवसमभावी सर्वज्ञ भगवान्के वचनोंमें पारस्परिक वैरको दूर करनेवाला उपदेश न हो? इससे यह सिद्ध है कि सच्चा शास्त्र वही है जो जिनोक्त हो और उसकी परीक्षा यही है कि वह हमारे पारस्परिक कलहको जो सम्प्रदायभेदके कारण भी उत्पन्न हो जाती है उसको प्रोत्साहित करे। बल्कि जो मत विभिन्नताको दूर कर सर्वहितकारी कर्त्तव्योंकी ओर प्राणिमात्रका ध्यान आकर्षित करे।

प्रायः देखा जाता है कि अपने विषयको प्रतिपादन करनेके लिए और उसका प्रभाव जनता पर जमानेके लिए लोग आत्म-प्रशंसा व परनिन्दा इस पद्धतिको अंगीकार कर लेते हैं। परन्तु सच्छास्त्र इसे दोष ही बताते हैं। इसे निन्दनीय तथा नीच गोत्रका बंध करानेवाला अर्थात् उसे इस लोकमें नीच विचारवाला घोषित ही नहीं करते, बल्कि जन्मान्तरमें भी ऐसे व्यक्तिको नीच विचारवाला लोक निन्द्य होगा ऐसा घोषित करते हैं। आत्म-प्रशंसा और परनिन्दाकी पद्धति ही परस्परमें वैरका बीज बोती है। यह सच है कि किसी भी व्यक्तिको अपने मतको प्रतिपादन करनेके लिए उसके गुण और अपने मतविरुद्ध विषयके दोष कहने पड़ेंगे। इसके बिना वह अपने इष्ट तत्त्वका स्वरूप ठीक-ठीक लोगोंको नहीं बता सकता। तथापि सच्चे शास्त्रका उपदेश वस्तुके गुण दोषोंका ही विवेचन करता है। किन्तु निन्दात्मक पद्धतिसे किसी व्यक्तिको जनताकी दृष्टिमें गिरानेका प्रयत्न नहीं करता। बल्कि तत्त्वमार्गसे भूले हुए विभिन्न मतके व्यक्तियोंको भी अपने कल्याण-मार्गको स्वीकार कर लेनेके लिए उत्साहित करता है। ऐसा जिस शास्त्रका उपदेश है वही शास्त्र सदाकाल स्वाध्यायके योग्य है। ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है वही गृहस्थ पाक्षिक है॥ ७॥

प्रश्नः—**स्वाचारवृत्तिविषये खलु पाक्षिकस्य कीदृग्गुरो भवति मे वद तस्य भावः।**
पाक्षिकश्रावकस्य विशेषाचारणप्रवृत्तेः स्वरूपं कीदृगस्तीति प्रश्नः।
गुरुवर! अपने आचरणके बारेमें पाक्षिक श्रावकके कैसे विचार होते हैं?

(उपजातिः)

भोगोपभोगाद्विषमात् प्रमोहात्तथा त्रसस्थावरजीवघातात्।
न स्याद्विरक्तिस्तदपि प्रवीरो धर्मादिकार्येऽस्ति सदैव दक्षः॥८॥

भोगोपभोगादित्यादिः—चारित्रावरणकर्मोदयविशेषेण पाक्षिकस्य प्रवृत्तिर्न हि विरतिरूपा भवति। सकृद्भोगयोग्यभोजनगन्धमाल्यादिभोगात् तथा असकृद्धुपभोगयोग्यशयनासनाद्युपभोगात्तस्य काचिदपि विरक्तता नास्ति। त्रसस्थावरजीवघातबाहुल्येष्वपि व्यापारवाणिज्यादिकर्मसु धनगृहादिपदार्थेषु च अत्यन्तमोहसद्भावादेव तस्य प्रवृत्ति र्वर्तते, ततो न तत्र तस्य विरक्तिस्सञ्जायते, तथाऽपि पाक्षिकः शुभप्रवृत्त्यात्मके धर्मप्रभावके कार्ये सदैव दक्षः पटुः सोत्साह इति यावत् भवति। अतः स प्रवृष्टो वीरो विघ्नशतेष्वपि स्वधर्म-प्रभावनादिपुण्यकार्येभ्यो न कदापि परावर्तते॥ ८॥

पाक्षिक श्रावककी प्रवृत्ति चारित्रमोहनीय कर्मकी विशेषताके कारण यद्यपि भोग योग्य और उपभोग योग्य पदार्थोंके त्यागरूप नहीं होती। त्रसस्थावर जीवोंका जिनमें विशेष घात होता है ऐसे व्यापार वाणिज्यादि कार्यों से भी लोभ की विशेषता वश वह विरत नहीं होता तो भी धर्मके प्रत्येक कार्यके करनेमें उसका उत्साह सदा बढ़ता रहता है।

भावार्थ—यथायोग्य त्रसस्थावर जीवोंकी रक्षा करना और भोगोपभोगको कृश करना यही गृहस्थों का चारित्र है। यद्यपि इस त्याग का भी क्रम है। अक्रमसे एक ही साथ सब त्याग नहीं होता। श्रावक की एकादश प्रतिमाके रूपमें यही क्रम वर्णित है। तथापि जो श्रावक अभी पाक्षिक अवस्थामें है और त्यागके उस क्रमको स्वीकार नहीं कर सका है, उसके न तो भोगोपभोगकी वांछा ही घटी और न भोगोपभोगके लिए आवश्यक धनकी मूर्च्छा ही घटी। यही कारण है कि धनकी प्राप्तिके लिए उन कार्योंसे, जिनमें त्रसस्थावर जीवोंका विशेष घात होता है, वह विरक्त नहीं होता, बल्कि भयंकर मोह की परणति वश ऐसे वाणिज्यादि कार्यों में उसकी विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है। फिर भी इन कार्यों को वह आत्महितकारक नहीं मानता। इतना ही नहीं बल्कि त्यागरूप पुण्य कार्योंको उत्तम मानता है। समयानुसार अपनी प्रवृत्ति पर और धर्मके स्वरूप पर जब कभी विचार करता है तब अपनी प्रवृत्तिकी निन्दा भी करता है और धर्म प्रभावनाके कार्योंको करनेमें सदा उत्साहशील रहता है, कभी प्रमादी नहीं होता। पाक्षिक शब्द का सीधा अर्थ है—जिसे धर्मका पक्ष हो! यही कारण है कि पाक्षिक श्रावक धर्मका कभी अपमान नहीं सह सकता, भले ही वह धार्मिक प्रवृत्तियों और आचरणोंके यथाविधि पालन करनेमें स्वयं समर्थ न हो सके तो भी वह धार्मिक प्रभावना तथा उसपर आनेवाले सैकड़ों विघ्न बाधाओंसे रक्षा करनेमें कभी पीछे पैर नहीं रखता फिर भले ही ऐसे अवसर पर उसे अपने जीवन भर की कमाई खो देनी पड़े, लाड़ प्यारसे पाले गए अपने शरीरको कठोर यातनाओंमें फंसा देना पड़े।

पाक्षिक श्रावक धर्म-भवनकी सम्पत्तिकी रक्षा करनेवाला सच्चा सैनिक है। वह कर्त्तव्यशील होता है। पाक्षिक श्रावकके प्रायः कषायोंकी प्रबलताके कारण यद्यपि चारित्र अत्यल्प होता है तथापि उन्हीं कषायोंकी शुभ प्रवृत्तिकी प्रबलताके कारण अवसर आनेपर वह अपना सर्वस्व त्याग देनेमें भी नहीं चूकता। वह धर्मरक्षाके लिए केवल वीर ही नहीं होता दक्ष भी होता है। किस पद्धतिसे धर्म रक्षा होगी इसका विचार करनेमें उसकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र होती है। कदाचित् पाक्षिकाचारका आचरण करनेवाला यदि निर्धन होता है तो धर्म-रक्षामें अपना तन लगा देता है। यदि मध्यम श्रेणीका होता है तो अपना तन और धन दोनों लगा देता है और यदि सम्पन्न होकर शक्तिशाली होता है तो अपनी सम्पूर्ण संपत्ति और वैभवको भी लात मारकर अपने जीवनका मूल्य धर्मकी रक्षामें ही आँकता है। यह पाक्षिक की प्रवृत्ति है जो सदा स्पृहणीय मानी गई है॥ ८॥

प्रश्नः— **पाक्षिकस्य प्रवृत्तिस्तु धार्मिका कीदृशी वद ?**

धर्मकार्येषु दक्षोऽपि पाक्षिकः अत्यल्पाचारमप्याचरन् किमाचारमाचरति ?

पाक्षिक श्रावककी धार्मिक प्रवृत्ति कैसी होती है ?

(उपजातिः)

सद्धर्मसंस्कारवशाद्धि येन यज्ञोपवीतोऽपि धृतस्त्रिरक्षः
दानार्चनादौ च कृता प्रवृत्तिः स पाक्षिकस्स्यात्सुखशान्तिमूर्तिः ॥९॥

सद्धर्मसंस्कारवशादित्यादिः—पाक्षिकस्तु सर्वोत्कृष्टवीतरागद्वेषस्वरूपात्मधर्मस्य पुनःपुनर्भावनया आत्मोद्धारक-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रितयात्मकं धर्मं धारयिष्यन् तच्चिह्नस्वरूपम् सूत्रत्रितयात्मकं कण्ठसूत्रं धारयति । तत्तु यज्ञादिपुण्यकर्मपूर्वकं धारयति । तस्मात्तद् "यज्ञोपवीतः" इति कथ्यते । यज्ञोपवीतस्य स्वरूपं तद्धारण-पद्धतिश्च ग्रन्थान्ते प्रतिपादयिष्यते । यज्ञोपवीतधारकस्य तस्य पाक्षिकस्य देवोपासनायां शास्त्राणां सद्विनया जैनरक्षणेषु गुरूणां सेवायां च प्रवृत्तिर्निरन्तरा भवति । स च सदा सुखी शान्तश्च भवति ॥६॥

पाक्षिक श्रावक सर्वोत्कृष्ट धर्मकी भावनाके निमित्तवश सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप धर्मको आत्मकल्याणकारी समझकर उसे धारण करनेकी इच्छासे रत्नत्रयस्वरूप धर्मके चिह्न रूप तीन सूतवाले यज्ञोपवीत (जनेऊ) को धारण करता है। उसकी प्रवृत्ति सदा देवकी उपासनामें, शास्त्रोंके संग्रह विनय और संरक्षण करनेमें तथा सद्गुरुओंकी सब प्रकारकी सेवा करनेमें ही रहती है। वह सदा शान्तस्वभावी होता है और इसीलिए सुखी रहता है।

भावार्थ—पाक्षिक श्रावकके दो धर्म मुख्य हैं। उनमें प्रथम धर्म है पूजा अर्थात् वीतराग भगवानकी उपासना। पाक्षिक श्रावक संसारके दुःखोंको पार करके निर्वाणके सुखका आस्वादन करनेवाले अपने आदर्श प्रभुकी पूजा करता है। केवल इनकी ही पूजा नहीं करता है किन्तु उनके उपदेश दिए हुए आत्म-कल्याणकारक वचनोंके संग्रहस्वरूप शास्त्रोंकी रक्षा करता है, उनका संग्रह करता है तथा विनय और श्रद्धापूर्वक उनका पठन-पाठन करता है। वह स्वयं देवोपासनाके लिए देव-मन्दिरका निर्माण, देवमूर्तिकी स्थापना व प्रतिष्ठा करता है। सरस्वती भण्डारोंकी स्थापना व रक्षा करता है। ज्ञानके आराधक सद्गुरुओंका सत्कार करता है। उनकी आज्ञानुसार चलता है। आहार, औषधि और पुस्तकादिके दानके द्वारा उनकी सेवा करता है। विद्या-प्रचारके लिए योग्य पुरुषोंका यथायोग्य विनय और उनकी धनादिक द्वारा सेवा करता है। उनके कष्ट व चिन्ताको दूर कर उन्हें ज्ञान-प्रचारके कार्योंके करने योग्य बनाता है। विद्यालय खोलकर धार्मिक विद्याके अभिलाषी छात्रोंको आहारादिकी सहायता देता है। सद्धर्मोपदेशक पुस्तकोंको जनताके हितके लिए प्रकाशित करता है तथा अपने धनका व्यय करके उन्हें सर्वसाधारण जनताके हाथों तक पहुँचाता है। इस तरह वह देव, शास्त्र और गुरुओंकी साथ ही देवोपासक, शास्त्राराधक और सद्गुरुओंके सेवक पुरुषोंकी यथायोग्य विनय और सेवा करता है। यह पाक्षिकका पूजा-धर्म है।

दूसरा धर्म है दान—दान अपने स्वार्थके त्यागको कहते हैं। चाहे वह त्याग धनका हो, आहारादि सामग्रीका हो, अपने विषयोंका हो या कषायोंका हो। जिन वस्तुओंको हमने अपना रखा है, उनका यदि परोपकारवृत्तिसे त्याग करना आवश्यक हो तो पाक्षिक श्रावक उनके त्यागके लिए तैयार रहता है। इसका खुलासा यह है कि धर्माराधक उत्तम पात्र मुनि (साधु), दूसरे दर्जेमें अल्प आचरण करनेवाले गृहस्थ धर्मात्मा और तीसरे दर्जेमें श्रद्धालु गृहस्थ इनको यथायोग्य उनकी आवश्यकतानुसार आहार व रोग-पीड़ित होनेपर औषधिकी व्यवस्था करता है। गृहस्थ यदि आजीविकाके साधनोंसे रहित हो तो धनादिकी सहायता देकर आजीविकामें लगाता है। दीन, दुखी और दरिद्रीको देखकर उनका कष्ट दूर करनेके लिए यदि आवश्यकता हो तो अपने भोगयोग्य विषयोंका भी त्याग कर उनका कष्ट दूर करता है। उक्त सुपात्र व करुणापात्रोंकी सेवाके लिए यदि किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा

हो तो उसे प्राप्त करनेके लिए स्वयं मानादि कषायका त्याग करके भी उसे प्राप्त कर लेता है। सेवाधर्मको अपना प्रधान लक्ष्य बनाकर धर्म-सेवा, धार्मिक-सेवा, समाज-सेवा, जाति-सेवा, ग्राम-सेवा, देश-सेवा और राष्ट्र-सेवामें लगा रहता है। तात्पर्य यह कि गृहस्थके करने योग्य आवश्यक कार्य पाक्षिक करता है। इनके लिए वह अपने इन्द्रिय भोग्य विषयोंका त्याग करके भी कष्ट सह लेता है। पाक्षिक श्रावक प्रत्येक सेवा-कार्यको क्रोध व अभिमानका त्याग कर स्वार्थवासनासे रहित होकर निष्कपट सरल वृत्तिसे अपना धर्म समझकर करता है। यह उसका दान नामक दूसरा धर्म है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके आराधक जो पुरुष संसारकी निवृत्तिके मार्गमें लगे हुए हैं वे ही दानके योग्य सर्वोत्कृष्ट पात्र माने गए हैं। इसीसे साधुओंको उत्तम पात्र कहा है। उसके बाद जो जितना अधिक उत्तम चारित्रके आराधक हैं वे उतने ही योग्य पात्र हैं। पात्रदान गृहस्थका प्रथम कर्तव्य है। पात्रोंके सिवाय जो अन्य व्यक्ति हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, कीड़े-मकोड़े हैं और एकेन्द्रियादि जीव हैं वे भी आवश्यकतानुसार सेवा योग्य हैं। पाक्षिक श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार सबकी सेवा करता है। सेवा कार्यके लिए उक्त क्रम है। क्रमका त्याग कर की हुई सेवा लाभदायक नहीं होती। उससे दाताका अविवेक प्रगट होता है। किन्तु उसका विवेकी होना अत्यावश्यक है।

उक्त प्रकारका दान और सेवाके कार्य स्वार्थवासनासे रहित होकर परोपकारके निमित्त हो तभी प्रशंसा योग्य हैं। अनेक भाई लोकमें कीर्ति-प्रशंसाकी इच्छासे, अपना नाम बनाये रखनेकी गरजसे, देश-सेवकों, समाज-सेवकों या दातारोंमें नाम गिनानेकी इच्छासे सेवा या दान करते हैं, किन्तु वह दान या सेवा उत्तम दर्जेकी न होकर हीन कोटिकी मानी गई है। वह एक प्रकारका व्यापार है। जिस तरह लोग कष्ट सहकर भी पैसा कमा लेते हैं उसी तरह वह कष्ट सहकर भी कीर्ति कमा लेना चाहता है। पैसा कमानेवाले की अपेक्षा यद्यपि उसका स्वार्थ कम है तथापि इस प्रकारका दान या सेवा वास्तविक दान या सेवा नहीं है।

अनेक सज्जन इसलिए भी कीर्ति कमानेके लिए उक्त कार्य करते हैं कि इससे दानियों या नेताओं की श्रेणीमें बैठकर लोगोंसे अच्छी कमाई की जा सकती है। ऐसे लोग और भी ज्यादा भयंकर हैं। इनका कार्य निन्दनीय है। यह कभी भी ग्राह्य नहीं माना जा सकता। इस वृत्तिका जितने जल्दी त्याग हो उतना ही अच्छा है। इस प्रकार यह पाक्षिक गृहस्थ अपने दान और पूजा इन दोनों धर्मोंको निस्पृहवृत्तिसे पालता है।

वह स्वयं सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रयका आराधक है। उसे पूर्णरूपसे पालन करनेका अभिलाषी है। वह अपनी इस धार्मिक वृत्तिको हृदयमें सदा जागृत रखना चाहता है। वह चाहता है कि मेरे हृदय पर रत्नत्रयका चिह्न सदा अंकित रहे ताकि गार्हस्थिक जंजालमें—विषय वासनाओंके विषम विषमय संसारमें मैं अपने रत्नत्रयात्मक उस स्वधर्म को भूल न जाऊँ, अत एव वह अपने कण्ठमें यज्ञोपवीत धारण करता है।

यज्ञोपवीत रत्नत्रय का चिह्न है, इसीलिए वह तीन सूत्रका होता है। यह गृहस्थके षोडश संस्कारोंमें प्रधान संस्कार माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंके लिए ही यज्ञोपवीत धारण करनेका विधान है। शूद्र संस्कार रहित होते हैं इसलिए वे पाक्षिक श्रावकके व्रतोंका परिपालन

करनेके लिए एक तो यथायोग्य सेवा-वृत्तिको अंगीकार करते हैं। दूसरे दान पूजा करनेवालोंकी अनुमोदना करते हैं और यज्ञोपवीत धारण करनेवालों की प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार की वृत्तिसे ही उनका पाक्षिकव्रत पूर्णताको प्राप्त होता है।

तीन वर्णोंके लिए यज्ञोपवीतका ग्रहण करना आवश्यक है। यदि वे उसे धारण न करें तो अपने कर्त्तव्यसे च्युत समझे जावेंगे।

पाक्षिक श्रावक अपनी उक्त श्रेष्ठ वृत्तिके द्वारा सदा सुखी और शान्त प्रकृतिका होता है। अपने उच्चतम धार्मिक संस्कारोंके कारण उसकी प्रकृति और बुद्धि सदा गंभीर और प्रत्येक स्थितिमें तत्त्व विमर्श करनेवाली होती है। वह संसारके दूसरे प्राणियोंके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। भाररूप नहीं होता। थोड़े शब्दोंमें हम उसे धर्मभवनकी सम्पत्तिका पूर्ण रक्षक वीर सैनिक कह सकते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्नः- **लोकोपकारविषये वद मेऽस्ति भाव- कीदृग्गुरो गुणनिधे खलु पाक्षिकस्य।**

हे गुणसमुद्र! पाक्षिकावस्थायां मे लोकोपकारिकार्यकरणे कीदृग्भावः खलु उपादेयोऽस्ति इत्युपदेशः करणीयो भवद्भिः।

पाक्षिक श्रावककी प्रवृत्ति लोकोपकारके कार्यमें कैसी रहती है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य महाराज आगे लिखते हैं—

(वसन्ततिलका)

विघ्नं करोति यदि मे शिवदेऽपि कार्ये
प्राणांस्त्यजामि खलु तत्प्रतिरोधनार्थम्।
स्वान्योपकारकरणं हि ममेति धर्मो
भावोऽस्ति यस्य विशदः स च पाक्षिकोऽस्ति ॥१०॥

विघ्नं करोतीत्यादिः—पाक्षिकः खलु सदा मनस्येवं विचारयति यत् को मम धर्मः? स्वोदरपूरणाय स्वभोगयोग्यसामग्रीसंयोजने प्रयत्नन्तु सर्वे कुर्वन्त्येव न तत्र कस्यापि शिक्षकस्य शिक्षाया आवश्यकता वरीवर्ति। उक्तप्रकारेण स्वार्थसाधनमात्रमेव कर्त्तव्यं यदि स्यात्तर्हि लोके कलहाग्निः नितरां प्रज्वलितः स्यात्, अतएव स्वोपकारकरणचिकीर्षोरपि बुद्धिमतः कर्त्तव्यमेतद् यत्परोपकारवृत्तिराश्रयणीया। परोपकारवृत्तिमाश्रित्य स्वोपकारकरणमुपादेयम् इति स्वान्योपकारकरणमेव मम एकमात्रं धर्मोऽस्ति। शिवदेऽपि कल्याणकारकेऽपि मम धर्मकार्ये यदि कश्चिदेकान्ततः स्वार्थी विघ्नं प्रत्यूहं करोति विदधाति तर्हि तत्प्रतिरोधनार्थं विघ्नविनाशनायाहम् प्राणानपि त्यजामि त्यक्ष्यामि। शुभकार्येषु प्रायेण विघ्नास्समायान्ति। श्रावकः खलु विचारयति यन्मे सामर्थ्यं परिपूर्णधर्मपालने नास्ति, अतएव सधर्मणां श्रावकाणां मुनीनाञ्च धार्मिका प्रवृत्तिः यथा निर्विघ्ना भवेत् तथैव प्रयतितव्यम्। धार्मिकाणां धर्मपरिरक्षणे तत्र समापतितोपसर्गादिनिराकरणे च स कदापि प्रमादी न भवति। वीरवृत्तिमनुसरन् स स्वप्राणपरित्यागपर्यन्तमपि सन्नद्धो भवति। धार्मिकैस्सह यस्यैवं विशदो निर्मलो वात्सल्यभावो वर्तते स एव पाक्षिकः श्रावकः स्यात् ॥१०॥

पाक्षिक श्रावक स्वोपकार और परोपकार दोनों का परस्पर अविरुद्ध रीतिसे पालन करना ही अपना धर्म समझता है और उसके पालन करनेमें सदा कटिबद्ध रहता है। ऐसा करनेमें ही वह अपनी व दूसरों की भलाई सोचाता है। उसके इस कल्याणकारक कार्यमें यदि कोई विघ्न करे तो उसे वह

हर एक उपायसे रोकता है। साधारण उपायों द्वारा यदि वह उपसर्ग निवारणमें समर्थ नहीं होता तो अपने प्राणोंकी भी बाजी लगा देता है अर्थात् प्राण देकर भी विघ्नोंको दूर कर देता है। इस तरह वात्सल्यपूर्ण पवित्र भाव जिसके हृदयमें होता है वही पाक्षिक श्रावक होता है।

भावार्थ—यह बात पहले भी लिखी गई है कि पाक्षिक श्रावक स्वयं धर्मके पालन करनेमें मोहनीय कर्मके प्रबलोदयसे अपनेको असमर्थ पाता है तथापि उसे धर्मका परिपालन करनेवाले मुनि, अर्जिका, श्रावक व श्राविकाओंमे अत्यन्त प्रेम होता है। वह उनकी प्रशंसा करता है, स्तुति करता है और उनके पदानुसरण करनेकी इच्छा रखता है। यथासमय आवश्यकताके अनुसार उनकी सेवा करता है। उनके धर्म साधनमें हर तरहकी सहायता पहुँचाता है। वह अपनी इस महती परोपकारवृत्तिमें ही अपना कल्याण मानता है।

वास्तवमें जिस तरह स्वयं धर्म का पालन करनेवाला धर्मात्मा है उसी तरह दूसरोंके धर्म पालन करनेके कार्योंमें सहायता पहुँचानेवाला, उनके दुखों और कष्टोंको दूर करनेवाला व उनके धर्म साधनके कार्यमें यदि कोई विघ्न हो कंटक हो तो उसे दूर करनेवाला भी धर्मात्मा है। धर्मात्माके लिए यदि कोई दुष्ट पुरुष बाधा उपस्थित करे तो पाक्षिक श्रावक पहले उसे समझाकर उस मार्गसे हटा देता है। इतने पर भी कोई दुष्ट दुष्टता न छोड़े तो धन देकर, राजकीय आश्रय लेकर या दूसरे पुरुषोंकी वांछनीय सहायता लेकर जैसे हो धार्मिक पुरुषोंके उपसर्ग को दूर करता है। यदि इतने पर भी दुष्ट अपनी दुष्टता न छोड़े तो वह वीर पुरुष कायर की तरह चुप नहीं बैठता। उसके मनमें धर्म व धर्मात्माके प्रति दिखाऊ प्रीति नहीं है। वह हर सम्भव उपायसे विघ्नोंको दूर करता है। ऐसा करते हुए यदि अपने या विघ्नकर्त्ताके प्राण भी जोखममें पड़ जाँय तो भी वह अपने धर्मरक्षाके कार्यसे विमुख नहीं होता। वह या तो उपसर्ग को दूर करके रहता है या उसी कार्यमें अपनेको मिटा देता है। धर्मके प्रति ऐसा उत्कट प्रेम धर्मात्माके प्रति ऐसा ऊंचे दर्जे का वात्सल्यभाव पाक्षिक श्रावकके हृदयमें होता है। वह कायर नहीं होता, विघ्नोंसे घबराता नहीं, डटकर मुकाबला करता है और धर्मकी प्रभावना जगत्कल्याणके लिए युग-युगके लिए फैला जाता है। बिना ऐसे श्रेष्ठ साहसी वीर धर्मात्माओंके धर्म पालनका मार्ग अक्षुण्ण नहीं बनता। पाक्षिक श्रावक स्वयं धर्म पालनमें पूर्ण समर्थ न होते हुए भी अपनी इस सर्वोच्च वृत्तिके कारण मोक्षके मार्गमें अपनेको विशेष उपयोगी सिद्ध कर देता है। वह परोपकार तथा अपने कल्याणकारक कार्योंको अपना धर्म समझता है। इस प्रकारकी विमल बुद्धिको धारण करनेवाला पाक्षिक श्रावक होता है ॥१०॥

प्रश्नः—दुष्टादिशिष्टविषये वद मेऽस्ति भावः कीदृग्गुरो सुखनिधे ? खलु पाक्षिकस्य ?

हे स्वात्मानन्दपरिपूर्णगुरो ! सज्जनदुर्जनयोर्विषये पाक्षिकस्य कीदृग्भावो भवति ?

हे आत्मसुखके समुद्र गुरु ! सज्जन और दुर्जन इन दोनोंके सम्बन्धमें मुझ पाक्षिकको अपने कैसे विचार रखने चाहिए ?

(वसन्ततिलका)

दुष्टस्य रोधकरणं सुजनस्य रक्षा
सम्पूर्णविश्वनिलये सुखशान्तिहेतोः ।
कार्या मया सुजनताऽपि मिथः प्रमोदो
भावोऽस्ति यस्य विशदः स च पाक्षिकोऽस्ति ॥११॥

दुष्टस्येत्यादिः—अखिलं विश्वमेव निलयः तत्र, सर्वत्र इति यावत्। सुखशान्तिहेतोः दुष्टस्य विश्वसुख शान्तिविदारकस्य रोधकरणं निवारणं सुजनस्य सुखशान्तिवृद्धिकारकस्य सज्जनस्य रक्षा रक्षणं—तदुपकारकरणं तत्कीर्तिकीर्तनं तत्सम्माननञ्चापि करणीयमेव। यतः शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहाभ्यां विना प्राणिनां धार्मिका प्रवृत्ति-र्निराकुला न भवति। भोगभूमिप्रवृत्तेरवसाने कर्मभूमिप्रवृत्तिप्रारम्भे च शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहाभ्यामेव शास्यशासक-स्वरूपा शासनपद्धतिः प्रचुरपुण्यैः कुलकरैः प्रकाशिताऽऽसीत्। सा चाधुनाऽपि प्रवाहिता समायाति। अखिल-विधानग्रन्थानामेवमेवाभिप्रायो वर्तते यत् सम्पूर्णप्रजासु शान्तिर्भवेत्, न केऽपि कानपि पीडयन्तु, न्यायमार्ग-मुल्लंघ्य न कोऽपि कस्यापि धनादिकं गृह्णातु। विश्वशान्तिवर्द्धकस्य च सम्मानादिकमपि पदवीप्रदानादिविधिना राज्याधिकारिभिः क्रियते। पाक्षिको यदि शक्तिसम्पन्नो भूपतिर्वर्तते तदा स्वाधिकारादप्रमत्तो भूत्वा न्यायमार्गानुकूलं प्रजारक्षणं दुष्टरोधनं च करोतु। स्वस्यापि सौजन्यपूर्णो व्यवहारो भवेत्। यदि स सामान्यगृहस्थोऽस्ति तदापि स्व-स्वविभवानुकूल्येन स्वाधिकारभूमौ शिष्टानुग्रहं दुष्टनिग्रहञ्च करोतु। सर्वेषामपि पाक्षिकाणामेवं प्रवृत्तौ सत्यां स्वयमेव जगति शान्तिः कलहाभावो भवेत् प्रजावर्गश्च सुखी स्यात्। सुजनता पारस्परिका प्रीतिश्चापि पाक्षिकैः कर्त्तव्या। परस्परदर्शनमात्रेणैव सज्जनानाम्परा प्रीतिरुत्पाद्या। गुणिनमवलोक्य प्रमोदो हर्षातिरेकः प्रकाश्यः। एवमुक्तप्रकारेण यस्य मनसि निर्मलो भावो भवति स एव धर्मपक्षस्याभिनेता पाक्षिकः स्यादिति ज्ञातव्यम् ॥११॥

पाक्षिक श्रावक सम्पूर्ण विश्वरूपी अपने गृहमें सुख और शान्तिको कायम रखनेके लिए दुर्जन पुरुषके दुष्ट कार्योंका रोकना तथा सज्जन पुरुषोंकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है। वह स्वयं सबसे सज्जनताका व्यवहार करता है और परस्परके सम्मिलनसे हर्षित होता है। ऐसा निर्मल भाव पाक्षिक श्रावकका होता है।

भावार्थ—जबतक इस भूमण्डलपर भोगभूमिकी प्रवृत्ति थी तबतक सभी मानव सन्तोषी, सुखी, वैर-विरोधरहित और तीव्र लालसाओंकी वासनासे दूर थे। उस समय कोई किसीके सुख या दुःखका साधक या बाधक न था। वे जीव मन्दकषायी होते थे और कालके नियमानुसार प्राप्त सर्व-साधारण समान विषयोंको भोगते हुए सुखी रहते थे। वहाँ स्वाभाविक साम्यभाव था। न कोई दीन था, न दरिद्री था, न कोई सम्पन्न था और न ऐश्वर्यशाली ही। अभिप्रायपूर्वक व्रताचरण और पाप-प्रवृत्तिका उस समय सर्वथा अभाव था। अल्पाहार, अल्प इच्छाएँ, नियमित भोग, नियमित उपभोग, नियमित विहार, सन्तानोत्पत्ति व जन्म-मृत्युके समान नियम तथा कल्पवृक्ष द्वारा ही सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति ये सब भोगभूमिकी विशेषताएँ थीं।

कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही इनमें अन्तर आया। सन्तानोत्पत्तिके नियम बदल गये। भोग-भूमिमें बालक-बालिका युगल उत्पन्न होते थे। अब अलग-अलग समयमें एक-एक ही उत्पन्न होने लगे। उस समय वे बालक सात सप्ताहमें स्वयं वृद्धि पाकर युवावस्था सम्पन्न बन जाते थे पर अब उनके परिपालन व परिवर्द्धनमें वर्षोंका समय लगने लगा। अब युवावस्थाके प्राप्त होनेमें सोलह वर्ष लगने लगे। बालकोंका परिपालन व परिवर्द्धन स्वयं न होकर दूसरोंकी सहायतासे यह सब कार्य होने लगा। उस समय सन्तानोत्पत्ति माता-पिताके आयुके अन्तिम जीवनमें होती थी और समान कालमें सन्तान युगलके जन्म लेनेके पश्चात् दोनोंकी आयु समाप्त हो जाती थी, पर कर्मभूमिमें माता-पिताके मध्य जीवनमें बल्कि युवावस्थाके प्रारम्भिक समयमें ही सन्तान उत्पन्न होने लगी। यही कारण है कि

जिससे कर्मभूमिज बालकोंके माता-पिता पर अपनी सन्तानके पालन-पोषणका तथा उनके व अपने भविष्यके जीवनके निर्वाहके लिए योग्य सामग्रीके संचय करनेका भार आ पड़ा।

ज्यों-ज्यों भोगभूमिका अन्त निकट आया मनुष्यकी लालसाएँ तथा भोगोपभोगकी सामग्रीके संचय करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती गई, कल्पवृक्षों पर अपना-अपना कब्जा किया जाने लगा, छीना-झपटी होने लगी। कलहका बीज यहींसे शुरू हुआ। अपनी-अपनी सन्तानका मोह तथा अपना शेष जीवन यापन करनेमें आनेवाली आपत्तियोंके निराकरण करनेकी चिन्ता लोगोंको यहींसे प्रारम्भ हुई। इतना ही नहीं, पापमूलक परिग्रहके संचय करनेकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ भी यहींसे हुआ।

प्रकृतिने परोपकार कल्पवृक्षों को ऐसे पापस्थानसे धीरे-धीरे उठा लिया। जनता चिन्तित हुई। उस समयके कुलधर्म प्रवर्त्तक कुलकरोंने उन्हें खेती द्वारा धान्य उत्पन्न करने की सम्मति दी। लोगोंने उसे मान्य किया। खेती होने लगी। उत्पन्न धान्यको संग्रह करने व उसे सुरक्षित रखनेका प्रश्न खड़ा हो गया। इसे हल करनेके लिए घर बनाने की आवश्यकता हुई। भोगभूमिमें शीत, उष्ण और वर्षा का कोई कष्ट न था। वह सब अब क्रमशः प्रारंभ होने लगा, इसलिए भी घर बनाने की तथा वस्त्र बनानेकी जरूरत लोगों को मालूम हुई। इस आवश्यकताने ही कृषि और शिल्प उद्योगको जन्म दिया।

इन दोनों व्यवसायों की वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक मालूम होने लगा कि ग्रामान्तरोंसे लाने व ले जाने की भी प्रवृत्ति चालू होनी चाहिए। जो लोग स्वयं यह सब कार्य न कर सकें वे दूसरों को मदद दें। इस तरह वाणिज्य तथा मसि (लेखन कर्म-मुनीमी आदि) कर्म का प्रारंभ हुआ। जो लोग उक्त कार्यों द्वारा कोई उद्योग नहीं कर सकते थे वे दो भागोंमें विभक्त हुए। उनमें कोई तो बलवान् थे जो परिश्रम करनेके बजाय दूसरोंका झपट लेना ही उत्तम समझते थे, कोई ऐसा करनेवालों को न्यायी न समझकर उनसे मोर्चा लेनेको तैय्यार रहते थे। दोनों एक ही श्रेणीमें शामिल हुए और इनके जिम्मे प्रजाका पालन रक्षण तथा पारस्परिक कलहका निवारण कर न्याय नीतिकी प्रवृत्तिका कार्य सौंपा गया। और इस तरह असिकर्म (शस्त्रग्रहणद्वारा लोक-रक्षण) का जन्म हुआ।

इन तरीकोंमें से किसी भी तरीके पर अपनी जीविका न कर सकनेवाले शेष लोगोंने उक्त सभी वर्गोंकी भिन्न भिन्न प्रकार की सेवाओंके कार्य अंगीकार कर लिए और ये सेवाकर्म द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करने लगे। इस तरह क्रमशः कृषि, शिल्प, वाणिज्य, मसि, असि और सेवा ऐसे षट् कर्मों की सृष्टि हुई।

इन सभी वर्गोंके लोगों की प्रवृत्ति ठीक उचित तरीके पर रहे और कोई किसी पर अनुचित जोर न करे इसका प्रबंध जिस असिकर्म करनेवाले बलवान् और वीर पुरुषोंके ऊपर अवलम्बित था, उनमें भिन्न-भिन्न मत न होकर एकमतसे कार्य हो इसके लिए उनमें किसी योग्य बुद्धिमान उदार निस्वार्थी व्यक्ति को प्रजा द्वारा मुखिया चुना गया और उसे 'राजा' की संज्ञा दी गई। कर्मभूमिके प्रारंभ का और भोगभूमिके अन्तका समय ही ऐसा था जब यह सब हुआ। समय समय पर अत्यन्त बुद्धिमान् अवधिज्ञानी कुलकर होते रहे। जिन्होंने सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका मार्ग जनता को बतलाया और स्वयंके परिश्रमसे उक्त कार्यको सुसम्पन्न किया।

इस युगके प्रारम्भमें अन्तिम कुलकर भगवान् आदिनाथ स्वामीके पिता श्री नाभिराय हुए। उसके बाद भगवान् ऋषभदेवने उक्त सम्पूर्ण प्रजाके बाह्य और आभ्यन्तर संस्कारोंके अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंमें प्रजाको विभक्त किया। तथा भगवानके पुत्र श्री भरत चक्रवर्तीने,

जिनके नामपर इस देशका भारत नाम पड़ा, ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की। इस तरह चार वर्णोंकी स्थापना हुई।

इस व्यवस्थाके बन जानेपर भी अनेक ऐसे दुष्ट पुरुष होने लगे जो व्यवस्था को बिगाड़ कर भी बिना परिश्रम किये जोर जुल्मसे दूसरोंकी संपत्ति हड़पने लगे इसके लिए वे लोगोंको नाना कष्ट देने लगे। साथ ही कुछ ऐसे भी वर्गके लोग हुए जो दूसरोंके कार्योंमें मददकर परोपकार करने लगे। अत एव इन दोनों प्रकारके दुर्जनों और सज्जनों का क्रमशः निग्रह करने और उपकार करने का कार्य आवश्यक हो गया। मुख्यतया सज्जन का सम्मान और दुष्टों का मानमर्दन करना राजधर्म था तथापि यथावसर प्रजाके प्रत्येक गृहस्थ को भी यह आवश्यक हो गया कि वह दुष्टका मर्दन तथा शिष्टकी रक्षा व सम्मान को अपना कर्त्तव्य-धर्म समझे क्योंकि बिना ऐसा किये धर्मका परिपालन नहीं किया जा सकता था।

गृहस्थोंमें भी अनेक भेद होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो लौकिक कार्योंको संसार बंधनका कारण मानकर कम करते जाते हैं और आध्यात्मिक प्रवृत्तिको बढ़ाते जाते हैं। वे नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। उनके उस अलौकिक मार्गमें बढ़नेका क्रम ग्यारह प्रतिमाके रूपमें विभाजित है। इनमें प्रत्येकके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने चारित्रको उज्ज्वल रखते हुए भी अपने समकक्ष या अपनेसे उन्नत चारित्र-वाले की धर्मरक्षा अवश्य करे।

जब तक कोई धर्मप्रेमी गृहस्थ अपने को नैष्ठिक श्रावक नहीं बना सकता तबतक वह पाक्षिक कहलाता है। इस प्रकरणमें इन्हीं पाक्षिक श्रावकोंके कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। इस पाक्षिक श्रावक का यही धर्म है कि वह धर्मसेवी सज्जनों की रक्षा करे। उनके धर्मसेवन कार्यमें यथोचित सहायता दे और उनमें बाधा देनेवाले दुष्ट मनुष्यों को दण्ड दे।

विश्वमें यदि शान्तिकी स्थापना करनी है और सम्पूर्ण प्रजाको सुखी बनाना है तो प्रत्येक पाक्षिकको स्वयं सुजनताका व्यवहार करना होगा और सुजनोंके साथ भाईचारेका व्यवहार करते हुए दुष्टोंका निराकरण करना होगा। ऐसा करना पाक्षिक अपना धर्म मानता है। वह समझता है कि यदि मैं स्वयं उच्चतम धर्मका पालन नहीं कर सकता तो मेरा यह तो अवश्य कर्त्तव्य है कि दूसरों को उसका परि-पालन करने दूँ, उनकी मदद करूं तथा उनके कार्यमें आनेवाले विघ्नों को दूर करूं।

वह धर्मात्मा पुरुषों को देखकर प्रसन्न होता है। उसके अंग अंग पुलकित हो उठते हैं। वह सेवा करनेको लालायित हो उठता है। थोड़े शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि धर्म शासनके चलानेके लिए वह स्वयं सेवक वीर सैनिक की भांति अपनेको सदा सन्नद्ध रखता है। धर्म व धर्मात्माके रक्षाके प्रति ऐसा जिसका निर्मल भाव है वही पाक्षिक गृहस्थ है ॥११॥

प्रश्नः—**पाक्षिकस्य विशेषा तु प्रवृत्तिः कीदृशी वद।**

अत्र पाक्षिकश्रावकस्य कर्त्तव्यविशेषा निर्दिश्यन्ते।

आगे पाक्षिक श्रावकके विशेष कर्त्तव्यों का उपदेश आचार्य महाराज करते हैं—

(उपजातिः)

कार्या स्वबुद्ध्या भुवि मित्रताऽपि
प्रमुच्य मायां सकलैः समं हि।

यतो भवेत्ते विमलैव कीर्त्तिः
स्वराज्यलक्ष्मीश्च सदा स्वदासी ॥१२॥

कार्येत्यादिः—यतो भुवि विमला कीर्तिः प्रस्फुरति। न केवलं कीर्तिरेव भवति अपि तु स्वराज्य-लक्ष्मीः। स्वं च तद् राज्यं स्वराज्यं तदेव लक्ष्मीः इति स्वराज्यलक्ष्मीः सदा स्वदासी इव तं सेवते। तस्मात् कारणात् स्वबुद्ध्या स्वबुद्धिपूर्वकं मायां-कपटवृत्तिं प्रमुच्य परित्यज्य सकलैः समं "सत्त्वेषु मैत्रीं विदधातु" इति अमितिगत्याचार्योपदेशपरम्परागमनुस्मरता जाति कुल विभव संपत्ति-ज्ञान बल गति-दारिद्र्य जरा-रोग-सुभगत्व दुर्भग-त्वादिभेदमनालम्ब्य दीनैर्हीनैर्दारिद्र्योपेतैर्जरारुजापीडितैःहीनकुलजैःकुलीनैः श्रीमद्भिःसंपत्तिशालिभिर्विद्वद्भिर्मूर्खैर्निर्बलै-बलवद्भि दुर्भगैः सुभगैर्वा पुरुषस्त्रीनपुंसकैः पशु-पक्षि-कीटपतङ्गादिभिश्च सर्वैः प्राणिभिः सह समानरीत्या मित्रता सुखदुःखसमभागित्वरूपं बन्धुत्वम्। अवश्यं कार्या करणीया ॥१२॥

इस लोक और परलोकमें सुखके अभिलाषी श्रावकको उचित है कि वह प्राणिमात्रके साथ सुख-दुःखमें समभागी बने। धर्मज्ञ सज्जनकी यही पहिचान है कि उसे किसी प्राणी को दुःखी देखकर करुणापूर्ण खेद उत्पन्न होता है और शक्त्यनुसार उसके कष्टको दूर कर देनेकी भावना व प्रवृत्ति पाई जाती है तथा दूसरे प्राणियों को सुखी देखकर उसे प्रमोद होता है। इस भावका नाम ही मैत्रीभाव या बन्धुत्वभाव है। श्रावक निष्कपट भावसे प्राणिमात्रमें ऐसा भाव रखे तो संसारमें उसकी निर्मलकीर्ति फैले और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासन रूपी संपत्ति सदा उसकी दासीके समान सेवा करे।

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति ऐसी है कि वह पराधीनता और अकीर्तिको किसी भी हालतमें पसंद नहीं करता। वह घरमें, मुहल्लेमें, ग्राममें, देशमें, राष्ट्रमें, जातिमें और सभामें सर्वत्र अपनी प्रशंसा और स्वतंत्र-वृत्तिका अभिलाषी है।

पराधीनता सचमुचमें अत्यन्त कष्टदायक है। पशु, पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी क्षणमात्रको प्राप्त होनेवाली परतंत्रता को सहन करना पसन्द नहीं करते। यदि किसी पक्षीको आप पिंजड़ेमें बंद करदें तो वह छटपटायगा और भागनेका अवसर पाते ही भाग जायगा। हाँ जिसे पराधीनता सहते-सहते युग बीत गया हो और जो स्वातंत्र्यसुखको विस्मरण कर चुका हो वह भले ही पिंजड़ा छोड़कर न जावे परन्तु फिर भी यह प्रवृत्ति १०-५ दिन ही रहेगी। जहाँ उसने कुछ दिन पिंजड़ेके बाहर की हवा खाई कि उसे अपनी प्रिय स्वतंत्रताकी याद होने लगती है और वह अपने स्वराज्यके भोगके लिए बनको चल देता है। पींजड़ा चाहे सुवर्ण का ही क्यों न बना हो, तथा उसे रोज दूध, चावल और मिष्टान्न ही क्यों न खिलाया जाता हो किन्तु पक्षी पराधीनताके दुःखके आगे इन सुखों को हेय समझता है। उसे पराधीन रखनेवाला व्यक्ति चाहे कितने ही प्रेमसे रखे, दुलार करे, सुखी बनाने का प्रयत्न करे, पर ये सब बातें स्वातंत्र्य सुखके चरणों की धूलिको भी स्पर्श नहीं करतीं।

पक्षी को अपनी वनस्थली, रम्यवृक्षावली, सरोवरका किनारा, निर्मल आकाशमें पंक्तिबद्ध हो स्वच्छन्दतासे उड़ना, एक-एक दाना ढूंढ़कर चुगना व अपने बच्चोंको चुगाना यह सब जितना भाता है उतना पिंजड़ेमें बैठकर मिष्टान्न खाना नहीं भाता। उस स्वाधीन सुखके सामने वह इस पराधीन सुखको महान दुःख का प्रतीक समझता है। पक्षियोंकी तरह पशु भी बंधनमें रहना पसंद नहीं करते। वे बंधनको तोड़कर भाग जाना पसंद करते हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, बकरी, ऊँट हाथी और हिरण आदि

कोई भी पशु बंधनमें बद्ध नहीं रहना चाहते। पालतू पशु यद्यपि जीवनके प्रथम क्षणसे ही बंधनमें रहे हैं, उन्होंने पराधीन रहकर ही अपनी जिन्दगी गुजारी है, उनका अपना कोई निजी स्थान नहीं जहां वे सानंद स्वतंत्र रह सकें तो भी वे बंधनसे छूट जाना चाहते हैं।

कीड़े कमोड़े भी अपने स्वतंत्र मार्गसे चलना पसंद करते हैं। चाहे वे किसी खतरे के स्थानमें ही क्यों न जाते हों उन्हें यदि उठाया या छेड़ा तो वे छटपटाकर तुम्हारे संपर्क से दूर हो जानेका प्रयत्न करेंगे।

जब इन सब प्राणियोंको पराधीनता पसंद नहीं तो मानव प्राणी जो सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है, वह क्यों पराधीनता पसंद करेगा ? वह तो बात-बातमें स्वराज्यका प्रेमी है। जबतक वह घरमें है, घरमें स्वराज्य चाहता है। वह यही तो चाहता है कि घरमें मेरा शासन रहे, मुझे किसीके अधीन होकर न रहना पड़े। सब या तो मेरे शासनमें चलें या फिर सबके साथ-साथ मुझे भी स्वतंत्रता पूर्वक रहनेका पूर्ण अधिकार हो।

जिस समय उसकी दृष्टि घरसे बाहर मुहल्ले पर जाती है तो वहां भी वह किसी दूसरे मुहल्ले वालेका शासन पसंद नहीं करता। यदि कोई मुहल्लावाला उस पर अपना कुछ शासन चलावे तो उसके साथ तुरंत झगड़ा हो जानेका प्रसंग आ जाता है। छोटे गांवोंमें या शहरोंके मुहल्लोंमें झगड़े हो जाने के कारण एक दूसरेको अपने-अपने शासनमें रखने तथा स्वयं दूसरेके शासनको पसन्द न करनेकी मनोवृत्ति ही काम करती है। घर-घरमें पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू, जिठानी-देवरानी, ननद-भौजाई आदि में भी यदि कोई झगड़ा होता है तो एक दूसरेके शासनमें न रहने तथा घरकी संपत्ति व भोगोपभोग की सामग्री को स्वतंत्रता के साथ उपयोग कर लेने की इच्छा से ही होता है और वह तबतक चलता है जबतक एक दूसरेके बंधनसे उन्मुक्त होकर स्वतंत्र भोगोपभोगके निमित्त उस संपत्तिका बटवारा नहीं कर लेते।

कलह के जो कारण घर घर में हैं वे ही ग्राम और मुहल्लेके झगड़ोंके कारण हैं। चूंकि मनुष्य का एक दूसरे के साथ चलनेवाला संबंध घर और ग्राम या अपने शहर तक ही सीमित नहीं है बल्कि अपने प्रान्त सम्पूर्ण देश तथा विदेशों से भी उसका सम्बन्ध है और यह ऐसा सम्बन्ध है जिसका अलग होना गार्हस्थिक अवस्था में असंभव है। प्रत्येक मानव जैसे जैसे वह अपने प्रान्तको, देशको व राष्ट्रको अपनाता जाता है वैसे वैसे उसका उसमें निवासी जनोंके प्रति अपनत्व बढ़ता जाता है। ऐसी अवस्थामें मनुष्य का स्वातंत्र्य व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं रह जाता बल्कि वह एक समूचे देश व राष्ट्रका स्वातंत्र्य हो जाता है। वह चाहता है कि हमारे देशमें उसमें निवास करनेवाले व्यक्तियोंका ही शासन हो। वे अपने सुख-दुखका विचार स्वतंत्रता पूर्वक कर सकें। उनके इस कार्यमें कोई बाधक न हो। इसका नाम है प्रत्येक देश या राष्ट्रका स्वराज्य।

जिस तरह प्रत्येक घरमें निवास करनेवालोंका पारस्परिक सहानुभूतिपूर्ण सर्व-दुःख-सुख समभाव हो और जैसे एक दूसरेके शासनमें न रहनेकी आकांक्षा रहती है वैसे ही दूसरेको अपने शासन में रखने की भी अभिलाषा हो तो घरमें पारस्परिक स्नेह बंधन दूर नहीं होता बल्कि सुदृढ़ बनता है। उसी तरह प्रत्येक ग्राम, देश या राष्ट्रवासियोंका भी जब इसी तरह प्रत्येक ग्राम व देशवासीके प्रति परस्परमें एक दूसरेपर शासन करनेकी मनोवृत्ति न हो परस्पर मैत्री-भाव अर्थात् सुख-दुख समभागित्व हो तो उन देशवासियोंमें भी पारस्परिक स्नेह बंधन दृढ़ होता है और संघटन सुदृढ़ होता है।

यही स्वार्थ वासना रहित सर्व सुख दुख समभागीपना देशके संघटनको मजबूत करता है और वही देश स्वराज्य प्राप्त कर सकता है इसके विपरीत नहीं कर सकता। जो मनुष्य अपने स्नेहकी सीमा अपने देश या राष्ट्र तक ही सीमित नहीं रखता बल्कि समूचे संसारके प्राणियोंको अपना बंधु मानता है वह गार्हस्थिक स्थितिसे दूर हो जाता है। गार्हस्थिक स्थिति अपने व्यक्तिगत भोगोपभोगके स्वार्थ साधन करनेका एक गुट है जिसकी सीमा उस घरके निवासियों तक है। जो अपने ग्रामकी भलाई उसकी स्वतंत्रताका विचार रखता है उसे अपने घरमें विशेष स्वार्थके साधक व्यक्तियोंका मोह कम कर देना पड़ता है और अपने स्नेहके क्षेत्रको बढ़ाना पड़ता है। जो ग्रामके बाहर अपने देश या राष्ट्रको अपने स्नेहका क्षेत्र बनाता है उसे ग्राम या प्रान्तका मोह छोड़ देना पड़ता है और उसका उतना ही ख्याल रखता है जितना अपने देशके दूसरे ग्रामों का।

अखिल विश्वको अपना स्नेह बखेरनेकी इच्छा रखनेवाले तथा सारे संसारके प्राणिमात्रके सुख दुखमें समभागी होनेवाले महापुरुषको अपने देश व राष्ट्रके स्वार्थको भी दुनियाके स्वार्थमें मिला देना होगा। अपने इस महान् यज्ञको पूरा करनेके लिए उसे गार्हस्थिक जीवनका त्याग करना होगा, व्यक्तिगत स्वार्थको किनारे रखना होगा, कठोर साधना करनी होगी तब वह अखिल विश्वको अपना आत्मराज्य पानेका शुभसंदेश सुना सकेगा।

यह साधु पुरुष संसारके विषय-भोगगत स्वार्थको झूठा स्वार्थ मानता है, उसे कलहका बीज मानता है, शारीरिक आवश्यकताओंकी अभिलाषाको आत्म-भिन्न निर्जीव पदार्थकी सेवा मानकर उसे आत्म-धर्मका कुछ भी स्वार्थ नहीं मानता। पौद्गलिक तत्त्वमय शरीर और पुद्गल कर्म दोनों आत्म-तत्त्वको बंधनमें डालनेवाली–पराधीन करनेवाली वस्तु हैं। साधुके सम्पूर्ण प्रयत्न दोनोंके मूल विनाशकी ओर सदा रहते हैं। यह परिपूर्ण अहिंसादि पाँच महाव्रतोंका पालन करता हुआ जब अपने प्रयत्नमें सफल होता है तब आत्मराज्य-स्वराज्यको प्राप्त कर लेता है।

ऊपर के व्याख्यान से यह सिद्ध है कि चाहे सांसारिक दृष्टिसे हो चाहे पारमार्थिक दृष्टिसे, जो मनुष्य स्वराज्य के स्वातंत्र्य सुख का अनुभव करना चाहता है उसे व्यक्तिगत स्वार्थोंका मोह त्यागकर विश्वके प्राणियोंसे मित्रता करनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति संसारमें अक्षय कीर्तिका सम्पादन करता है। स्वार्थी मनुष्यों की ही संसारमें अकीर्ति होती है। इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर पाक्षिक श्रावक जाति-सम्प्रदाय-ग्राम-प्रान्त आदि भेद भावको भुलाकर समस्त मानवोंके साथ सम-दुख-सुख-भागी बनकर बंधुत्व भाव स्थापित करता है॥ १२॥

(उपजातिः)

सुखी ह्यधर्मेण भवामि नित्यं
ह्येवञ्च भावो न कदापि कार्यः।
भवामि धर्मेण सुखी सदेति
कार्योत्मशान्ते वरभावनैव ॥१३॥

सुखीत्यादिः—अधर्मेण हिंसयाऽसत्यसम्भाषणेन परधनापहरणेन परवनितासंभोगेन कूटकपटव्यवहारेणा-त्मस्वार्थसाधनेन स्वभोगोपभोगसाधनाय परप्राणपीडनेन अखिललोकानामपि दारिद्र्याभिभूतक्षुत्क्षामपीडित निर्वस्त्रकत्वादिभीमदुःखोत्पादकेन धान्यवस्त्रादिपरिग्रहसञ्चयरूपमहापापेन नित्यं सर्वदा सुखी भवामि भविष्यामि, एवं भावः कदापि न कार्यः। तथा सदा धर्मेणैव उत्तमक्षमादुःखितसेवापरोपकारवृत्तिसम्यग्ज्ञानार्जनदेवती-

र्थवन्दना-सम्यग्गुरुसेवादुखितदानादिकर्मणा अहं सुखी भवामि भविष्यामि इति आत्मशान्तेः स्वात्मनिर्वृत्तिहेतोः वरभावना श्रेष्ठभावना सदा कार्या ॥१३॥

हिंसादिरूप पापोंके द्वारा परधनहरण कूटकपट द्वारा स्वार्थ साधन परस्त्रीभोग अपने भोगोपभोगके निमित्त पर प्राणियोंको पीड़ा देना आदि दुष्कर्मोंके द्वारा अधिकांश मानवोंको दरिद्र-क्षुधापीडित और नग्न बना देनेवाले धन, धान्य, वस्त्रादि परिग्रहको अतिसंग्रह करने रूप महापाप रूप व्यापारके द्वारा मैं सुखी हो जाऊंगा ऐसा भाव कभी नहीं करना चाहिए। पाक्षिक गृहस्थको सदा यह भावना सर्वोत्तम प्रकारसे करनी चाहिए कि उत्तमक्षमा, दुखियों की सेवा, परोपकार, सम्यग्ज्ञानका लाभ करना व कराना, देववन्दना, तीर्थवन्दना और सम्यग्गुरुकी सेवा व दुखित दानादि सत्कर्म स्वरूप धर्मके द्वारा ही मैं सदा सुखी हो सकूंगा ऐसी उत्कृष्ट भावना संतोष सुख और शान्ति प्राप्त करनेके लिए सदा हृदयमें रखनी चाहिये।

भावार्थ—धर्म सुखका साधन है और अधर्म दुःखका ऐसा प्रायः सभी कहते हैं किन्तु धर्म क्या है और अधर्म क्या है इस विषयमें बड़ा विवाद है। और इसी विवादके कारण सिद्धान्तवादी भी भटक जाते हैं। उन्हें भी वास्तविक मार्ग नहीं मिल पाता। इसलिए श्री पूज्य आचार्य महाराजने पूर्व श्लोकोंमें यह बता दिया है कि "अहिंसैव परो धर्मः"।

सत्य, अचौर्य, स्ववनितासंतोष, अल्पपरिग्रहत्व, क्षमा, विनय, संतोष, सरलवृत्ति, त्याग और दान आदि सम्पूर्ण धर्म एक अहिंसामूलक ही हैं। बिना अहिंसा पालनके इनमेंसे एकका भी पालन नहीं हो सकता और अहिंसाव्रती इन सभी व्रतोंको अहिंसा की बढ़ती हुई भावनासे स्वयं प्राप्त कर लेता है। इसके विरुद्ध हिंसाचारी, असत्यभाषण, परधनहरण, परवनिताहरण, भयंकर परिग्रह संग्रह, क्रोध, उद्धतता, असंतोष, कूटवृत्ति और अनुदारता आदि दुर्गुणोंका स्वयं शिकार हो जाता है। अथवा ऐसा कहिए कि बिना हिंसाके इनमेंसे कोई पाप नहीं हो सकते इसलिए "अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है" ऐसा उपदेश किया गया है। दूसरे शब्दोंमें यह भी ध्वनि इससे निकलती है कि "हिंसा ही सर्व पापका मूल है, और इसीलिए यही अधर्म है"

उक्त मूल सिद्धान्त पर ही पाक्षिक श्रावकको उपदेश दिया गया है कि स्वपरोपकारकरण, सर्वजीवसुखदुखसमभाव, धर्मज्ञ पुरुषसे प्रीति, धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा, उनके धर्म साधनमें सहायता तथा धर्मके अंगभूत तीर्थ, देवस्थान और सम्यग्गुरु आदिका विनय एवं इनके रक्षण करनेमें अपना सर्वस्व त्याग आदि पाक्षिकके धर्म हैं।

यहाँ पाक्षिक श्रावकको यह उपदेश दिया गया है कि उक्त धर्मका स्वरूप समझकर उसपर सदा दृढ़ रहना चाहिए। सदा यही विचार करना चाहिए कि उक्त प्रकार अपने धर्मका पालन करनेसे ही मैं सुखी रहूँगा। इसके विरुद्ध अधर्म सेवनसे कभी सुखी न रह सकूँगा। ऐसी भावनासे उसे शान्ति सुख और सन्तोष प्राप्त होगा ॥१३॥

(उपजातिः)

भार्या न बोध्या कटुभाषणेन
स्वसद्मवार्तापि बहिर्न भाष्या।
निजात्मनिन्दैव सदेति कार्या
परप्रशंसाखिलसौख्यदात्री ॥ १४ ॥

भार्येत्यादिः—पाक्षिकश्रावकस्य गार्हस्थिकजीवननिर्वाहो यथा सुखपूर्वकं स्यात् तथोपदिशत्याचार्यः— स्वभार्या स्वकलत्रं कटुभाषणेन न बोध्या न शिक्षणीया। कटुभाषणं तु परस्परं वैरवर्द्धकं भवति। तथा सति

च्छिन्नाया अपि न कोऽपि प्रभावो भवति, अत एव प्रियं हितं च वक्तव्यम् । स्वसद्मनि या काऽपि गोपनीया वार्ता दम्पत्योः भ्रात्रोः, पितृपुत्रयोर्वामध्ये भवेत् सा बहिर्न भाष्या गृहातिरिक्तानां पुरुषाणां पुरस्तान्न प्रकाशनीया । भोजन-पान-यान-निधुवन-धन-सम्पत्तिकादिविषयानालम्ब्य व्यापार-व्यवहारादिजीवनोपायविषयञ्चालम्ब्य गृहस्थेषु परस्परं परिस्थित्यनुसारेण यथावसरं कटुवार्त्तालापो भवत्येव तस्य बहिर्भणने स्वगृहच्छिद्रप्रकाशनं भवति, स्ववैरिणो विरोधिनश्च तेन स्वलाभाय परहान्यै च प्रयतन्ते । एवं प्रसङ्गप्रस्थापक-गृहसदस्यः तदतिरिक्तगृहसदस्यानामपराधी भवति परस्परं कलहश्च जायते लोकनिन्दा स्वार्थभ्रंशश्च भवति, अतएव न बहिर्भाष्या स्वगृहवार्त्ता । स्वगुणलाभार्थिभिः पाक्षिकैः सदा निजात्मनिन्दैव कार्या अखिलसौख्यदात्री परप्रशंसा च; यतः परगुणान्वेषणं आत्मदोषान्वेषणं च लाभप्रदं भवति । एवमुक्तगुणविशिष्टः शिष्टपुरुष एव इह लोके प्रशस्त उच्चगोत्रकर्मबंधकश्च भवति । अत एव उभयलोकसुखप्रदा एषा नीतिरङ्गीकर्त्तव्या ॥ १४ ॥

पाक्षिक श्रावकका यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नीको भी उत्तम शिक्षा देवे और उससे सदा प्रिय वचनोंसे वार्तालाप करे । यदि कोई त्रुटि हो तो मधुर शब्दोंमें ही उसे समभावे कठोर शब्दोंका उपयोग न करे । अपने गृह सम्बन्धी सुख-दुख आदि की चर्चा दूसरों से न करे, सदा अपने अवगुणों की निन्दा और दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करे ऐसा व्यवहार उसे सुखदाई होगा ।

भावार्थ—गृहस्थी एक रथ के समान है । कोई भी रथ तब तक ठीक नहीं चलता जब तक कि उसके आधारभूत दोनों पहिए समान न हों । इसी तरह गृहस्थ जीवनके पति और पत्नी ये दोनों ही प्रधान अंग हैं । ये दोनों यदि समान आयु, रूप, विद्या, सम्पत्ति और प्रकृतिवाले हों तो सम्बन्ध उत्तम चलता है । यह बात प्रायः देखी जाती है कि वर और कन्याके अभिभावक माता पिता आदि वर कन्या का रूप और सांपत्तिक अवस्था मात्र इन दो बातोंका ही उनके विवाह में विचार करते हैं, शिक्षा-स्वभाव आदि के मिलानका विचार नहीं करते । शिक्षा की परीक्षा सरलतासे होने पर भी स्वभावकी परीक्षा होना सरल नहीं है । स्वभावकी परीक्षा मनुष्यकी तब होती है जब कुछ दिन काम पड़ जाता है, इसलिए श्रीगुरु यहाँ सर्वसाधारण के निर्वाह योग्य गृहस्थ जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी उपदेश देते हैं कि गृहस्थको उचित है कि यदि उसकी पत्नी शिक्षित नहीं है तो वह पति द्वारा शिक्षित बना ली जावे । यह शिक्षण परस्पर मधुर शब्दोंके व्यवहार पूर्वक हो तो ही लाभदायक होगा, इसमें प्रकृति भी उत्तम बनेगी । यदि पत्नी शिक्षित है और पति अशिक्षित है तो पत्नी का कर्तव्य है कि मधुर वाणीके द्वारा पति को शिक्षित करे और उसे अपने अनुरूप बनावे । शिक्षित दम्पति ही परस्पर अनुकूल स्वभाव-वाले हो जाते हैं । एक शिक्षित और दूसरा अशिक्षित हो तो प्रकृतिका मिलान न होनेसे दोनोंका जीवन दुखमय व्यतीत होता है इसलिए दोनों को एक दूसरेको शिक्षित बनानेका प्रयत्न करना ही सुखी गृहस्थ जीवन का सर्वोत्तम उपाय है । यह उपाय तभी सफल हो सकता है जब कि दोनों परस्पर मधुरभाषी हों ।

गृहस्थ जीवनमें यह भी पद-पद पर सम्भावित है कि पति पत्नीमें किसी विषयको लेकर भिन्न-भिन्न मत हो जाय, ऐसे समय अपनी बात दूसरेको समझानेके लिए भी प्रिय वाणीका उपयोग करना चाहिए ।

यह भी सम्भव है कि दोनोंमेंसे कोई एक दूसरेका अपराध कर बैठे । ऐसी दशामें अपराधीको उसका अपराध समझा देना ही उसे दूर करनेका पर्याप्त उपाय है, यदि वह मधुर शब्दों द्वारा समझा दिया गया हो ।

सारांश यह है कि दम्पतिका पारस्परिक व्यवहार मधुर हो तो उसका जीवन सुखी रह सकता है अन्यथा दुखी रहेगा । मनुष्य जीवन सुखी बनानेमें मधुर वाणीका ही प्रधान हाथ है, दूसरी बातोंका उतना महत्त्व नहीं है । मनुष्य एक दूसरेके प्रति अपना अभिप्राय वाणी द्वारा ही प्रकट करता है और

उसीसे दूसरे के हृदय के भावोंको परखता है। घोर अपराधी भी वचनोंके द्वारा अपने आन्तरिक अभिप्राय को प्रकट कर क्षमापात्र बन जाता है। तथा एक निरपराधी भी अपने कटुभाषणके द्वारा सर्वसाधारण की दृष्टि में भी अपराधी बन जाता है। मधुरभाषियों की प्रकृति समान न होने पर भी परस्पर मेल खा जाती है, समान प्रकृतिवाले व्यक्तियों में भी यदि किसी प्रसंगमें कठोर शब्दो द्वारा वार्त्ता हो जावे तो विरोध उत्पन्न हो जाता है। बड़ासे बड़ा अपराधी अपने मधुर भाषणसे अपने अपराधको माफ करा लेता है।

वचन का बहुत मूल्य है, वचन अमृत है यदि हित मित और प्रिय हो। श्री तीर्थंकर भगवान में जन्मके समय से जो १० अतिशय (विशेषताएं जिनके कारण वे सर्वोच्च माने जाते हैं) होते हैं उनमें प्रियहित वचन भी एक महान अतिशय माना गया है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भगवान तीर्थंकर देव अनेकों गुणोंके द्वारा यद्यपि विभूषित थे तथापि संसारके समस्त प्राणियोंके लिए वे इसी लिये महान बन सके कि उनके वचन जन्म से ही प्रिय और हितकारक थे।

भगवानकी दिव्यध्वनिका महत्त्व उसकी गंभीरता सर्वार्थप्रतिपादकत्वादि गुणोंके ही कारण नहीं प्रकट हुआ बल्कि इसलिए महत्त्व प्रकट हुआ कि उनकी वाणी इतनी मधुर थी कि उसे सुनने के लिए देवता भी तरसते थे और साधारण प्राणियोंमें पशु-पक्षी भी उसे सुनने के लिए आकर्षित होते थे। यह आकर्षण तत्त्वप्रकाशनके कारण नहीं था क्योंकि सर्वसाधारण मनुष्य, देव, या पशुपक्षी तत्त्ववार्त्ताको इतना समझते नहीं, किन्तु उनकी प्रिय मधुर हितकारक वाणी से ही यह आश्चर्यकारी आकर्षण था।

मुनियों के चारित्र में वचन गुप्ति और भाषा समिति को प्रधान स्थान प्राप्त है। इसका अर्थ यह है कि या तो वचन ही न बोलें और बोलें तो प्रिय, हित वचन थोड़े बोलें। जो चीज अपने सम्पूर्ण रूपमें तीर्थंकरको भी महत्त्व प्रदान करती है और जो मुनि जीवनमें भी अपना प्रधान स्थान रखती है वह गृहस्थ जीवनके लिए क्यों न उपयोगी होगी। गृहस्थका चारित्र भी मुनिके चारित्रका एकदेशरूप है इसलिए गृहस्थ को भी उचित है कि यदि वचन बोले तो हित, मित और प्रिय बोले, अन्यथा भाषण ही न कर मौन रखे। यह मधुर भाषण पद्धति जिस तरह बाहिरी संसारमें हमारे जीवनको सुखी बनाती है इसी तरह इसका सफल प्रयोग घरू संसारके प्राणियोंमेंभी सम्पूर्ण कष्ट और सन्तापोंको दूर करनेकी महौषधि है। वर्तमान समयमें घर-घरमें कलह देखनेमें आती है उसका एकमात्र कारण अप्रिय कटुक वार्त्तालाप ही है। पुरुष वर्ग यदि शिक्षित होता है तो वह अपनी विद्वत्ताके अभिमानके कारण अपनी अशिक्षित पत्नीका निरन्तर अनादर करता है, उससे प्रियसंलाप नहीं करता। इसी तरह यदि स्त्रियां अशिक्षित होती हैं तो वे शिष्ट भाषणका नाम तक नहीं जानतीं। स्त्री वर्गके शिक्षित और पुरुषवर्गके अशिक्षित होने पर भी ठीक यही दशा होती है। दम्पतिको उचित है कि एक दूसरेको उत्तम शिक्षा देकर प्रिय भाषण द्वारा सुखी बनावे। वे तभी संसारमें उच्च आदर्शका सृजन कर सकते हैं।

परमार्थ सिद्धिके लिए जैसे साधु संस्था है वैसे ही इहलौकिक उन्नतिके लिये गृहस्थ जीवन अंगीकार करना भी आवश्यक है। ये दोनों श्रेणियां प्राणी को यथायोग्य सुखी बनानेके लिये हैं। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी मध्यममार्गियोंकी है जो गृहस्थ जीवनका क्रमशः त्यागकर साधु मार्ग पर जाना चाहते हैं। यह श्रेणी भी ग्राह्य है। इन तीनोंके अतिरिक्त अनियमित और असंयत जीवन व्यतीत करनेवाले, एक दूसरेके सुख दुखका साथ न देनेवाले, दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर अपना साधन करनेवाले; अप्रिय संलापके द्वारा दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर खुश होनेवाले लोगोंकी श्रेणी ग्रहण करने योग्य नहीं। ऐसे लोगोंका गृहस्थ जीवन कष्ट मय व्यतीत होता है। अप्रियसंलापी स्त्री पुरुषोंमें परस्पर बात-बातमें विरोध रहता है, यह

विरोध क्रमशः वैरका रूप ले लेता है और यदि हितू ही शत्रु बन जाय तो अनर्थकी परम्पराको फिर कोई नहीं रोक सकता। ऐसे गृहस्थोंका जीवन नरकतुल्य कलहमें ही व्यतीत होता है इसलिए परस्परमें साप-राध भी हों तो भी कटुभाषाका प्रयोग पाक्षिकको न करना चाहिये।

गृहस्थ जीवनको दुखमय बनानेवाली दूसरी बात है स्वगृहच्छिद्रप्रकाशन अर्थात् अपने गृहस्वामी या गृहस्वामिनीकी दूसरेसे निन्दा करना एक दूसरेके दोषोंका वर्णन करना, अपनी हीनता दुरवस्थाको दूसरों पर प्रकट करना इत्यादि। गृहस्थ जीवन में अनेक घटनाएं बीतती हैं। कभी सांपत्तिक स्थिति अच्छी होती है तब मनुष्यका रहन-सहन, खान-पान, ओढ़ना-पहिनना और वस्त्राभूषण कुछ अच्छे तरीकेके होते हैं और जब दरिद्रता पल्ला पकड़ती है तब बात-बातमें कष्ट उठाने पड़ते हैं। दोनों अवस्थाओंको दूसरों पर प्रकट कर अभिमान या निन्दा नहीं करनी चाहिये।

हम चाहे अपने घरमें सुखी हों या दुखी पर किसीके सामने हाथ नहीं पसारना चाहिये अपने परिश्रम द्वारा उपार्जित धनसे ही अपना स्वाधीन जीवन व्यतीत करना चाहिये। स्वाधीन जीवनके कष्ट भी सुखदायी होते हैं और पराधीन जीवनके सुखसाधन भी कांटेकी तरह शल्य रूप होते हैं इसलिये अपने घरकी बातें यदि वह गोपनीय है तो उसे प्रकाशित करनेमें लाभ नहीं हानि ही है। तुम्हारे प्रकाशित छिद्रको सुनकर लोग हंसेगे या तुम्हारी कमजोरी जानकर तुम पर हमला करेंगे और तुम्हारे कष्टको बढ़ावेंगे।

कोई भी गृहस्थ चाहे धनी हो या निर्धन, बलवान् हो या निर्बल, समझदार हो या कमसमझ, चतुर हो या मूर्ख, सदाचारी हो या कदाचारी, लोभी हो या निर्लोभ, उदार हो या अनुदार किन्तु वह सर्व-साधारण समाज के सामने सदा अच्छी हैसियतसे रहनेका प्रयत्न करता है। वह लोगोंकी दृष्टिमें सदैव अपने जन, धन, बुद्धि, बल, वैभव, प्रतिष्ठा, सदाचार, कीर्ति, उदारता और संतोष आदि सद्गुणोंकी (जो कि प्रत्येक गृहस्थमें होना आवश्यक हैं) धाक जमाए रखना चाहता है। भले ही वह उनमें अपनी हीनताका अनुभव करता हो पर समाजमें अपनी हैसियत अच्छी रहे इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अपनी इस प्रतिष्ठाके बल पर ही व्यापारादिके द्वारा आर्थिक लाभ तथा व्यवहारके द्वारा कीर्तिका उपार्जन करता है यदि कोई स्त्री अपने घर की इन बातोंको दूसरोंसे प्रकाशित करे या कोई पुरुष अपनी स्त्रीके विरुद्ध दूसरों में उसकी निन्दा प्रकाशित करे तो उसका व्यापार या सामाजिक व्यवहार हीन हो सकता है जिससे दोनोंके जीवन कष्टप्रद हो जाते हैं और कभी-कभी ऐसे प्रसंगों पर लोग आत्मघात या एक दूसरे के घात तकका प्रसंग उपस्थित कर लेते हैं अथवा दूसरों द्वारा अपमानित होकर जीवन भर दुख पाते हैं इसलिए अपने गृह संबंधी सुख दुखको बाहर प्रकट न करे।

इसके साथ ही साथ यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि मिथ्या परनिन्दा और आत्म प्रशंसासे भी मनुष्य की कीर्ति नहीं फैलती न उसकी अच्छी हैसियत समाजमें समझी जाती है, इसलिए उससे भी सदैव दूर रहना चाहिए। संसारका यह नियम है कि यदि तुम अपनी प्रशंसा स्वयं करोगे तो दूसरे लोग तुम्हारे इस कार्य की आलोचना करेंगे जिससे तुम्हारी निन्दा होगी। यदि तुम अपने अवगुणोंकी निन्दा करोगे तो दूसरे लोग तुम्हारी इस गुणकी प्रशंसा करेंगे और उनकी इस आलोचना से तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी।

अपने अवगुणोंकी स्वयं निन्दा करनेसे अपने अवगुण दूर हो जाते हैं यदि मनुष्य उन्हें अवगुण मानता रहे तो। इस मार्गपर चलनेवालेको यह ध्यान सदैव रखना चाहिए कि वह अवगुणोंको निर्लज्ज होकर प्रकट न करे। निर्लज्ज पुरुष अवगुणको गुण मान लेता है। उसे ग्राह्य समझता रहता है। उस दुर्गुणको छोड़ता नहीं और अपनी उस अकीर्तिको ही कीर्ति मानकर प्रसन्न होता है। इसके विरुद्ध

सुजन पुरुष अपने अवगुण की निन्दा करता हुआ उस दोषसे मुक्त होनेका प्रयत्न करता है। जब तक वह दुर्गुण दूर नहीं होता लज्जित होता है। लज्जा ऐसे स्थल पर भूषण है। ऐसे प्रसंगोंपर लज्जा न रहना एक महान् दुर्गुण है। यह दुर्गुण एक ऐसा अभेद्य किला है कि जिससे दूसरे सद्गुण उस मनुष्यमें प्रवेश नहीं पाते। वह सदाके लिए अवगुणी बन जाता है।

अपने अवगुणों की निन्दा वही मनुष्य करता है जिसे दुर्गुणोंसे प्रीति न होकर गुणोंसे प्रीति है, जो अवगुण त्यागकर गुणी बनना चाहता है। यही कारण है कि वह अन्य पुरुषके गुण अवलोकन करता व उन गुणोंकी 'प्रशंसा करता है। वह चाहता है कि अपने भीतर गुण ही विद्यमान हों पर यदि उनका स्वयं वर्णन किया जाय तो यही एक दुर्गुण है, इसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी तरह दूसरे व्यक्तियोंमें यदि सचमुच अवगुण हैं और उन अवगुणोंका प्रकाशन किया जाय तो यह भी एक दुर्गुण है। इससे भी बचना चाहिए।

श्रावक उपगूहन अंगका धारक है। वह किसी धर्मज्ञ पुरुषकी निन्दा नहीं करता, उसके अवगुण प्रकट नहीं करता किंतु गुण निरीक्षणकर उन्हें प्रकट करता है। इस प्रकारका स्वभाव किसी भी व्यक्तिके लिए अत्यन्त लाभप्रद होता है,ऐसा मनुष्य यदि दुष्ट पुरुषोंकी संगतिमें भी पड़ जाय तो उसपर उस कुसंग का असर नहीं पड़ता, क्योंकि वह अवगुणग्राही है ही नहीं। उसे तो वहाँसे भी गुण ले लेना हैं यदि कुछ मिलें तो, यदि गुण न भी हों तो वह उनके अवगुणों पर दृष्टि ही न देगा। अपनी इस प्रकृतिके कारण वह गुणी ही रहेगा, कभी अवगुणी न होगा।

इसी तरह जो व्यक्ति अपने भीतरके दोषोंका सदा निरीक्षणकर आत्म-निन्दा करता है उसके सम्पूर्ण दोष दूर हो जाते हैं। वह दिन प्रति दिन निर्दोष बनता जाता है, इसलिए श्री आचार्य कहते हैं कि निज निन्दा और परगुण प्रशंसा सम्पूर्ण सुखोंको प्रदान करनेवाली है।

गृहस्थ जीवनमें कभी कभी किसी किसी बाल, अज्ञान या धर्मद्वेषी पुरुषके साथ व्यवहार करनेका प्रसंग आता है उस समय कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। उन अज्ञानियों या धर्मद्वेषियोंके सामने आत्मनिन्दा या स्वदोष प्रदर्शन करना विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है। अज्ञानी तो वक्ता या उपदेश दाताको दुर्गुणी मान लेता है और उससे यह कुशिक्षा ग्रहण करता है कि जब ऐसे धर्मज्ञ पुरुषमें इतने दुर्गुण हैं जैसा कि वे कहते हैं तो मुझमें कौन बहुत दुर्गुण हैं। उसकी दुर्गुणों से घृणा हट जाती है। वह गुणी पुरुषमें दुर्गुण होना मानकर दुर्गुणोंका रहना कोई अधिक हानिप्रद बात नहीं मानता। इसी तरह वह सुजनसे अपनी प्रशंसा सुनकर आत्मतोषसे भर जाता है और अभिमानी होकर गुण प्राप्तिके लिए फिर कोई प्रयत्न नहीं करता।

धर्मद्वेषी पुरुष भी अज्ञानी पुरुषकी तरह स्वात्म-निन्दक पुरुषके वचनोंको ही प्रमाणमें उपस्थित कर धर्मात्माओंकी निन्दा करने लगता है और धर्मसे घृणा करने लगता है और अपनी प्रशंसा सुनकर अपने अधर्मकी भी प्रशंसा स्वयं गाता है और इस तरह स्वात्मनिन्दक पुरुषकी सज्जनतासे अनुचित लाभ उठाता है। ऐसे व्यक्तियोंके सामने स्वात्म-निन्दा और परप्रशंसाका कोई मूल्य नहीं, इसलिए उनमें यह पद्धति न स्वीकार की जावे। उचित पात्रोंमें ही उक्त विधिके प्रयोगका उपदेश श्रीगुरुका है, यह समझकर ही उक्त विधि स्वीकार करनी चाहिए॥ १४॥

एतस्यैव समर्थनार्थं निम्नश्लोकमाह—

इसी विषयके समर्थनके लिए आचार्य पुनः उपदेश कहते हैं—

(उपजातिः)

वादो विवादोऽपि मिथो विधेयः
कदापि न प्राणहरः कुबुद्ध्या ।
ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिर्विधेयो
यतो भवेच्छान्तिकरी प्रवृत्तिः ॥१५॥

वाद इत्यादिः—कुबुद्ध्या दुर्बुद्ध्या मिथः परस्परं वादः परपराजयेच्छया प्रवर्त्तमानो वार्त्तालापः कदापि न विधेयो न कर्त्तव्यः । विवादः विरोधोत्पादको वादो विवादः सोऽपि नाङ्गीकर्त्तव्यः । यतः कषायोत्पादकत्वादसौ प्राणघातकः प्राणहरो भवति । आत्माभिमानदग्धानां प्राणिनां स्वपराजयः परविजयोत्कर्षश्च प्राणघाताद्प्यधिककष्टप्रदो भवति इति यावत् । वस्तुतस्तु नायमेकान्तः । किन्तु बुद्धिमन्तः तत्त्वान्वेषिणो वस्तुस्वरूपं ज्ञातुमिच्छन्ति तदा कुतत्त्वखण्डनं सुतत्त्वप्रकाशनं प्राणदायकमिव भवति । अतएव पूर्वोक्तविधीन् स्वबुद्धिवैभवेन तोलयित्वा यथावसरं तत्र प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा कार्या । एवं विचार्य विहिता स्वप्रवृत्तिः सदा शान्तिकरी भवेत् स्यात् ॥ १५ ॥

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलाल-
सिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

किसी भी पुरुषके पराजयकी इच्छासे परस्पर कलह और वैरका उत्पादन करनेवाला वाद और विवाद नहीं करना चाहिए । अनेक प्राणी जो अपने घमंडमें ही चूर रहते हैं, अतत्त्व को ही तत्त्व समझकर अपनेको धर्मज्ञ या धर्मतत्त्ववेत्ता मान लेते हैं वे मानधनी वादमें अपनी पराजय देखकर जीवित ही प्राण देनेको तयार हो जाते हैं—स्वपराजयसे होनेवाली तीव्रकषायके कारण आत्मघात कर लेते हैं । उनकी इस कुबुद्धिको धिक्कार है जो उन्हें तत्त्वज्ञान नहीं उत्पन्न करने देती । आचार्य उपदेश देते हैं कि ऐसे पुरुषोंसे वादविवाद नहीं करना चाहिए । जिन्हें वादविवाद तत्त्वदर्शक न हो सके बल्कि उनके लिए जीवितावस्थामें भी प्राणघातक जैसा हो जावे । सज्जन सद्‌गुणग्राही पुरुषको अतत्त्वखंडन पूर्वक तत्त्वज्ञान की कथनी करनी हानिप्रद नहीं है । उपर्युक्त विधिको यथार्थ समझकर ही इसका प्रयोग करना शान्तिको उत्पन्न करता है, अन्यथा तत्त्वोपदेशकके हृदयमें भी अशान्ति उत्पन्न होकर हानिकर हो सकती है ।

भावार्थ—अपने विषयका दूसरेके प्रति प्रतिपादन करना तबतक नहीं बनता जब तक कि उस विषयका खण्डन न किया जावे जो हमें इष्ट नहीं है । इस कार्यको ही वाद कहते हैं । तथा यही वाद जब विशेष रूपमें बढ़ जाता है तो उसे विवाद कहते हैं यदि वह स्वजय और परपराजय चाहते हुए किया जाय । इसके विरुद्ध बिना जयपराजयकी इच्छासे तत्त्वका वर्णन मिथ्यातत्त्वके खण्डन पूर्वक परहित कामनासे किया जाय तो वह वादविवाद नहीं बल्कि उसे तत्त्व निरूपण कहते हैं ।

तत्त्वका निरूपण और अतत्त्वका निवारण तत्त्वदर्शी वीतरागी समदृष्टि साधुको भी करना आवश्यक होता है । वे कुपथगामी जीवोंके सुपथपर लगानेकी इच्छासे ऐसा करना अपना श्रेष्ठ कार्य मानते हैं । कभी कभी वस्तुतत्त्वको सर्वसाधारणमें प्रकाश करने, सद्धर्मकी प्रभावना करने और अधर्मके प्रभाव और प्रसारको रोकनेके लिए मिथ्याबुद्धिवालोंके साथ उनके मिथ्यावादकी पराजय और सम्यग्वादकी विजय करनेके लिए वादविवाद भी उन समदृष्टि साधुओंको करना पड़ता है । तथापि वह दोषाधायक नहीं है; क्योंकि वह वादविवाद उसके आधारभूत मिथ्यावादोंका निराकरण कर लोगोंको सम्यग्वादपर

चलानेके लिए किया गया है। इसमें यदि कोई प्रेरणात्मक शक्ति है तो वह है मुनिके अन्तरंगमें सर्वहित कामना। वे चाहते हैं कि लोग अधर्मका मार्ग छोड़ आत्महितकारी मार्गका आश्रय लेवें। इस प्रकारकी सुबुद्धिके द्वारा किया गया वादविवाद प्राणघातक नहीं होता, इसका निषेध नहीं है। गृहस्थ भी ऐसी कामनासे यदि वादविवाद करे तो हानि नहीं, किन्तु इस प्रसंग पर श्री आचार्यने जो वादविवाद परस्पर न करनेका उपदेश दिया है उसका सारांश यह है कि कुबुद्धि पूर्वक किया हुआ विवाद जीवित ही प्राणघातक हो जाता है, वह नहीं करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिमानके वश तत्त्व अतत्त्वकी चिन्ता न करते हुए केवल परके पराजय और अपने विजयकी इच्छासे वादविवाद करना परके लिए प्राणपीड़ाकारक होनेसे हेयरूप है।

जिनका उद्देश्य केवल दूसरोंका मान खण्डन ही है वे इस बातको भी नहीं देखते हैं कि हम सत्पक्ष पर हैं या असत्पक्ष पर, यदि प्रतिवादी सत्यपक्ष पर भी हो तो वादी असत्पक्षकी भी पुष्टि करके प्रतिवादीको नीचा दिखाना चाहता है और अपने पक्षको सत्य सिद्ध करके अपने अहंकारकी पुष्टि करता है। ऐसा करना पाप है, असत्यपापक; अभिमानवर्द्धक और परप्राणपीड़क होनेसे यह त्याज्य है।

अपने हितकी इच्छा करनेवाले गृहस्थको इस मिथ्या विवादसे दूर रहना चाहिए। यह बात नहीं है कि इससे पर प्राणघात ही हो बल्कि स्वघात भी हो सकता है। वादी जब केवल स्वाभिमानके पुष्ट करनेके लिए प्रतिवादीके सत्पक्षका भी खण्डन करना चाहता है तो यह नितान्त संभव है कि प्रतिवादीकी अपेक्षा वादी ही इस वाद-विवादमें हेटी खा जाय अर्थात् पराजित हो जाय। यह बात वादीके लिए भी दुःखदायक होगी और अपने पराजयसे उत्पन्न दुःखके कारण यह भी संभव है कि उसे भी आत्मघात कर लेना पड़े। यह वाद विवाद वैर विरोधका कारण हो जाता है और इससे उभयवादी परस्पर एक दूसरेके भी प्राणघातक हो जाते हैं। उभय वादियोंका पक्ष लेनेवाले इतर मनुष्य भी कलहके बढ़ानेवाले हो जाते हैं और उनमें भी कषायातिरेक बढ़ जानेसे एक महान् हिंसाका जन्म होता है इसलिए श्रावकको कभी भी ऐसे वाद विवादको जिसका आधार केवल कुबुद्धि हो अपने हृदयमें स्थान नहीं देना चाहिए।

इस कुबुद्धिका परिणाम यह भी निकलता है कि वादी या प्रतिवादी असत्पक्षके पोषणके द्वारा सन्मार्गसे स्वयं विमुख हो जाता है और यदि असत्मार्गकी पुष्टि करके स्वाभिमानकी रक्षा कर भी ली तो भी उसका अन्य उपस्थित जनता पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि जनता तत्त्व समझती है तो जीते हुए वादी या प्रतिवादीको कट्टर धूर्त समझेगी और यदि जनता तत्त्व नहीं समझती तो वह सम्यग्मार्गसे अर्थात् आत्महितके मार्गसे दूर होकर अपना अकल्याण कर सकती है और वह पाप उस व्यक्तिके ऊपर होगा जो असत्पक्षका पोषणकर उसे अहित मार्गकी तरफ प्रेरित करता है।

किसी भी दृष्टिकोणसे इस प्रकारकी कुबुद्धि पूर्वक किया हुआ वाद विवाद सराहनीय नहीं है, इसलिए इसे महान् हिंसाका कारण जानकर त्याग देना चाहिए तथा विवेक पूर्वक पूर्वोक्त सम्पूर्ण विधिको इस पद्धतिसे स्वीकार करनी चाहिए कि जिससे पारस्परिक वैर विरोधको स्थान न मिले और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति ऐसी हो जो हमारे लिए या दूसरोंकेलिए शान्ति उत्पन्न करनेवाली हो। कलहात्मक चित्तवृत्ति इस लोक और परलोक दोनोंमें अशान्ति पैदा कर हमें कषायवान् बना देती है जिससे भव-भवमें भ्रमण करना पड़ता है व कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसलिए श्रावकको अपने हितकी कामनासे विवेक पूर्ण कार्य करना चाहिए॥ १५॥

इस प्रकार आचार्य श्रीकुन्थुसागरविरचितश्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत प्रभा नामक व्याख्यामें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्रीः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रश्नः—जघन्यनैष्ठिकस्यैव किं चिह्नं विद्यते वद ?

—यहां नैष्ठिक श्रावकका स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। उसके जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं, इसलिए सबसे प्रथम जघन्य नैष्ठिक श्रावकके क्या लक्षण हैं ऐसा शिष्य प्रश्न करता है। इसका उत्तर श्री आचार्य इस प्रकार देते हैं—

(वसन्ततिलका)

पूर्वोक्तपाक्षिकजनान् प्रविहाय शेषाः
सर्वेऽपि नैष्ठिकजनाः कथिताः क्रमेण।
तेषां हि वच्मि सकलं सुखदं स्वरूपं
तद्बोधशून्यजनतादिहिताय भक्त्या ॥१६॥

पूर्वोक्तेत्यादिः—सदाचारपरायणेषु श्रावकेषु पाक्षिको नैष्ठिकः साधकश्चेति भेदत्रयेण भिन्नेषु आद्यानां पाक्षिकाणां स्वरूपं तच्चिह्नानि च प्रथमाध्याये निरूपितानि। तान् पूर्वोक्तपाक्षिकजनान् प्रविहाय शेषास्तु पाक्षिकातिरिक्ताः साधकावस्थामप्राप्ताः श्रावकाः क्रमेण नैष्ठिकाः कथिताः। तेषां स्वरूपं साङ्गोपाङ्गं क्रमशः कथयन्ति श्रीआचार्यपादाः। भक्त्या परिपूर्णश्रद्धया; तान् प्रति ये नैष्ठिकश्रावकस्वरूपमजानानाः सन्ति। एतत्प्रतिपादनं श्रोतृभ्य उभयलोके सुखकरं भविष्यतीत्यप्याचार्येण प्रतिपादितमिति ॥ १६ ॥

सदाचार का आराधन करनेवाले श्रावकोंके पाक्षिक नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किए गए हैं। उनमें पाक्षिकों का स्वरूप प्रथमाध्यायमें कहा है। तद्रूप आचरण करनेवाले पाक्षिकोंके सिवाय तथा जिन्होंने अभी साधक अवस्था प्राप्त नहीं की ऐसे सम्पूर्ण श्रावक नैष्ठिक हैं। उनका सरल, सुबोध और सम्पूर्ण स्वरूप श्रीआचार्य—उन मनुष्योंके हितके लिए, जो इस विषयसे अपरिचित हैं, क्रमशः वर्णन करेंगे।

भावार्थ—श्रावक उस गृहस्थ को कहते हैं जो सद्गुरुके उपदेशको स्वहितबुद्धिसे श्रद्धा पूर्वक सुनता है और तदनुकूल आचरण करता है। ऐसे श्रावक तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं, जिनके नाम पाक्षिक नैष्ठिक और साधक हैं। पाक्षिक श्रावकका स्वरूप प्रथम अध्यायमें लिखा गया है। नैष्ठिक श्रावक प्रथम प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तकके सम्पूर्ण श्रावकोंको कहते हैं। साधक श्रावकोंकी कोई अलग प्रतिमा—श्रेणी नहीं होती किन्तु अन्त समय समाधिपूर्वक मरण साधनेवाले पाक्षिक या नैष्ठिक श्रावक ही साधक कहलाते हैं। इस विषयमें कुछ ग्रंथकारोंका यह भी मत है कि पहिलीसे लेकर १० वीं

प्रतिमा तक नैष्ठिक हैं और ११ वीं प्रतिमावाले श्रावकगण यथार्थ आत्महित साधक साधु पदकी आराधना और उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न साधन करनेसे साधक कहे जायँ तथा समाधिमरण साधनेवाले पाक्षिक या नैष्ठिक भी साधक इसीलिए कहे जाते हैं कि वे अपने जीवनके अन्तिम भागमें जब कि वे इस जीवनके रक्षणमें अपनेको समर्थ नहीं पाते समाधि साधनेका प्रयत्न करते हैं। अर्थात् उक्त साधु पदकी आराधना करते हैं जिसे साधनेके प्रयत्नके कारण ११ वीं प्रतिमाधारियोंको साधक कहा है। तात्पर्य यह कि जो परमार्थपथप्रस्थायी परम वीतराग तपस्वी साधु द्वारा साधी जानेवाली समाधि (रागद्वेष रहित साम्यभाव) को साधनेका साक्षात्प्रयत्न करते हैं वे साधक हैं।

यद्यपि साधु पद प्राप्त करने की अभिलाषा प्रत्येक श्रद्धावान् श्रावकको होती हैं क्योंकि मुक्ति लाभका वास्तविक मार्ग तो वही है। तथापि सभी श्रेणी (प्रतिमा) के आराधक उस साधु पदके साधनेका साक्षात्प्रयत्न नहीं करते। उनका साक्षात् प्रयत्न अपनी श्रेणीके आचारणको निर्दोष बनाने और अपनेसे आगे की श्रेणीको प्राप्त करनेके लिए होता है। साधु पद प्राप्तिके मार्गमें वे अवश्य हैं पर उनके लिए वह सुदूर है जब तक कि वे मध्यम श्रेणियोंको पूरा नहीं कर लेते। ११ वीं प्रतिमावालेकेलिए या समाधिगत व्यक्तिके लिए न तो कोई अन्य श्रेणी है और न समाधिगत व्यक्तिके लिए अब मध्यम श्रेणी प्राप्त करनेका समय है, अतः वे दोनों साधु पदके आचरणोंका ही अभ्यास करते तथा उसी की भावना करते हैं। समाधिगत प्राणी तो अन्तिम समयमें साधुपद प्राप्त भी कर लेता है। यही कारण है कि उन दोनोंको साधक मान लिया गया है ॥ १६ ॥

इन पाक्षिक और साधकोंके सिवाय १ से ११ प्रतिमा तकके आराधक सभी श्रावक नैष्ठिक हैं। इनका सरल स्वरूप तद्विषयक बोध रहित जनताके हितकी आकांक्षासे ही प्रेरित होकर श्री आचार्य परम श्रद्धाके साथ इस द्वितीय अध्यायमें वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

(अनुष्टुप्)

मन्दोदयात्सुमन्दाद्वा योऽप्रत्याख्यानकर्मणः।
पञ्चविंशतिदोषान् हि सम्यक्त्वमूलनाशकान् ॥१७॥
त्यक्त्वा कुव्यसनं निन्द्यं यथाशक्ति च पातकम्।
अष्टमूलगुणान् भक्त्या गृहीत्वा सौख्यदान् सदा ॥१८॥
द्वित्र्यादिप्रतिमां युक्त्या गृहीतुं स्वपदं मुदा।
यतते स्वरसं पातुं स कौ दार्शनिकः सुधीः ॥१९॥ विशेषकम्।

मन्दोदयादित्यादि:—दर्शनमोहनीयकर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्योपशयात्क्षमात्क्षयोपशमाद्वा जीवानां सम्यक्त्वस्योत्पत्तिर्भवति। केवलं सम्यक्त्वमासाद्याजीवो न संयमभूमिसमारोहकोऽतएव सोऽसंयमसम्यग्दृष्टिरिति चोच्यते। यदा खलु तस्यैव प्राणिनोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्कस्य मन्दोदयो भवति तदा तत्कर्मणो विशेषमन्दावस्थायां स सम्यग्दर्शनस्य मूलतो विनाशकान् पञ्चविंशतिसंख्यकान् (शङ्का कांक्षा-विचिकित्सा-मूढदृष्टि अनुपगूहन अवात्सल्य अस्थिरीकरण-अप्रभावना इति दोषाष्टकं, ज्ञान-पूजा-कुल-जाति-बल-संपत्ति-तपस्या-शारीरिकसौन्दर्यविषयकं मदाष्टकं, कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरुत्रयं तत्तदाराधकत्रयं च मिलित्वा षडनायतनानि, लोकमूढता देवमूढता गुरुमूढता इति मूढतात्रयं इति सर्वान् संगृहीतान् पञ्चविंशतिदोषान्) परित्यज्य, तथा लोके शास्त्रे च निन्द्यं निन्दास्पदीभूतव्यसनसप्तकं द्यूतम्, मांसभक्षणम्, मद्यपानम्, वेश्यागमनम्, परस्त्रीवांछनम्, चौर्यम्, आखेटकम्, अपि त्यक्त्वा। देशतः हिंसा, अस-

त्यम्, स्तेयम्, कुशीलम्, परिग्रहश्चेति पापपञ्चकं च शक्त्यनुकूलं त्यक्त्वा श्रद्धापूर्वकं कल्याणकारकान्—मद्य मांस-मधु-पिप्पल-वट-प्लक्ष न्यग्रोध उदम्बरत्यागस्वरूपान् अष्टमूलगुणान् गृहीत्वा धृत्वा यो द्वितीयतृतीयादिप्रतिमाव्रतं गृहीतुं प्रयत्नशीलः साकांक्षश्च भवति स किल प्रथमप्रतिमाराधको भवति। स एव "दार्शनिकः" इति शास्त्रे लोके च गीयते। स बुद्धिमान् दार्शनिकस्सदा स्वपदं मुक्तिस्वरूपं प्राप्तुं स्वरसं स्वात्मानन्दोत्थं स्वानुभवरूपं रसं च पातुमास्वादयितुमपि प्रयतते।१७।१८।१६।

मोहनीयकर्म दर्शनमोह और चारित्रमोहके भेदसे दो प्रकारका है। दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियां और चारित्रमोहकी २५ कुल २८ प्रकृतियाँ हैं। इनमेंसे दर्शनमोहनीयकी ३ तथा अनन्तानुबन्धीकी ४ कुल सात प्रकृतियां सम्यग्दर्शनका घात करती हैं। जब इनका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है तभी जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। यहाँ अनन्तानुबन्धी चारके उपशम और क्षयोपशमसे उनका अनुदय लेना चाहिये, क्योंकि उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारका यदि सत्त्व होता है तो वहां उनका उदय नहीं होता ऐसा नियम है। फिर भी ऐसे जीवके सम्यक्त्वके दोष अप्रत्याख्यावरण चारके अत्यंत मंद होनेसे दूर होते हैं। वह सम्यक्त्वके घातक–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोष तथा–ज्ञान, प्रतिष्ठा (यश), कुल, जाति, शक्ति, संपत्ति, तपस्या और शरीरसौंदर्य इन आठके आश्रयसे उत्पन्न आठ प्रकारका मद और–कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु तथा कुदेवके आराधक, कुशास्त्रके स्वाध्याय करनेवाले और कुगुरुसेवी ऐसे ६ प्रकारके अनायतन तथा–लोकमूढ़ता देवमूढ़ता एवं गुरुमूढ़ता ऐसी ३ मूढ़ता सब मिलाकर २५ प्रकारके दोषोंको दूर करके सम्यग्दर्शनको निर्मल बनाता है। यही प्राणी इसी अप्रत्याख्यानकषायके अनुदयमें द्यूत, मद्य, मांस, वेश्यागमन, चोरी और शिकार इसप्रकार सातों निन्दनीय व्यसनोंका त्याग देता है। हिंसा, झूठ बोलना, चोरी करना, शील न पालना और अति संग्रह रूप पांचों पापोंसे यथाशक्ति दूर रहता है।

यह बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर, मद्य, मांस, मधु रूप आठ अति हिंसाकारक पदार्थोंके खानेका त्यागकर आठ मूलगुणोंका पालन करता है। वह ऐसा भाव रखता है कि संयमरूपी महलकी मूलभित्तिस्वरूप ये आठ मूलगुण मेरे लिए यथार्थमें कल्याणकारक हैं। संयमके बिना इस दुःखमय संसारसे छुटकारा मिलना असंभव है। परिपूर्ण संयमका पालन प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें उसे अपने लिए संभावनीय नहीं प्रतीत होता फिर भी उसकी भावना उसे प्राप्त करनेके लिए सदा रहती है वह प्रथम प्रतिमाका आराधक होने पर भी दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओंके पालन करनेके प्रति सदा उत्सुक रहता है। उसकी अकांक्षा सदैव आत्मपद प्राप्ति तथा आत्मानुभवके आनंदसे प्राप्त अमृतको आस्वादन करनेकी रहती है। वह बुद्धिमान् निःसंशय आत्मोत्कर्षके लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐसा गुणवान् पुरुष लोक व शास्त्रमें 'दार्शनिक' अर्थात् प्रथम दर्शन प्रतिमाका धारी माना जाता है।१७।१८।१६।

प्रश्नः—**किं सम्यक्त्वस्य चिह्नं स्यात् कदा वा वद मे गुरो ?**

नैष्ठिकश्रावकस्वरूपनिरूपणावसरे प्रथमं तावत् सम्यक्त्वमूलनाशकानां पञ्चविंशतिदोषाणाम्परित्यागस्योपदेशः कृतः। तत्र न ज्ञायते यत् किं सम्यक्त्वस्य चिह्नमस्ति कदा वा तद्भवति तदुत्पत्तिनिमित्तं किमित्यर्थः हे गुरो ! तत्सर्वं मे कथय।

इस द्वितीयाध्यायके प्रारम्भमें नैष्ठिक श्रावकका वर्णन प्रारम्भ करते ही आचार्य महाराजने

सम्यक्त्वके २५ दोषोंके त्यागका उपदेश दिया है। शिष्य कहता है कि सम्यक्त्वकी क्या पहिचान है और वह किस निमित्तसे होता है यह बात गुरुवर्य मुझे पहले बतावें। इस प्रश्न का गुरु उत्तर देते हैं—

(अनुष्टुप्)

मोहस्य सप्तप्रकृतेः क्षयादुपशमान्नृणाम् ।
शुद्धचिद्रूपमूर्तेर्वा यथावत्स्वपरात्मनाम् ॥ २० ॥

सुसत्यार्थस्वरूपस्य दर्शकं बोधकं प्रियम् ।
सम्यक्त्वं जायते शुद्धं जन्ममृत्युजराहरम् ॥ २१ ॥

सद्देवगुरुधर्मादौ संसारक्लेशनाशके ।
तत्पश्चात्स्वात्मनि श्रद्धा जायते विमलेऽचले ॥ २२ ॥

मोहस्येत्यादिः—संसारावर्त्तवर्त्तिनां संसारिजीवानां संसरणकारणेषु कर्मसु मोहनीयमेव प्रबलतमं कर्म वर्तते। दर्शनचारित्रमोहनीयभेदेन द्विधा भिन्नस्य तस्य मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्क-स्वरूपसप्तप्रकृतेस्सर्वथा क्षयात् तदुपशमात् क्षयोपशमाद्वा स्वस्य शुद्धचिद्रूपमूर्तेः आत्मनः यथावद् बोधो भवति। अथवा स्वस्वरूपस्य परस्वरूपस्य च यथार्थतया भेदभासनं भवति। एतत्स्वपरावभासनं प्राणिनामाल्हादकरं भ्रम-विनाशकं च भवति तदेव जन्म-जरामरण-स्वरूपसंसारपरिभ्रमणनिवारकं शुद्धं सम्यक्त्वं अस्ति सत्यार्थस्वरूपे आप्ते सद्गुरौ आत्महितकारके जिनप्ररूपिते सद्धर्मे शुद्धचैतन्यमूर्तिस्वरूपे स्वात्मनि दृढा श्रद्धा सम्यक्त्वे सत्येव भवति: संसारार्णवोत्तीर्णानां तेषां संसारक्लेशनाशकत्वात्। शुद्धसम्यग्दर्शनेन विना संसारदुखतरणस्य नास्ति कश्चिदुपायः। अतस्तत्प्राप्त्यर्थमेव सदा यत्नः कार्यः। २०। २१। २२।

इस संसार समुद्रकी उत्तुङ्ग तरङ्गोंमें यहां वहां भटकनेवाले प्राणीको भ्रमण करानेवाले अष्ट कर्मोंमेंसे मोहनीय कर्म ही प्रबलतम कारण है। इसके दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्य-ग्मिथ्यात्व ऐसी तीन प्रकृतियां तथा चारित्रमोहके २५ भेदोंमेंसे अनन्तानुबन्धीक्रोध मान माया लोभ ऐसी ४ प्रकृतियां इस प्रकार मिलकर ये ७ प्रकृतियां सम्यग्दर्शनका घात करती हैं यह बात पहले बता चुके हैं। इनके उपशम, क्षयोपशम व क्षयसे ही शुद्ध चैतन्यमय आत्माका बोध उत्पन्न होता है, अथवा यथावत् स्वरूपका या स्वात्मासे भिन्न पर पुद्गलादि पदार्थोंका भान होता है। यह स्वपरावबोध ही प्राणियोंके लिए आनन्ददाता और प्रिय होता है, इससे ही पर पदार्थोंमें स्वात्मबुद्धि रूप जो भ्रम था उसका उन्मूलन हो जाता है। इस परिणामका नाम ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है जो जन्म, जरा और मृत्युसे भयावह संसार–परिभ्रमणको रोकनेमें समर्थ है।

वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी सत्यार्थ आप्त; वीतराग परम गुरु और प्राणिमात्रके हितका प्रति-पादक जिनधर्ममें तथा आत्माके शुद्ध चैतन्य चमत्कार स्वरूपमें दृढ़ श्रद्धा इसी सम्यक्त्व गुणसे ही प्राप्त होती है। संसार चक्रसे परीत सद्देव और सद्गुरु ही संसारके दुखोंसे बचानेमें समर्थ हैं। शुद्ध सम्यग्-दर्शनके विना संसारोत्तरणका कोई दूसरा उपाय है ही नहीं अतः उसकी प्राप्तिके लिए सदा प्रयत्न करना ही चाहिए।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन यथार्थ वस्तु तत्त्वश्रद्धाको कहते हैं। यथार्थ वस्तुकी श्रद्धा ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने और यथार्थ ज्ञान ही सच्चारित्र पर चलानेका साधन है। इन तीनों उपायोंसे ही मनुष्यादि

प्राणिवर्ग इष्ट सिद्धिको प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। श्रद्धा, ज्ञान और क्रियाकी उपयोगिता न केवल मुक्ति मार्गके लिए आवश्यक है किन्तु संसारके किसी भी ध्येयकी प्राप्तिके लिए इन तीनों की नितान्त आवश्यकता है। इन तीनोंमें यद्यपि क्रिया ही इष्ट वस्तुकी प्राप्तिका मुख्य साधन है, तथापि— क्रिया करना या न करना इस बातपर अवलम्बित है कि हमें उसके करनेका ज्ञान हो। ज्ञानाभावमें अज्ञानियोंकी क्रिया ध्येय प्राप्तिके अनुकूल ही हो यह घुणाक्षर न्यायवत् है। यथार्थतया ऐसा हो ही नहीं सकता इसलिए यह निश्चित हुआ कि ध्येय प्राप्तिके प्रयत्नस्वरूप क्रियाके पूर्व उसका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। सभी संसारी प्राणी न तो सर्वज्ञ होते हैं और न विशेषज्ञ अतएव यथार्थ ज्ञानके लिए किसी विशेषज्ञ या सर्वज्ञके प्रति हमारी आस्था (श्रद्धा) नितांत आवश्यक है।

बहुतसे सज्जन ऐसा प्रश्न करते हैं कि पहले ज्ञान होता है और फिर ज्ञान द्वारा विज्ञात तत्त्वकी श्रद्धा होती है। बिना ज्ञानके श्रद्धा किसकी ? अतः सम्यग्दर्शनके पूर्व ही सम्यग्ज्ञान कहना आवश्यक है न कि पश्चात्। प्रश्नकर्ताका यह प्रश्न तब ठीक होता जब हममें वस्तुतत्त्वको परखनेकी पूर्ण सामर्थ्य होती। संसार और उसके कारण, मुक्ति और उसके कारण भूत तत्त्वार्थोंका निर्णय तद्विषयके विशेषज्ञ गुरु तत्प्रतिपादक देव या तत्प्रतिपादित आगमके बिना नहीं हो सकता और इनके उपदेशसे तत्त्वज्ञान तब हो सकता है जब इन पर हमारा विश्वास हो। विश्वासके बिना कौन किसकी बातको स्वीकार करे ? अतः यह सुनिश्चित हुआ कि तत्त्व निर्णयके परिपूर्ण साधनोंके अभावके कारण तत्त्वनिर्णयके लिए तात्त्विकी श्रद्धा अनिवार्य है। तभी तत्त्वनिर्णयरूप सम्यग्ज्ञान होगा और ज्ञानी हो जाने पर वह तद्रूप आचरण करेगा और उस आचरणसे ही इष्टध्येयकी प्राप्ति कर सकेगा।

आत्मतत्त्वको भूला हुआ यह प्राणी अपनी शक्तिको न पहिचानता हुआ ही कायर हो रहा है, आत्म-हित मार्गसे पराङ्मुख है। यदि वह आत्मतत्त्वको स्वयं समझ सकता तो अबतक संसारमें परिभ्रमण ही क्यों करता ? तब यह आवश्यकता हो जाती है कि आत्मज्ञानी पुरुषोंके उपदेश और वचनों पर श्रद्धाकर वह आत्मशक्ति पर विश्वास करे और तत्पश्चात् आत्मतत्त्वको पहिचाने पुनः तदनुरूप आत्मप्राप्तिके लिए प्रयत्नरूप आचरण करे। उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह क्रम ही सर्वतोभद्र है। शंकादि अष्ट दोष, आठ मद, छैः अनायतन और तीन मूढ़ता रहित स्वात्म-श्रद्धाको ही शुद्ध सम्यग्दर्शन कहते हैं और सम्मग्दर्शनकी शुद्धता होना ही सर्व प्रथम श्रावककी दार्शनिक प्रतिमा है।२०।२१।२२।

प्रश्नः–पञ्चविंशति दोषाः के वद दार्शनिकस्य मे। तथा तेषां स्वरूपञ्च स्वसिद्ध्यै क्रमतो गुरो।

हे गुरो ! के ते पञ्चविंशतिसंख्यका दोषा ये सम्यक्त्वं दूषयन्ति तत्स्वरूपं मम हिताय कथय।

सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले २५ मल दोष कौनसे हैं ? गुरुवर्य मेरे हितके लिए उनका प्रतिपादन करें।

उक्त प्रश्नका—प्रक्षेपक श्लोकों द्वारा समाधान किया जाता है—

(अनुष्टुप्)

जिनागमोक्ततत्त्वेषु शङ्का दोषो निगद्यते ।
पश्चाद्विषयेच्छा च काङ्क्षा दोषो द्वितीयकः ॥ १ ॥

तृतीयो विचिकित्सा च मूढदृष्टिश्चतुर्थकः।
परदोषप्रकाशेच्छा परपातोन्मुखैषणा ॥ २ ॥
धार्मिकेष्वपि स्यादीर्ष्या विद्वेषः सप्तमो मतः।
जिनशासनकीर्तेस्तु दुर्मौढ्यादपकीर्त्तनम् ॥ ३ ॥
अष्टैते च सुदृग्दोषाः षडनायतनानि च।
त्रिमूढता मदा अष्टौ संयुक्ताः पञ्चविंशतिः ॥ ४ ॥
तद्विरुद्धाः गुणाः सर्वे सम्यक्त्वं पोषयन्ति ते।
कथयाम्यधुना तेषां स्वरूपं क्रमतः शृणु ॥ ५ ॥

जिनागमेत्यादिः—वीतरागहितोपदेशिसर्वज्ञत्वेन सुनिश्चितेन जिनेन्द्रेण प्रतिपादिते आगमे श्रद्धावतः सम्यग्दृशः कदाचित् मलदोषसद्भावात् तत्र तत्सत्यमसत्यं वेति संदेहो जायते तदा स **शङ्का** नाम दोषो वर्ण्यते। सम्यग्दृशो जिनोपदेशेन संसारकारणेषु विषयेषु विरक्तिमतः यदि तदभिलाषो भवेच्चेत् तदा काङ्क्षा नाम **द्वितीयो दोषः**। शरीरं मलमूत्रोत्पादकं स्वरूपतः दृष्ट्वापि रत्नत्रयपवित्रितस्य तस्य सत्कारकरणाय प्रवृत्तिमतः सम्यग्दृशः यदि कदाचित् तस्मिन् जुगुप्सा वर्तते तदा विचिकित्सा नाम **तृतीयो दोषः भवेत्**। मिथ्यामार्गप्रतिपादकानां दुर्दृशां स्तुतिप्रतिपादकं प्रशंसात्मकं वचनं व्याहरतः तस्य सुदृशः मूढदृष्टिः नाम चतुर्थो दोषः। तस्यैव सुदृशः परदोषोद्बोधनेच्छा स्वगुणप्रकाशनेच्छा च अनुपगूहनो नाम **पञ्चमो दोषः स्यात्**। सन्मार्गात्पतनोन्मुखान् पुरुषानवलोक्य तेषामुद्धरणाय कदाचित् मतिर्यदि न स्यात् तदाऽस्थितीकरणो नाम **षष्ठः सम्यक्त्वदोषः स्यात्**। धार्मिकानवलोक्य प्रीतिमतोऽपि तस्य यदि कदाचिद् ईर्ष्याविद्वेषश्चेत् तर्हि अवात्सल्यं नाम **सप्तमो दोषः**। परोपकारकरणमसमर्थस्य जिनमार्गस्य कीर्तिप्रसारं कामयमानस्यापि कदाचित्तदकरणेऽप्रभावना नामा-**ष्टमो दोषः** संपद्यते। एतेऽष्टदोषाः षडनायतनेन मदाष्टकेन त्रिमूढताभिः सङ्कलिताः सन्तः सम्यक्त्वविराधकाः **पञ्चविंशतिर्दोषा** भवन्ति। १। २। ३। ४। ५।

श्री जिनेन्द्रदेव, जिनमें कि वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशित्व गुणोंके कारण आप्तता सुनिश्चित की गई है उनके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनको जिनागम कहते हैं। जिनागमके प्रत्येक वचन पर सम्यग्दृष्टिको परम श्रद्धा होती है। जिनागमके वचनोंकी सत्यता पर संदेह होना सम्यक्त्वका **शंका** नामक दोष है। भगवान् जिनेशके उपदेशसे संसार परिभ्रमणके कारणभूत पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें उसे विराग होना चाहिए। यदि विषयोंकी अभिलाषा और उनके प्राप्त करनेकी आशा उसे रहे तो वह सम्यक्त्वका दूसरा **कांक्षा** नामा दोष है। किसी भी प्राणीका शरीर मल मूत्रादिका घर है तथापि, सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रसे पवित्रित साधु पुरुषके गुणोंमें प्रीति सम्यक्त्वके होने पर अवश्य होती है और वह शरीरकी अपवित्रताके कारण उनसे ग्लानि नहीं करता यदि करे तो तृतीय दोष **विचिकित्सा** नामका है। मिथ्यामार्गके प्रचारक मिथ्यग्दृष्टियोंकी और उनके कार्योंकी प्रशंसा करना **मूढदृष्टित्व** नामका चतुर्थ दोष होता है, इस दोषके कारण मिथ्यामार्गका प्रचार व उसकी प्रभावना होती है। दूसरे असमर्थ पुरुषके दोषोंके प्रकाशनकी इच्छा और अपने गुणकीर्तनकी अभिलाषा सम्यग्दृष्टिका अनुपगूहननामक **पांचवाँ दोष** है। सन्मार्गसे गिरनेवाले प्राणियोंके उद्धार करनेका उपाय न करना उन्हें पुनः सन्मार्ग पर न लगाना यह **अस्थितीकरण** नामका छठा दोष है। धर्मात्मा पुरुषोंको देखकर उनके प्रति प्रीति, श्रद्धा और भक्ति होनेकी अपेक्षा यदि ईर्षा और विद्वेष हो तो

वह **अवात्सल्य** नामका सातवां दोप है। संसारके प्राणी मात्रका उद्धारक जिनधर्म है। इसका सदा कीर्ति गान करना चाहिए। अनेक प्राणी उसकी कीर्तिसे आकृष्ट होकर भी अपने कल्याणके मार्ग पर लग जाते हैं, ऐसा न करना अथवा अपने निमित्तसे जिनधर्मकी अपकीर्ति होने देना सम्यक्त्वका **अप्रभावना नामक** आठवां दोप है। ये आठ दोप आठ प्रकारके मद तथा छह अनायतन और तीन मूढ़ता (जिनका कि विशेष स्वरूप आचार्यस्वयं आगे प्रतिपादन करेंगे) मिलकर सब पच्चीस दोप सम्यक्त्वके घातक हैं। ये दोष सम्यग्दृष्टिके दूपण और मिथ्यादृष्टिके लिए भूषण हैं। उसमें ये ही सब दुर्गुण पाए पाते हैं, सम्यक्त्व इतने दुर्गुणोंको एक बार ही नष्ट कर जीवको गुणवान् बनाता है।१।२। ।४।५।

प्रश्नः—निःशंकिताङ्गचिह्नं किं पृष्टे सत्युत्तरं मुदा।

निःशंकितनाम्नः प्रथमाङ्गस्य किं लक्षणम् अस्ति इति शिष्येण परिपृष्टे सति आचार्याः सानन्दम् उत्तरं कथयन्ति।

सम्यग्दर्शनके आठ गुणोंमेंसे प्रथम निशंकित नामा गुणका क्या स्वरूप है, शिष्यके ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य हर्षोत्फुल्ल हो उत्तर देते हैं।

(अनुष्टुप्)

वीतरागोक्तधर्मे हि श्रीदे देवे निरञ्जने।
स्वान्यप्रबोधके शास्त्रे सद्गुरौ शान्तिदे सदा॥ २३॥
अकम्पा निर्मदा श्रद्धा यस्यास्ति भवभेदिनी।
तस्य निःशंकिताङ्गं स्याच्छुद्धं मोक्षफलप्रदम्॥ २४॥

वीतराग इत्यादिः—यस्य सम्यक्त्वाराधकस्य महापुरुषस्य वीतरागोक्तधर्मे सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजिनधर्मे निरञ्जने रागद्वेषाज्ञानादिभावदोषरहिते-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-नाम-गोत्रान्तरायाष्टकर्मस्वरूप-द्रव्यमलरहिते च श्रीदे कल्याणमार्गप्रदायके देवे श्रीतीर्थंकरपरमदेवे तथा तदुपदिष्टे स्वान्यप्रबोधके स्वपरहितकारके शास्त्रेशान्तिदे तदनुकूलस्वाचाराचरणपूर्वकं संसारभ्रमणभीतान्यप्राणिगणानां श्रीवीतरागोक्तशास्त्रोपदिष्टपरमशान्तिप्रदायक मार्गप्रदर्शके सद्गुरौ अपि अकम्पा निश्चला निर्मदा साम्प्रदायिककुलाद्यभिमानरहिता भवभेदिनी भवदुःखापहारिणी श्रद्धा तस्य मोक्षफलप्रदं शुद्धं निःशंकितं नाम प्रथममङ्गं ज्ञेयम्॥ २३। २४॥

रागद्वेष अज्ञानादि सम्पूर्ण भावसंबंधी दोपोंसे जो रहित हैं तथा जिनके ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु-नाम-गोत्र और अन्तराय ये आठ भवभीतिदायक दोषाधायक कर्म दूर हो गए हैं अतएव जो द्रव्य भाव मलसे रहित होकर निरञ्जन हो गए हैं तथा जो कल्याण कारक मोक्ष मार्गका उपदेश करनेके कारण 'श्रीद' हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र तीर्थंकरदेवमें, तथा उनके द्वारा प्ररूपित स्वपरको उत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करनेवाले शास्त्रमें और संसार भ्रमणकी ज्वालासे जले हुए दूसरे प्राणियोंको शान्तिके मार्गप्रदायक सच्चे गुरुमें जिस भाग्यवानकी ऐसी दृढ़ श्रद्धा है, अर्थात् जो कितनी घोर विपत्ति पड़ने पर भी उसे अपने मार्गसे विचलित न कर सके तथा जो अन्तरङ्ग से पैदा हुई हो, "मैं जैन कुलका हूँ" ऐसे कुलाभिमानकी नींव पर जो न खड़ी हो, ऐसी परम-दृढ़ निश्चल संसार भ्रमणको छेद देनेवाली जिसे श्रद्धा है उसीके मुक्तिफल देनेवाला प्रथम "निःशंकित" नामा सम्यक्त्वका गुण होता है।२३।२४।

प्रश्नः—**निष्कांक्षितस्य चिह्नं किम्? सिद्ध्यै स्याद् वद मे गुरो।**

हे गुरो द्वितीयाङ्गस्य निष्कांक्षितनाम्नः किं स्वरूपं स्याद् इति मे स्वात्मज्ञानसिद्ध्यै वद।

हे गुरुदेव सम्यक्त्वके दूसरे निष्कांक्षित नामा गुणका क्या स्वरूप है वह मेरी आत्माके बोधकी सिद्धिके लिए कृपाकर कहिए—

(अनुष्टुप)

आदौ मध्येऽप्रिये चान्ते दुःखदे कटुके हृदि।
क्षणिके स्वात्मबाह्ये हि निन्द्येऽग्राह्ये परोद्भवे॥ २५॥
परित्याज्येऽक्षसौख्येऽनास्था कांक्षा यस्य दुःखदा।
निष्कांक्षिताङ्गमेवापि तस्य स्यान्निर्मलं प्रियं॥ २६॥

आदावित्यादिः—संसारिणः प्राणिनः इन्द्रियोत्पन्नसुखेषु मग्नाः सन्त्यनादित एव न ते स्वात्मानस्सुखमनुभवन्ति किन्तु मिथ्यात्वभावभ्रमभ्रमितं सत्युन्निन्द्रज्ञानचक्षुषः सम्यग्दृशः तत्र सम्यग्ज्ञानं जायते स हि पश्यति यत् आदौ मध्येऽन्ते चाप्रियं दुःखदं हृदि कटुकं क्षणिके स्वात्मबाह्ये अतएवाक्षसौख्ये दुःखमेव वर्तते। न तत्सुखम् स्वास्थम्, अपि तु शुद्धचैतन्यस्वरूपात्मविरुद्धपुद्गलादिभिः समुत्थम् अतएव परोद्भवं परसंयोगकालमात्रस्थायि निन्दनीयं सतामग्राह्यं परित्याज्यं चास्ति न तद्ग्रहणे सम्यग्दृशः दुःखदा कांक्षा अस्ति। इदमेव निष्कांक्षितं नाम निर्मलं प्रियं इष्टं सम्यक्त्वस्य अङ्गं अस्ति २५। २६।

संसारी प्राणी अनादि कालसे ही इन्द्रिय सुखोंको ही सुख समझ कर उनके प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करते आये हैं। आत्मिक सत्यार्थ सुखका उन्हें कभी अनुभव नहीं हुआ। जब तक मिथ्यात्वकर्मके उदयसे भ्रमबुद्धि है। तब तक आत्मिक सुखका अनुभव प्राप्त हो भी नहीं सकता है। जब मिथ्यात्व भाव स्वयं मिट जाता है और ज्ञानरूपी चक्षु मोहरूपी निद्रासे रहित हो जाते हैं तब उस प्राणीकी दृष्टि निर्मल हो जाती है और उस सम्यग्दृष्टिको संसारके सुखको उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंके संग्रह करनेमें और उनका भोग करनेमें रुचि उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रिय जन्य सुख आत्मासे उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि इन्द्रियोंको प्रिय पुद्गल पदार्थोंके निमित्तसे हुआ है वह परसे उत्पन्न पर पदार्थके संयोग काल तक ही रह सकनेवाला सुख निन्दनीय है। सज्जनोंके लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है इस लिए सम्यग्दृष्टिको उसकी इच्छा ही नहीं होती। यह विषयभोगकी अनिच्छा ही सम्यग्दर्शनका दूसरा **निष्कांक्षित** नामा अंग है।

भावार्थ—जागते हुए भी पुरुषके यदि नेत्रोंमें निद्राका असर है तो देखते और सुनते व नेत्र उघाड़े हुए भी उसके भ्रमरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। उसका ज्ञान उसके लिए हितकर हो यह बात नहीं है। उसके उस समयके ज्ञानकी सत्यार्थता अविश्वसनीय है। जब उसके निद्राकी खुमारी दूर हो जाती है तब वह स्वस्थ होता है और यह अनुभव करने लगता है कि मेरे नेत्र खुले होनेपर भी मेरा अब तकका ज्ञान बेकार था। निद्रा दूर होनेपर उसके नेत्र (दृष्टि) निर्मल हो जाते हैं और वह हेयोपादेय पदार्थका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें अपनेको समर्थ पाता है। मिथ्यात्वरूपी मोह निद्रासे अभिभूत है सम्यग्ज्ञान जिसका उस प्राणीकी भी वही अवस्था होती है। उस समयका उसका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही रहता है। वह वस्तु तत्त्वकी यथार्थता तक पहुँच नहीं सकता। परन्तु मिथ्यात्व निद्रा भंग होनेपर वही वस्तु तत्त्वका सम्यग्विवेचन कर सकता है तब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि जिन इंद्रिय विषयोंको हम सुख रूप

मानते थे वह हमारा भ्रम था। इंद्रिय विषयोंको एकत्रित करनेमें भी त्रास होता है। क्योंकि वे सहज ही प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त नहीं होते। उनके संग्रहार्थ व्यापार-कृषि-सेवा-वाणिज्य-शिल्प-लेखन आदि षट्कर्म करने पड़ते हैं, न्यायमार्गको भी अतिक्रान्त कर छलसे, बलसे, दूसरेका छीन करके, दूसरेको कष्ट पहुँचा करके, मिथ्या दावा करके भी संग्रह करना पड़ता है। इन सबमें हमारा वर्षोंका समय व्यतीत हो जाता है। संगृहीत वस्तुके संरक्षणमें भी कम परिश्रम नहीं होता सदा आकुल व्याकुल परिणाम रहते हैं। दूसरे पुरुषोंसे संघर्ष भी करना पड़ता है। इस संघर्षमें हानि भी उठानी पड़ती है। कभी कभी तो प्राण तक गंवा देने पड़ते हैं, इतनेपर भी यदि हम संग्रह कर सके तो "भोगे रोगभयम्" अर्थात् उनके भोगनेमें भी विपत्तिकी शंका है। यदि स्पर्शनेन्द्रियके विषयभूत काम भोगोंको अपनाते हैं और न्यायपूर्वक भी सेवन करते हैं तो शरीर क्षीण होता है,शक्ति कम होती है। क्षीण शक्ति होनेपर ज्वर आदि रोग प्राप्त होते हैं। यहां तक कि अतिशय काम भोगका परिणाम क्षय रोग है जिसका इलाज आज तक भी आजकलका महान् विज्ञान नहीं निकाल सका। अनेक चिकित्सक बिना क्षयवालेको भी क्षयका भय दिखाकर अधिक पैसा व कीर्तिका संपादन करनेका ही प्रयत्न करते हैं पर यथार्थतः इस रोगके होनेपर इसका इलाज विज्ञान अबतक नहीं निकाल सका। ऐसा भयानक रोग कामभोगके अतिरेकसे हीन शक्तिवाले प्राणीको शारीरिक धातुओंके क्षीण हो जानेके कारण होता है। रसनेन्द्रिय वशगत प्राणी रसना सुखका ध्यान रखकर अनेक गरिष्ठ रोगोत्पादक पदार्थोंका मात्रासे अधिक सेवनकर रोगी बन जाते हैं और अपनी जिह्वाको वशमें न रख सकने के कारण मृत्युको भी प्राप्त होते हैं। घ्राण इंद्रियसे वशी पुरुषकी भी ऐसी ही स्थिति है। चक्षु और श्रोत्रके वशवर्त्ती प्राणियोंकी दशा भी छिपी नहीं। इनके निमित्तसे अपनी व दूसरोंकी दुर्दशा होते हुए हम रोज देखते हैं। इससे कहना पड़ता है कि ये पंचेंद्रिय विषय भोगमें भी सुखदायक नहीं प्रतीत होते हैं। तीसरी बात यह है कि जब इनके संग्रह और भोगमें कष्ट हो तो क्या इनका वियोग इष्ट होगा? इस स्थितिमें विचार करनेपर ज्ञात होगा कि इनको सुख साधन माननेवाला जीव भला इनका वियोग कैसे सहेगा? वह इनके वियोगमें अत्यन्त दुखी होता है। सारांश यह कि इन्द्रिय विषयोंके संग्रह करने भोगने और वियोगमें भी महान् दुखका सामना करना पड़ता है अतः सम्यग्दृष्टि इन्हें हेय ही मानता है। वह समझता है कि इनका प्रारंभ, मध्य और अन्त तीनों दुखमय हैं। तब ये सुखदायी कैसे? इतने पर भी ये क्षणिक हैं, अल्पकालस्थायी हैं, अधिक काल नहीं ठहर सकते, तब वियोग अनिवार्य है। इनका संयोग भी कर्मोदयसे होता है वह। हमारे हाथ नहीं है तथा इनका वियोग भी हमारे हाथकी वस्तु नहीं है, न इनका संरक्षण हमारे हाथ है। तब ऐसे पदार्थ तो निश्चित दुःख दायक ही होंगे। वे कभी सुखदायी नहीं हो सकते। यह पुद्गलोद्भव सुख भी स्वात्मबाह्य होनेसे और क्षणिक होनेसे निन्दनीय है, ग्रहण करने योग्य नहीं है. अतएव जिसकी मोह निन्द्रा छूट गई है वह शुद्ध चैतन्य चमत्कार रूप, शुद्धानुभवका धनी, बाह्य विमुख अन्तर्दृष्टिका अधिकारी सम्यग्दृष्टि आत्मा इन इन्द्रियजन्य सुखोंकी कभी भी आकांक्षा नहीं करता। इसे सर्वज्ञ आप्तके वचन पर दृढ़ आस्था है अतः वह इन दुखदायी विषयोंकी वांछा स्वप्नमें भी नहीं करता। इस वांछा या इच्छाका न होना ही कांक्षारहितत्व या **निष्कांक्षितत्व** नामका सम्यग्दर्शनका दूसरा अंग है। यह गुण सम्यग्दृष्टिको संयमभावकी ओर प्रेरणा करता है। संघर्षमय जीवनसे बचाता है। अपरिग्रहत्वकी भावना उत्पन्न करता है। लौकिक व पारलौकिक उभय शान्तिका दाता है अतः **निराकांक्षता** सम्यग्दर्शनका प्रधान अंग है। और वह पवित्र गुण सम्यग्दृष्टि को अत्यन्त प्रिय है। २५। २६।

प्रश्नः—**निर्विचिकित्सताङ्गस्य किं चिह्नमस्ति मे वद।**

तृतीयगुणस्य कानि चिन्हानि सम्यग्दृष्टिषु उत्पन्ते यैस्तेषु तन्निर्णयः स्यात् इति प्रश्ने सति आह।

सम्यग्दृष्टियोंमें वे कौनसे चिह्न हैं जिनसे उनका तीसरा निर्विचिकित्सित गुण पहिचाना जाय, वह मुझे कृपाकर बताइए, शिष्यके इस प्रश्नपर आचार्य निम्न उत्तर देते हैं—

[वसन्ततिलका]

तुच्छे निसर्गमलिने सुगुरोश्च देहे
रत्नत्रयेण सुखदेन पवित्रभूते।
ग्लानिं करोति न च यो भुवि तस्य शुद्धं
सौख्यप्रदं भवति निर्विचिकित्सिताङ्गम्॥ २७ ॥

तुच्छ इत्यादिः— शरीरमात्रं खलु प्रकृत्यैव मलिनं भवति। नात्मनि तन्मलिनताया अंशो मनागपिवर्तते, रसरुधिरादिधातुमसकानां शरीरत एवोत्पत्तिर्भवति, शरीरस्याप्युत्पत्तिः रसरुधिरादिमलेनैव जायते। इति मलमूर्तिरेव एप देहः। तत्संपर्कादिष्टमपि भोग्यमभोग्यं भवति। तथापि यथा मलिनमपि स्वशरीररूपं दृष्ट्वा पुरुषस्तत्र प्रीतिं करोति। स्वशरीरसेवायां न कदाचित्प्रमाद्यति तथैव सम्यग्दर्शनगुणसम्पन्नः पुरुषो रत्नत्रयविभूषितस्य सद्गुरोः निसर्गमलिने तुच्छे सुखदेन रत्नत्रयेण पवित्रभूते देहे मनागपि ग्लानिं न करोति अपि तु तस्य शरीरसंपर्कात् पवित्रितं चरणरजः शिरसि धारयति तथा च तच्चरणारविन्दसेवया स्वजन्म कृतार्थं मन्यते। एवं पवित्रपरिणामपरिणतस्यैव नरस्य सम्यग्दर्शनस्य सौख्यप्रदं तृतीयं निर्विचिकित्सिताङ्गं भवति। २७।

संसारी प्राणी अनादि कालसे ही शरीरबद्ध है। जैसे कोई राजा अपराधी प्राणीको मलिन स्थान दुर्गन्धितस्थान रूप जेलखानेमें बांधकर डाल देता है वैसे ही मोहराजाने रसरुधिरादि अशुद्ध और दुर्गन्धित मलमूत्रोत्पादक, मलमूत्रसे उत्पन्न निरंतर भोज्यपदार्थोंको भी अभोज्य बनानेवाले इस देहरूपी महादुर्गन्धित जेलखानेमें जीवको कैद कर रखा है। शरीरका यह स्वरूप ही है फिर भी मनुष्य अपने शरीरसे प्रीति करता है उसकी यथायोग्य सेवा करता है। उसकी सेवामें न प्रमाद करता और न उससे घृणा करता है।

कामी पुरुष काम के वशीभूत हो कामिनीके मल मूत्र मय अंगोंका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है और उससे ही अपने जीवनको सफल मानता है। यदि वह अपने जीवनमें पत्नीपरिग्रह न कर सके तो अपने जीवनको निरर्थक मानता है। मांसभक्षी पुरुष प्राणीके मलमूत्रके स्थानभूत अंगोंको भक्षण करनेमें ग्लानि नहीं करता। जो संसारी प्राणी इतने स्थलोंमें शरीरके मलिन स्वभावको भुला सकता है वह सम्यक्त्वादिरूप रत्नत्रयोंसे विभूषित अनन्त गुणोंके भंडार और अनेक प्रकारके तप संयमके द्वारा पवित्र साधुओं की देहसे कैसे ग्लानि करता है यह आश्चर्यकी बात है। सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मात्मा पुरुषोंसे कभी ग्लानि नहीं करता किन्तु उनकी सेवा और परिचर्यामें सदा सावधान रहता है। जिसने इस प्रकार ग्लानिको जीत लिया है उसे सम्यक्त्वका तृतीय **निर्विचिकित्सित** अंग होता है। २७।

प्रश्नः—**यदास्ति सिद्धये किं मेऽमूढदृष्ट्यङ्गलक्षणम्।**

हे गुरो! मम इष्टसिद्ध्यर्थं चतुर्थाङ्गस्य लक्षणं कथय।

हे गुरो! मेरी इष्टसिद्धिके लिए चौथे अमूढदृष्टि अंगका लक्षण कहिए —

(वसन्ततिलका)

दुःखादिक्लेशकलिते कुटिले कुमार्गे
भ्रान्तिप्रदे सुखहरे विषमे विधर्मे ।
श्रद्धा स्थितिर्ह्यनुमतिः क्रियते न येन
याऽमूढताङ्गमपि तस्य परं पवित्रम् ॥ २८ ॥

दुःखादित्यादिः—सम्यग्दृष्टेर्जिनोक्तपवित्रमार्गे परमश्रद्धा भवति । स जानाति यज्जिनोक्तधर्म एव संसार-दुःखनिवारकोऽनुकूलःस्वात्मनो हितकारको ऽभ्रान्तोऽस्ति । तद्विरुद्धधर्मः दुःखादिक्लेशकलितः कुटिलः कापथः विषमः भ्रमोत्पादकः सुखविघातकोऽननुकूलः वर्तते अतः तस्मिन् तस्य श्रद्धा न जायते तत्र स्थितिमपि न करोति न तमनुमोदते । लोक-देव गुरुमूढतासु न तस्य कदापि प्रवृत्तिर्भवति इति तात्पर्यम् । शापादिभयात्, लौकिकलाभा-कांक्षया, संतानादिप्राप्त्याशयाकौटुम्बिकस्नेहवशादपि सम्यग्दृष्टिः मिथ्यात्वं मिथ्यात्वाराधकम् च न सेवते । सुमेरुवत्तस्याचला श्रद्धा जिनदेवे तत्प्रतिपादके धर्मे तदाराधके गुरौ च जायते । एतदेव सम्यक्त्वस्य परं पवित्रं "आमूढदृष्टिः" अङ्गमस्ति । २८ ।

सम्यग्दृष्टी पुरुषकी पवित्र जिनमार्गमें सुमेरुकी तरह अचल श्रद्धा होती है । वह यह निश्चित जानता है कि जिनोक्त धर्म संसारके महान् दुखोंसे बचानेवाला है वह आत्माके लिए हितकारक है, वह राजमार्गकी तरह प्राणिमात्रके लिए निर्भ्रान्त है । उससे विरुद्ध कोई भी धर्म विधर्म है और वह कभी भी हमारे संसार परिभ्रमणजन्य महान् दुखोंको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । वह सुख मार्गका कण्टक होगा भ्रममें फंसानेवाला होगा, आत्महितके प्रतिकूल होगा । सम्यक्त्वी न उस पर श्रद्धा लाता है, न वैसा विचार रखता है और न तदनुकूल आचरण करता है ।

लौकिक चमत्कारके वश होकर, शाप आदिका भयकर अथवा संतानादिकी अभिलाषावश अथवा धनकी आशासे अथवा ये हमारे कुटुम्बी जन हैं या सगे सम्बन्धी हैं इसलिए मिथ्यादृष्टि होने पर भी इनकी सेवा करना चाहिए, इन पर श्रद्धा करनी चाहिए यह बात सम्यग्दृष्टि कभी नहीं स्वीकार करता । उसके इस निर्मल अचल परिणामको **अमूढदृष्टि** नामक चौथा अंग कहा है । २८ ।

प्रश्नः—**वदोपगूहनाङ्गस्य किं चिह्नं विद्यते गुरो ।**

हे गुरो पञ्चमस्य उपगूहनाङ्गस्य किं लक्षणं विद्यते इति प्रश्ने सति उत्तरयत्याचार्यः ।

हे गुरो पांचवें उपगूहन अंगका क्या स्वरूप है इस प्रश्न पर आचार्य कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

विज्ञानशून्यमनुजैर्विमुखैः स्वधर्मात्
जाता जिनेन्द्रसुमतस्य यदि प्रणिन्दा ।
ज्ञानैर्धनैर्भवहरैरपनीयते यैः
तेषां हि सर्वसुखदं ह्युपगूहनाङ्गम् ॥ २९ ॥

विज्ञानेत्यादिः—अनादिपरम्पराप्रवाहादायाते जैनसंघे क्वचित् कदाचित् स्वधर्माद्विमुखैर्जैनाचारानभिज्ञैर्विज्ञा-नशून्यमनुजैः स्वात्मज्ञानपराङ्मुखैः पुंभिः अज्ञानात् प्रमादात् शारीरिक-मानसिकासामर्थ्यात् यदि जिनेन्द्रसुमतस्य

जैनमार्गस्य निन्दा जाता स्यात् तर्हि भवद्दर्यैः सत्पुरुषैः ज्ञानैर्धनैर्वा साऽपनीयते तेषामेव सर्वसुखदं पञ्चमं उपगूहनाख्यं अङ्गं भवति। उप-समन्तात् गूहनं-रक्षणं इति उपगूहनम्। येन केन प्रकारेण जैनमार्गस्य रक्षणं कर्तव्यम्। यदि जैनमार्गस्य लोके निन्दा प्रचालिता स्यात् तदा सर्वे प्राणिनस्ततो विमुखीभविष्यन्ति तथा सति कपाटितमेव धर्मद्वारं स्यात्, अतस्स्वसामर्थ्यात् धर्मरक्षणं कर्तव्यम्। तदेव उपगूहनाख्यं सम्यक्त्वस्याङ्गम्। २६।

अनादि कालीन परम्पराके प्रवाहमें चले आए हुए इस विशाल जैन संघमें यदि कभी किसी श्रावक या श्राविका मुनि या आर्यिकाके द्वारा अपने अज्ञान या प्रमादसे अथवा शारीरिक वाचनिक या मानसिक कमजोरीके द्वारा चरित्रसे विचलित हो जानेके कारण, अथवा पापोदयसे मिथ्या अपवादके कारण या दुष्ट जनोंके द्वारा द्वेषवश लगाए गए दोषोंके कारण जिनोक्त पवित्र धर्मकी निन्दा उत्पन्न हो जाय तो सम्यग्ज्ञानी, सुचरित पुरुषोंको जिस प्रकार बने उस अपवादको दूर करना चाहिए इस कार्यको सम्यग्दर्शनका उपगूहन अंग कहा है।

उपशब्दका अर्थ है सब तरफसे गूहन शब्दका अर्थ है रक्षण करना। इसका यह तात्पर्य हुआ कि जैनमार्गकी जो स्वयं शुद्ध है निन्दा योग्य नहीं है फिर भी यदि उसकी किसी प्रकार निन्दा हो तो सम्यग्दृष्टिको अपनी सामर्थ्यसे उसे दूर करना चाहिए और इस प्रकार जैनमार्गका रक्षण करना चाहिए। यदि धर्मात्मा पुरुष ऐसा न करेंगे तो लोकजन निन्दाके भयसे इस सद्धर्मसे विमुख हो जायँगे। ऐसी स्थितिमें धर्मका द्वार अपनेआप बन्द हो जायगा और लोकजन कल्याणके प्रदान करनेवाले इस मार्गसे वञ्चित रह जायंगे और उनका कल्याण न हो सकेगा, अतः उपगूहन अंगका पालन करना अत्यावश्यक है।

भावार्थ—यद्यपि जैनधर्म और उसे धारण करनेका मार्ग इतना सुन्दर और शुद्ध है, वह त्रिकालमें भी निन्दा योग्य नहीं हो सकता तथापि यह भी सुनिश्चित है कि धर्म कोई मूर्तिमान पदार्थ नहीं है। वह तो जीवका एक शुद्ध परिणाम रूप है। वह अन्तरंग धर्म या भाव धर्म कहलाता है और इन पवित्र परिणामवाले व्यक्तिका जो वचन या शरीरसम्बंधी आचरण है वह बाह्यचारित्र या द्रव्यचारित्र कहलाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि धर्म किसी न किसी व्यक्तिके आश्रित ही पाया जायगा जो भी उसे धारण करे।

यदि धर्मरूप आचरण करनेवाला व्यक्ति केवल द्रव्य आचरण पालन करता है। अन्तरंग चारित्र अर्थात् भावधर्मसे शून्य है वह धर्मात्मा नहीं है वह धर्मात्माकी बाह्य क्रियाओंकी नकल करके धर्मात्मा बनना चाहता है या अपनेको धर्मात्मा कहलाना चाहता है। ऐसी स्थितिमें ही यह अधिक सम्भव है भावशून्य क्रियाएँ उस व्यक्तिमें शिथिलता उत्पन्न करदें और उस शिथिलतासे ही केवल इस व्यक्तिकी निन्दा होनी चाहिए थी न कि धर्म की, तथापि इस स्थितिसे अनभिज्ञ अज्ञानी पुरुष धर्मकी ही निन्दा करने लगते हैं।

कभी कभी कोई कोई मिथ्यादृष्टि पुरुष सद्धर्मसे स्वभावगत विरोधके कारण सच्चे सन्मार्गी धर्मात्माको भी मिथ्या दोष लगा देते हैं और इस प्रकार धर्मात्माकी निन्दासे स्वयं धर्मकी निन्दा होने लगती है।

कभी कभी अनेक स्त्रियां, बालक, वृद्ध या रोगी पुरुष अपने उत्साह अनुराग व भक्तिवश धारण किए हुए धर्मको अपनी गलती या शारीरिक कमजोरीके कारण ठीक ठीक पालन नहीं कर पाते और इसलिए भी धर्मकी निन्दा लोकमें होने लगती है।

सारांश यह है कि निन्दा दो तरह उत्पन्न होती है या तो धर्म पालकोंकी गलतियोंसे या निन्दकों की अज्ञानता या दुर्भावसे। ऐसी स्थितिमें दूसरे धर्मात्मा व सज्जन पुरुषका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जैसे भी हो इस निन्दाके भागको दूरकर धर्मकी ज्योति जनतामें जागृत करे।

निन्दा दूर करनेके अनेक उपाय हैं जिनमेंसे कुछ निम्न प्रकार हैं—

१—धर्मपालकोंको धर्मका सच्चा स्वरूप समझाना अर्थात् उनके अज्ञानको दूर करना।

२—उनमें भावधर्म उत्पन्न करना जिससे वे केवल धर्मात्मापनेकी नकल करनेवाले न हों बल्कि सच्चे धर्मात्मा बन सकें।

३—यदि किसी असामर्थ्यसे वे चारित्रभ्रष्ट हुए हों तो उन्हें ऐसे मार्ग पर लगा देना ताकि वे प्रायश्चित द्वारा शुद्ध हो सन्मार्गगामी बन सकें।

४—यदि धर्मात्मा पुरुषोंको धर्मपालन करनेमें राजाकी ओरसे, राज्याधिकारियोंकी ओरसे, विरोधियोंकी ओरसे और देश कालकी परिस्थितिके निमित्तसे बाधा आती हो तो जिस प्रकार भी हो सके धनबल तनबल, विद्याबल, तपोबल और बुद्धिबलसे उस बाधाको दूरकर उन्हें धर्मपालन करने योग्य निर्विघ्न स्थिति पैदा कर देना।

५—धर्म प्रभावनाके अनेक अंगों द्वारा जैसे धर्मोपदेश देकर, अनेक उत्तम पुस्तकें वितरण कर, श्री जिनेन्द्रदेवके जलविहार रथोत्सव आदिके द्वारा, प्राचीन स्थानोंके उद्धारके द्वारा विद्यार्थियोंको ज्ञानवान् बनाकर, उत्तमोत्तम जिनमन्दिर बनवाकर, लोकोपकारी अनेक संस्थाओं जैसे—धर्मशाला—अन्नसत्र—औषधालय—जल पीनेके स्थान—विद्यालय—छात्रावास—विधवा संरक्षक आश्रम—ग्रंथालय आदिका निर्माण कर व अनेक धार्मिक स्थानोंके निर्माण आदिके द्वारा भी धर्मकी कीर्ति फैलाकर निन्दा दूर की जा सकती है।

ये सब अपगूहन अंगका पालन करनेके मार्ग हैं। धर्मात्माकी रक्षा व उसके सुधारसे तथा अज्ञानी व द्वेषी पुरुषोंमें ज्ञानके प्रचारसे धर्मकी निन्दा स्वयं दूर हो जाती है। जो अत्यन्त मिथ्यामती सद्धर्म द्वेषी हैं जिनमें ज्ञान प्रचारसे भी काम नहीं चलता उनमें अपने व्यक्तिगत बल व प्रभावके द्वारा वह स्थिति पैदा कर देनी चाहिए जिससे धर्मकी निन्दा दूर हो जाय। यह उपगूहन अंग है जो सम्यग्दर्शनका ५ वाँ अंग है। २९।

प्रश्नः—**किं स्थितीकरणस्य च चिह्नं वदास्ति मे गुरो।**

स्थितिकरणस्य किं चिन्हमस्ति ? हे गुरो मे कथय।

स्थितिकरण नामक अंगका क्या स्वरूप है ? हे गुरु कृपाकर बताइए—

(वसन्ततिलका)

स्वर्मोक्षशान्तिसुखतश्चलते जनाय
दत्त्वान्नवस्त्रनिलययानि हितोपदेशम्।
तत्रैव तं प्रणयतोऽतिदृढं करोति
श्रेष्ठं स्थितीकरणमस्य पवित्रमङ्गम्॥ ३०॥

स्वर्मोक्षेत्यादिः—सांसारिकसुखशान्तिस्थलं स्वर्गं पारमार्थिकसुखशान्तिस्थलं मोक्षं च प्राप्तुकामः पुरुषः क्रमेण मन्दकषायरूपामकषायरूपाञ्च प्रवृत्तिं करोति। यदि मोहोदयात्क्वचित् रागांधीभूतः कषायाविष्टश्च तस्मात् विचलति अथवा सांसारिकदुःखभूतबुभुक्षादारिद्र्यवशात् अशरणत्वात् हिततो विमुखीभूय कुमार्गगामी भवति तदा अन्नप्रदानेन वस्त्रदानेन संरक्षणार्थमावासदानेन अनेकांश्च हितोपदेशान् प्रदाय सन्तोष्य च तं प्रणयतः स्नेहात् धर्मे यो दृढीकरोति तस्य पवित्रं श्रेष्ठं स्थितीकरणं नाम सम्यक्त्वस्याङ्गमस्ति इति विज्ञेयम् ।३०।

स्वर्ग और मोक्षके कारणभूत सुख और शान्तिके मार्ग चारित्रसे किसी कारणसे विचलित होनेवाले गृहस्थको उसकी आवश्यकतानुसार अन्न, वस्त्र और घर आदि तथा हितरूप उपदेश देकर संयम मार्गमें स्थिर कर देना विचलित न होने देना सम्यक्त्वका स्थितीकरणनामा अंग है।

भावार्थ—सांसारिक सुख और शान्तिका स्थान स्वर्ग और परमार्थिक सुख व शान्तिका स्थल मोक्ष माना जाता है। उन दोनोंकी प्राप्ति मन्द कषायसे और कषाय रहित प्रवृत्तिसे होती है। ये दोनों प्रवृत्तियां धार्मिक प्रवृत्तियाँ हैं; क्योंकि इनसे कषायका क्रमशः या साक्षात् अभाव होता है। कषाय रूप प्रवृत्ति ही असंयम है और तद्विनाशिनी प्रवृत्ति ही संयम है। यदि कोई धर्मात्मा पुरुष क्वचित् कदाचित् मोहनीय कर्मके उदयसे रागी हो जाय या किसी भी कषायके वशीभूत हो अपने संयम रूपी उच्च प्रासादसे गिरने लगे; तो उसे धर्ममें पुनः स्थिर करना चाहिए यह धर्मप्रेमी मनुष्यका प्रधान कर्त्तव्य है।

यह संसार दुःखमय है। अपनी कषायें ही दुःखकी प्रधान हेतु हैं कषाय संयुक्त मानसिक वाचनिक और कायिक प्रवृत्तिको ही असंयम कहते हैं। कषायांशको पूर्ण रीतिसे दूर करनेका उपाय ही संयम है। जिसके सम्पूर्ण कषाय गल गई वह अकषाय गुणस्थानवाला ही परिपूर्ण संयमी है। वे कभी अपने मार्गसे विचलित हो सकेंगे इसकी कभी भी सम्भावना नहीं है। आत्मासे कर्म एक बार पूर्णरीत्या दूर हो जाय तो पुनः बन्ध होनेका कोई कारण नहीं है। परन्तु जब तक कर्म पूर्ण न गल कर थोड़ा गला है, या उपशम हो गया है तो ऐसी स्थितिमें जो संयम भाव होगा वह अपूर्ण संयम होगा और यदि पूर्ण उपशमसे पूर्ण संयम होगा भी तो अल्पकालीन होगा, कारण उपशम भाव अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिटके भीतर) मात्रमें ही मिट जाता है और उपशम भावको प्राप्त हुई प्रकृतियोंका उदय आ जाता है। इस स्थितिसे उठनेके लिए आत्माका स्वयंका पुरुषार्थ ही कारण है, किसी दूसरेके पुरुषार्थकी उसे आवश्यकता नहीं है, और न वह उसके अनुसार चल सकता है।

मन्दकषायवाले संयमी अपरिपूर्ण संयमी हैं, इनमें साधु भी हैं और श्रावक भी। यद्यपि श्रावकको देशसंयमी शास्त्रकारोंने बताया है और साधुको सकलसंयमी ही लिखा है तथापि यह कथन केवल बाह्य चारित्र तथा ज्ञात अभ्यन्तर चारित्रकी अपेक्षा है अथवा चरणानुयोगकी अपेक्षा है। साधु अपनी जानकारीमें और अपने प्रयत्न भर असंयमी नहीं है इससे सकलसंयमी है, तथापि जब तक संज्वलन कषायका थोड़ा भी अंश है तब तक करणानुयोगकी दृष्टिसे परिपूर्ण संयमी नहीं है। यह ग्रंथ चरणानुयोगका है इसलिए चरणानुयोगकी दृष्टिसे साधुको सकलसंयमी और श्रावकको देशसंयमी मानकर ही स्थितीकरण अंगका लक्षण बताया गया है।

यदि श्रावक या श्राविका साधु या साध्वी (आर्यिका) किसी कषायके तीव्र उदय आ जाने पर अपने संयममार्गसे विचलित होने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। संयमका मार्ग बहुत कठिन है

असिधारापर चलनेकी अपेक्षा संयममार्गपर चलना अधिक कठिन है। असिधारा पर चलना तो केवल शारीरिक अभ्यास साध्य है पर संयममार्ग पर चलना केवल शारीरिक अभ्यास साध्य नहीं है उसमें चित्तवृत्तिको साधना भी आवश्यक है। भूख-प्यास-शीतबाधा तथा रोगादि कारणोंके निमित्तसे होनेवाले कष्टोंको न सह सकनेके कारण अनेक श्रावक या साधु अथवा श्राविकाएं और आर्यिकाएं अपने धर्ममार्गसे विचलित हो उठते हैं। सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैनधर्मीका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि ऐसे व्यक्तियोंको उनकी आवश्यकताके अनुसार सहायता दे।

बुभुक्षितको अन्नदान, निर्वस्त्रको वस्त्रदान, रोगीको औषधिदान, असमर्थोंकी सेवा, निःसहायोंकी सहायता आदि देकर उनके कष्टको दूर करना उचित है। सेवा इस प्रकार विवेकके साथ करनी चाहिए कि जिससे उनके संयमका विनाश न हो। यह ध्यान सदा रखना चाहिए कि जिस किसी भी प्रकार संयमी संयमके मार्गमें स्थिर रहे और उसमें उन्नति कर सके, वही सहायता वांछनीय है उसे करना ही स्थितीकरण है। शीतकी बाधा सहित मुनिको वस्त्र पहिनाना, रोगी संयमीको अपवित्र औषधियोंका दान करना,इत्यादि प्रकारकी सेवा सेवा नहीं, पाप है। इस सेवासे संयमी धर्ममें स्थिर नहीं होता किन्तु अधिकाधिक असंयमी बनता है अतः ऐसी सेवाको निन्द्य माना है। इतना ही नहीं यह पापोत्पादक है उस भक्तको भी दुर्गतिका कारण है और संयमीको भी। अतः विवेकके साथ ही सेवा करना स्थितीकरण है।

यदि संयमी अत्यन्त क्लिष्ट होकर संयम बिगाड़ने की स्थितिमें हो या ऐसी सेवा चाहता हो तो उसे सदुपदेश सदृष्टांत देकर धर्ममें स्थिर करना चाहिए। यदि वह उपदेशको ग्रहण न करे और फिर भी भ्रष्ट हो तो उसे संयमी भेष त्याग देनेको बाध्य करना चाहिए ताकि अन्य संयमी भी उसका अनुकरण न करें। ऐसा करना भी स्थितीकरण है। स्थितीकरण अपने यथार्थ अर्थमें वहीं है जहाँ येन केनाप्युपायेन संयमीको संयमके मार्गमें ही पुनः लौटा दिया जा सके। ३०।

प्रश्न : **वात्सल्याङ्गस्वरूपं किं वदास्ति मे गुरो मुदा।**

हे गुरो! सम्यग्दर्शनस्य सप्तमाङ्गस्य वात्सल्यनाम्नः किं स्वरूपमस्तीति मुदा मे कथय।

सम्यग्दर्शनके सातवें वात्सल्य अंगका स्वरूप हे गुरो कृपा कर कहिए।

[वसन्ततिलका]

त्यक्तो मिथः कलिकरो भुवि येन भावः
स्वर्मोक्षमार्गनिरतस्य गुणानुरागात्।
निःस्वार्थतो हि शिवदा क्रियते सुसेवा
वात्सल्यभाव इति तस्य भवेत् पवित्रः॥ ३१॥

त्यक्त इत्यादि :- वात्सल्यं प्रीतिरित्यर्थः। यथा मातुर्वत्से प्रीतिरुत्पद्यते तद्दर्शनमात्रेणैव तथैव स्वर्मोक्षमार्गनिरतस्य गुणानुरागात् दयादाक्षिण्यसाम्यभावज्ञानादिगुणानामनुरागात् परा प्रीतिरुत्पद्यते सम्यग्दृष्टेः। स तु केवलं स्वधर्मबुद्ध्या लौकिकस्वार्थविरहितया तेषामप्रतिमकल्याणदायिनीं सेवां करोति। उक्तप्रकारेण सधर्मिषु साधिकप्रीतिभाव एव वात्सल्याङ्गमस्ति। ३१।

संसारमें प्रत्येक प्राणी एक दूसरेसे प्रीति करते हैं उन सबमें माता और पुत्रकी प्रीति पवित्र, निश्छल और निःस्वार्थ मानी गई है। माताका कोई स्वार्थ वत्सकी रक्षामें नहीं होता। वह कपटरहित

परम स्नेह भावसे उसका पालन पोषण करती है इसलिए पवित्र स्नेह ने 'वात्सल्य' नाम ही प्राप्त कर लिया है। सम्यग्दृष्टि जीवका यह भी एक महान् गुण है। स्वर्ग और मोक्षके लिए कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंके पालनेवाले अपने समान धर्मी प्राणियोंमें उसे वात्सल्य भाव उत्पन्न होता है वह उनकी निःस्वार्थ निष्कपट सेवाके लिए सदा प्रस्तुत रहता है। सम्यक्त्वीका यह भाव ही 'वात्सल्य' नामा सातवां अंग माना गया है

भावार्थ :—इस अनादिकालीन रागद्वेष मय संसारमें न राग करनेवालोंकी कमी है और न द्वेष करनेवालों की। पारमार्थिक दृष्टिसे दोनों हेय हैं मोक्षमार्गके लिए बाधक हैं। क्रमशः जब कषायोंका अभाव होता है तब अन्तमें सूक्ष्म राग ही प्राणीको अटका लेता है वह शेष रह जाता है तब उसके अभावका भी प्रयत्न करना पड़ता है। भगवान् जिनेन्द्रका अन्तिम उपदेश यही है कि सर्वथा राग भाव छोड़ वीतराग बनो। इस पवित्र अवस्थाकी प्राप्ति सहसा नहीं होती। तब होती है जब पूर्ण संयम साम्य भावको प्राप्त हो जाय। उससे पहिले राग द्वेष रहते हैं किन्तु उस पूर्ण संयम की प्राप्तिके लिए उन्हें क्रमशः त्यागना अनिवार्य है। त्यागका क्रम यह है कि सम्यग्दृष्टी सबसे प्रथम वैर भावका त्यागकर प्राणिमात्रमें मित्रपने जैसे राग भावकी प्रतिष्ठा करता है। सब जीवमात्रको अपना मित्र मानता है। किसीको शत्रु नहीं मानता। दुःखी जीवों को देखकर अत्यन्त दयार्द्र होता है उदारता पूर्वक उनकी सहायता करता है। इतना साम्यभाव होते हुए भी वह धर्मात्मा गुणवान जीवोंको देखकर परम हर्षको प्राप्त होता है। वह उनके गुणोंमें आसक्त होता है और सदा उनका मङ्गल कामना करता है। उन्हें किसी प्रकार भी दुःखी होते हुए देखकर उसे ठेस पहुंचती है अतः वह अनेक कष्टोंको सहकर भी साधर्मीके दुःखको दूर करता है। इस कष्ट सहनेमें उसे आनन्दका अनुभव होता है वह इस भावनाके कारण सन्तुष्ट रहता है कि मैं अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहा हूं।

सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टि दोनों राग द्वेषके कारण बेचैन रहते हैं फिर भी उनकी बेचैनीमें जमीन आसमान जैसा अन्तर है। मिथ्यादृष्टि किसीसे बदला लेनेके लिए जितना बेचैन रहता है सम्यग्दृष्टी धर्मात्मा पुरुष की सेवा जब तक नहीं कर पाता तब तक उतना ही बेचैन रहता है। दोनों बेचैनी बंधकी कारण हैं। मिथ्यादृष्टिके पापका बंध होता है जिससे नरकादि गति जन्म दुःखोंका मार्ग खुलता है और सम्यग्दृष्टी पुण्यका बंध करता है जिससे उत्तम मानव और स्वर्गगतिमें होनेवाले सुखोंका मार्ग खुलता है। मिथ्यादृष्टि अपने भावोंके निमित्त से होनेवाले पाप, बंधके कारण अपना संसार बढ़ाता है जब कि सम्यग्दृष्टी अपने भावोंके निमित्तसे होनेवाले पुण्यबन्धके कारण संसार परिभ्रमणके मार्गको नाश करने वाले मुक्तिके मार्गकी ओर बढ़ता है।

अपेक्षा कृत मिथ्यादृष्टीके राग द्वेषकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टीका रागभाव अत्यन्त ग्राह्य है। वह धर्म मार्गकी ओर प्रेरक होनेसे ही स्वयं धर्म मान लिया गया है। कारणमें कार्यका उपचार न्याय संगत सिद्धान्त है। धर्मानुराग की बुद्धिसे सम्यग्दृष्टीका यह पवित्र भाव ही सम्यग्दर्शनका वात्सल्य नामा सातवां अंग है। इस पवित्र प्रीतिको वात्सल्य नाम इसलिए दिया गया है कि सिंह-व्याघ्र-मार्जारादि दुष्ट और हिंसक प्राणियोंमें भी अपने 'वत्स'के प्रति निश्छल प्रीति पाई जाती है ऐसी निश्छल प्रीति सम्यग्दृष्टी को साधर्मीके प्रति अवश्य होती है उसका यह आन्तरिक धर्मानुराग ही वात्सल्याङ्ग है। ३१।

प्रश्नः—प्रभावनाङ्गचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो सम्यग्दर्शनस्याष्टमाङ्गस्य प्रभावनायाः किं स्वरूपमस्तीति मे कथय ।

हे गुरुदेव कृपाकर सम्यक्त्वके आठवें प्रभावना अङ्गका स्वरूप क्या है, कहिए ।

[वसन्ततिलका]

मिथ्यात्वजां कुमतिदां भवदां कुविद्यां
बोधामृतैर्भवहरैरपहृत्य शीघ्रम् ।
सर्वोपरित्वमिति यैर्जिनशासनस्य
तेषां प्रभावनकृतिर्भुवि दृश्यते हि ॥ ३२ ॥

मिथ्यात्वजामित्यादिः—सुगममेतत् । तात्पर्यमिदम्—अनादिकालतो मिथ्यादर्शनकर्मजनितभावेन नष्टबुद्धित्वात् स्वहितमनपेक्षमाणाः संसारावर्त्तवर्त्तिनः प्राणिनो वीतरागपरमेष्ठिनोपदिष्टे जिनशासने मिथ्याधारणां प्रकुर्वन्ति । शिवप्रदेशनामृतैः तां धारणामपहृत्य दूरीकृत्य येन केनापि सम्यगुपायेन जैनशासनस्य सर्वोपरिप्रचारः कर्त्तव्यः । सम्यग्दृष्टेरयमेव प्रचारः सम्यक्त्वस्य अष्टमं प्रभावनमङ्गं स्यात् ॥३२॥

अनादि कालसे संसारी जीव मिथ्यात्वकर्मके वशीभूत हैं और इसीसे उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान हो रहा है बुद्धि हितमें नहीं जाती । वीतराग सर्वज्ञ भगवान् प्रतिपादित भी हितका उपदेश उन्हें अहित कर मालूम होता है । जैनधर्मके संबंधमें वे सर्वथा विपरीत धारणाएँ कर बैठे हैं अथवा अज्ञानता के कारण जिनशासनका उन्हें बोध ही नहीं है । सम्यग्दृष्टी व्यक्ति जिस किसी भी उत्तम उपायसे कल्याणकारक धर्मोपदेश देकर उनका अज्ञान दूर करता है और उनमें जिनशासनकी प्रतिष्ठा करता है इसे ही सम्यक्त्वका आठवाँ प्रभावनाङ्ग कहते हैं ।

भावार्थः—आठ कर्मोंमें मोहनीय प्रधान है और मोहनीयमें दर्शनमोह प्रधान कर्म है । दर्शन मोहका प्रधान भेद मिथ्यात्व है । मिथ्यात्वके प्रभावसे ही संसारमें परिभ्रमण करनेवाले ये सभी प्राणी अपने हितके मार्गको भूले हुए हैं । मिथ्यात्व आत्माको सम्यग्मार्गसे दूर करनेवाली एक तरहकी मदिरा है । मदिरा पान करनेवाला व्यक्ति नशा आने पर लौकिक सुख-दुख, हित-अहित, इष्ट-अनिष्ट, पूज्य-अपूज्य और भोग्य-अभोग्यको नहीं जानता । उसकी क्या क्या दशा होती है उसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती । सभी संसारी जन मदिरा पान करनेवालोंकी दुर्दशा और उनकी अज्ञानजनित कार्य-प्रणालीसे परिचित हैं । मिथ्यात्व वशवर्त्ती जीवकी भी यही हालत होती है । उसे विषयजन्य अवस्थामें सुख मालूम होता है । कषायजन्य वैरमें, परके अपमानमें, दूसरोंको धोखा देनेमें और परधन नाशमें सुख मालूम होता है । इसके विपरीत दूसरोंको धनी देख उसे ईर्षा होती है; दूसरोंके सन्मानमें उसे दुःख होता है । किसीके साथ बैर हो और उसे कोई छुड़ाना चाहे तो वह छुड़ानेवालेको ही बुरा भला कहता है । विषय प्राप्त न हो तो अपनेको भाग्यहीन मानता है । अपनी इन दुर्भावनाओं के कारण वह विषय संगत्यागी दिगम्बर वेषी परमयोगी तपस्वीको देखकर हंसता है उनकी निन्दा करता है । यह उन्हें अज्ञानी और अपनेको ज्ञानी मानता है । उसकी वीतरागी सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित जिन मार्गमें विपरीत धारणा हो जाती हैं । जबतक उस मिथ्यात्वरूपी मदिराका नशा उसे चढ़ा है उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है । सम्यग्दृष्टिका कर्त्तव्य है कि वह यह समझे कि मैंने बड़े भागसे इस अपनी दुरवस्थासे अपना पिण्ड छुड़ा पाया है । अतः अपने दूसरे भाइयोंका भी इस मिथ्याज्ञानसे पिण्ड छुड़ा दूँ ।

अपने कर्त्तव्यके ज्ञानसे सम्यग्दृष्टि अपने समान ही दूसरे बन्धुओंसे सहोदरकी तरह प्रीति करता हुआ उनकी भी दृष्टिको सम्यक् बनानेका प्रयत्न करता है। वह उन्हें घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखता उन्हें प्रेमकी दृष्टिसे देखता है और इसीसे उन्हें मिथ्या गर्त्तसे जो उनका अहित करनेवाला है उद्धार करना चाहता है। वह समझता है कि जैसे भी हो उसे इन मिथ्यात्व ग्रस्त बन्धुओंको सन्मार्ग पर लगाना है ताकि इनकी भ्रम बुद्धि दूर हो। इनमें परम कल्याणकारी जिन शासनकी प्रतिष्ठा हो।

इसके लिए वह प्रत्येक सम्भव उपाय काममें लाता है फिर भी वह धर्मान्ध नहीं होता। जैसा आजकल लोग अनेक सम्प्रदायवादी धर्मान्ध होकर लोगोंको डराकर धमका कर लूटकर आगमें जलाकर बहू बेटियोंका अपहरण कर येन केन प्रकारेण आतङ्क जमाकर अपने सम्प्रदायमें सम्मिलित करना चाहते हैं, सम्यग्दृष्टि इस प्रकार अनीति कर निन्द्य पापमय पाप प्रचारक उपायोंको सर्वथा हेय मानता है। इन जघन्य कार्योंसे प्राणियोंकी प्रवृत्ति पापमयी होती है वे अहितके मार्गमें ही जाते हैं हितके मार्गमें नहीं ये सब काम पवित्र जैनधर्मके उद्देश्यसे सर्वथा विपरीत हैं। अतः सम्यग्दृष्टि ऐसे कार्योंके करनेकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं करता।

धर्मप्रचारका मूलोद्देश्य जगत्के प्राणियोंके कल्याणकी कामना है। धर्मकी उन्नति धार्मिक उपायोंसे ही हो सकती है अधार्मिक उपायोंसे नहीं। सम्यग्दृष्टिको उचित है कि वह संसारके प्राणिमात्रकी कल्याणकी महती इच्छाको सामने रखकर परम पवित्र दुःखविमोचक जैनधर्मको संसारमें फैलानेका सत्प्रयत्न करे। ये उपाय निम्न प्रकारके हैं—

निःस्वार्थ सद्धर्मका उपदेश देना, पाप या विपरीत प्रवृत्तियोंके दोष दिखाना। दोष दिखानेमें इस बातका ध्यान सदैव रखे कि इससे दोषीकी निन्दा व्यक्ति या नामाङ्कित समष्टि गत न हो जाय। निन्दासे अपने उद्देश्यमें बाधा पड़ती है और दोषवान् पुरुष सन्मार्गसे दूर रहता है, चिढ़ जाता है। इसलिए निन्दाका भाग छोड़कर धर्मकी उत्कृष्टता और पापकी या मिथ्याकी अनुत्कृष्टताको जनताके गले उतारना चाहिए।

सद्धर्मकी प्रभावनाका दूसरा उपाय है "सेवा"। वर्तमान युगका मानव उपदेशकी कदर नहीं करता किन्तु "सेवा" की कदर करता है। किसीके बीमार होने पर, कष्टमें होने पर, आग लगने पर, दरिद्रतासे पीड़ित होने पर और भयभीत होने पर क्रमशः औषधि, सेवा, उपसर्गनिवारण, अन्न वस्त्र या आजीविकाके उपाय तथा आश्रय प्रदान और संरक्षण आदि करना "सेवा" है। सेवाभावी व्यक्ति अपने सदाचारसे दूसरोंको स्वयं आकर्षित कर लेता है। उस आकर्षणसे ही उसे (सम्मग्दृष्टिको) अपने सद्धर्म प्रचारका सुन्दर स्वर्ण अवसर प्राप्त होता है। ईसाई धर्मप्रचारकोंने धर्म प्रचारकी इस प्रशंसनीय पद्धतिको पूर्णरीत्या अपनाया है। सेवाभावी व्यक्ति अपने धर्मके स्वरूपका प्रतीक है—आदर्श है। उपदेश देनेकी अपेक्षा स्वयं उसका आचरण कर जनताके सामने रखना कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

गृहस्थोंके लिए उपदेश दाताका पद सुशोभित भी नहीं होता और प्रभावक भी नहीं होता। यह पद तो आत्मशोधक पवित्र साधुओंके लिए जिन्होंने अपनी आत्माको धर्म मार्गमय बना लिया है उनको शोभा देता है और उनका प्रभाव भी जनता पर पड़ता है, क्योंकि उन्होंने धर्मके लिए स्वार्थ त्यागकी कठोर साधनाको साधा है। गृहस्थके लिए तो 'सेवा' का कार्य ही धर्मप्रचारका सच्चा उपाय है उससे उस

गृहस्थका भी उद्धार होता है, क्योंकि सेवा ही तो धार्मिकताका स्वरूप है तथा जिनकी सेवा की जाती है उनको भी सेवा सन्मार्गकी ओर सन्मुख करती तथा असन्मार्गसे विमुख करती है।

जनतामें जो अज्ञान है उसे दूर करने और सम्यग्ज्ञानके प्रचारके लिए शिक्षालय खोलना, पुस्तकें बांटना, विद्यार्थियोंको आर्थिक सहायता देना, विभिन्नरूपमें ग्रंथ प्रकाशित कर जिनवाणीका उद्धार करना ये सब धर्मोद्धारके कार्य हैं। इन सब सम्यक् उपायोंसे किये गये पवित्र धर्मके प्रचारके कार्य प्रभावनाङ्ग हैं। ३२।

[अनुष्टुप्]

अष्टाङ्गलक्षणं प्रोक्त—मेवं सम्यक्त्वशुद्धिदम्।
श्रीमता स्वात्मतुष्टेन कुन्थुसागर सूरिणा ॥ ३३ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सम्यक्त्वशुद्धिदं शुद्धिकारकं सम्यक्त्वस्य अष्टाङ्गलक्षणं अष्टानामपि अङ्गानां लक्षणं स्वात्मतुष्टेन स्वात्मगुणलाभेन तुष्टात्मना श्रीमता कुन्थुसागरसूरिणा कुन्थुसागरेण जैनाचार्येण प्रोक्तम्। ३३।

ऊपर लिखे प्रकारसे सम्यक्त्वके अष्टांगोंका सम्यक् वर्णन श्री परम पूज्य आचार्य श्री कुन्थुसागरजी महाराजने किया है। यहां आचार्य महाराजने अपने लिए "स्वात्मतुष्ट" विशेषण लगाया है। इसका तात्पर्य होता है कि स्वात्मतुष्ट व्यक्ति वह होता है जो केवल अपने आपमें अर्थात् अपने आत्मगुणोंकी प्राप्तिमें ही संतुष्ट हो चुका हो जिसे न तो लौकिक संपत्तिकी लालसा है और न अपने कामोंसे अपनी कीर्ति की, सम्मान की, प्रतिष्ठा की और पूज्यता की इच्छा है।

जो कार्य धन प्राप्तिके लिए किए जाते हैं या कीर्ति या सम्मानके लिए या किसी पदके लिए या अन्य किसी लौकिक लाभके लिए किए जाते हैं उनके भीतर कोई दूसरी ही भावना काम करती है। वे मनुष्य सद्धर्मके सच्चे प्रचारक किसी भी हालतमें नहीं हो सकते। सद्धर्म पालक और प्रचारक या प्रभावक को निःस्वार्थी-सेवाभावी और प्रत्येक समय उपायके द्वारा स्वपरकल्याण करनेवाला होना चाहिए।

आचार्य महाराजने "स्वात्मतुष्ट" एक ही विशेषण द्वारा अपने हृदयकी निःस्वार्थता व कर्त्तव्य परायणता तथा हितैषिताका परिचय दिया है। सम्यक्त्वके ये आठों अंग सम्यक्त्वको परिपूर्ण व पवित्र बनाते हैं। बिना इन अंगोंको पूर्ण किए सम्यग्दृष्टि अपने गुणसे अपूर्ण है, और अपूर्ण शक्तिवाला अपने उद्देश्य की प्राप्तिमें असफल रहता है। अतः संसारोच्छेदके लिए पूर्णांग सम्यक्त्व पालन करना चाहिए। ३३।

प्रश्न :—**लोकमूढत्वचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।**

हे गुरो! मूढतात्रयपरिहारः कर्त्तव्य एव सम्यग्दृष्टिना इत्येतत् श्रूयते किं तत्मूढतात्रयम्? इत्यत्रोत्तरयत्या-चार्यः यल्लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढता चेति मूढतात्रयं सम्यक्त्वदोषापादकमस्ति। शिष्यो वदति यत् किं लोक-मूढतायाः चिह्नं स्वरूपमिति कृपया वद।

हे श्रेष्ठ! तीन मूढताका त्याग सम्यग्दृष्टिको करना चाहिए ऐसा सुना जाता है। वे मूढताएं कौन हैं? आचार्य कहते हैं कि लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढता ये तीन मूढताएं सम्यक्त्वमें दोषोत्पादक हैं। तब शिष्य पूँछता है कि हे गुरु, कृपाकर लोकमूढता किसे कहते हैं कृपाकर बताइए। आचार्य उत्तर देते हैं :—

[वसन्ततिलका]

मोहादिमुक्तमनुजो लभते स्वधर्म
मूर्खो न सत्यपि सुवस्तुनि सौख्यदे हि ।
गङ्गावगाहनवशाद्वदतीति धर्मो-
लोकस्य तस्य भवदा भुवि मूढतास्यात् ॥ ३४ ॥

मोहादिमुक्तमनुजः स्वधर्मं लभते किन्तु मूर्खः अनादिकालीनमिथ्यात्वजनितसंस्कारवशाद्विषयविमूढः भ्रमबुद्धित्वात् सौख्यदे सुखदायिन्यपि सुवस्तुनि सत्यपि स्वधर्मं न लभते । स हि गङ्गावगाहनवशात् गङ्गायां गोदावर्यां यमुनायां नर्मदायां अन्यत्र वा क्वचित् समुद्रादिके अवगाहनवशात् शारीरिकस्नानमात्रादेव धर्मो भवतीति वदति । अतएव तस्य अज्ञानिजनस्य भुवि भवदा संसारावधिवर्धिनी लोकस्य मूढता लोकमूढता स्यात् ॥३४॥

अनादिकालीन मिथ्यात्वके उदयसे जीवोंको ऐसे संस्कार पड़े हुए हैं जिनके कारण पंचेन्द्रिय विषयोंमें विमूढ़ हो रहा है और इनके त्यागमें असमर्थ होता हुआ सुखदायक सुमार्गमें नहीं चलता और न आत्महितको जानता है । सम्यग्दृष्टि सन्मार्गका अवलम्बन करता है, क्योंकि वह विषयमूढ़तासे दूर है । जो विमूढ़ हैं वे धर्मकी अभिलाषासे गंगादि तीर्थोंमें, प्रयागके संगममें, गोदावरी यमुना नर्मदा या कहीं भी अन्यत्र स्नान करने मात्रसे अपनेको पापमुक्त मान लेते हैं । वे यह विचार नहीं करते कि स्नानसे शारीरिक मल दूर होगा आत्माके रागद्वेषादि दोष दूर नहीं हो सकते । लौकिक मान्यताके आधारसे चली हुई उक्त लोकमूढ़ताके कारण मोही पुरुष इस सम्यक् तत्त्वको नहीं जानता है ।

पवित्रता धर्मका अङ्ग है यह निःसन्देह है । शारीरिक पवित्रता स्नानादिसे प्राप्त होती है, पर आत्माकी पवित्रता स्नानसे नहीं होती । आत्मा अमूर्त्त द्रव्य है और जल मूर्त्तिमान् पदार्थ है । मूर्तिमान पदार्थसे अमूर्त्त द्रव्य पवित्र या अपवित्र नहीं होता । गङ्गादि स्नानमें धर्म माननेवाले सज्जनोंको आत्माकी पवित्रताके लिए श्रीकृष्णजीकी गीताका उपदेश ग्रहण करना चाहिए । अर्जुनको सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्णजीने कहा है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

अर्थात् हे पाण्डुके पुत्र धीरवीर अर्जुन ! अपनी आत्मा ही नदी है, उसमें 'संयम रूप' पवित्र जल भरा है, जिसमें सदा 'सत्य' ही बहता रहता है । 'शील' उसका तट है, उसमें दयाकी उर्मियाँ अर्थात् लहरें सदा लहराया करती हैं । ऐसी पवित्र आत्मा रूपी नदीमें तू प्रवेशकर, अर्थात् आत्माके अपने उक्त पवित्र रूपमें रमण कर इससे तेरी अन्तरात्मा पवित्र बनेगी । पानी के द्वारा चाहे वह गङ्गा का हो या अन्यत्र किसी भी महातीर्थसे लाया गया हो उससे अन्तरात्मा पवित्र नहीं हो सकती ।

श्रीकृष्णजीने लोकमूढ़ताका कितना स्पष्ट निषेध करके आत्माकी पवित्रताका सुन्दरतम श्रेष्ठ मार्ग प्रकट किया है । यह प्रत्येक व्यक्तिके लिए विचारणीय है । जो मनुष्य मोह या अज्ञान जन्य स्थितिसे अपनेको दूर रख सकता है वही स्वधर्म (आत्मधर्म) को प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं ।३४।

प्रश्नः—**किं देवमूढताचिह्नं वद मे सिद्धये गुरो ।**

हे गुरो ! देवमूढ़ता किसे कहते हैं ? मेरी इष्ट सिद्धिके लिए कृपा कर कहें ।

देवमूढताका स्वरूप

[वसन्ततिलका]

सत्यार्थधर्मरहितो धनपुत्रहेतो
मूर्खः कुदेवकुगुरोः शरणं प्रयाति ।
स्यान्मूढता भुवि यतो भ्रमणस्य हेतु
दुःखप्रदा सपदि तस्य कुदेवतायाः ॥ ३५ ॥

जिसने धर्मका सच्चा स्वरूप नहीं समझा वह मनुष्य संसार परिभ्रमणके लिए कारणभूत दुखप्रदायिनी देवमूढ़ता का त्याग नहीं कर सकता । वह लौकिक लाभके लिए अर्थात् धनकी प्राप्ति अथवा पुत्रके लाभ आदिको इष्ट जानकर उनके निमित्त कुदेव और कुगुरुकी शरण पकड़ता है ।

भावार्थः—मनुष्य सदासे आदर्शका पूजक रहा है । यही कारण है कि जितने मत मतान्तर संसारमें प्रचलित हैं, रहे हैं या होंगे वे सब उस मतप्रवर्त्तकके आदेशानुसार अपने आदर्शको ईश्वर, जिनेन्द्र, यीशु, परमात्मा और खुदा आदि नामोंसे पूजते आ रहे हैं और पूजते रहेंगे । जिनमत-प्रवर्त्तकोंने किसी सर्वशक्तिमान् ईश्वर या मुक्तात्मा या आदर्शकी सत्ता मनानेसे इंकार कर दिया है । उनके अनुयायी यदि ईश्वर नहीं मानते तो कमसे कम उस मत प्रवर्त्तक को ही अपना आदर्श मानकर पूजते आ रहे हैं ।

कुल परम्परा द्वारा प्रचलित मान्यताके अनुसार चाहे जिसे 'देव' मानकर पूजना विज्ञता नहीं है । यह एक प्रकार का मोह है । मोह युक्त पुरुष ही व्याकरण (शब्द शास्त्र) के अनुसार 'मूढ़' शब्द द्वारा व्यवहृत होता है । देव की मान्यताके संबंधमें जो मोहपना है वह "देवमूढ़ता" है । सद्धर्मका खोजी ऐसी मूढ़ताका परित्याग करता है ।

वह अपना आदर्श 'देव' उसे मानता है जिसमें देवपनेके गुण हों । जो संसारके दुःखमय कंटकाकीर्ण मार्गको पार कर चुका हो और दूसरोंको भी अपने परीक्षित मार्गको बता सके । जिसमें न किसी का पक्षपात हो और न किसी के प्रति द्वेष हो, किन्तु सामान्य तथा प्राणिमात्रका हितैषी हो । स्वयं सब प्रकारके दोषोंसे रहित हो । प्रत्येक बातका पूर्ण ज्ञाता और अनुभवी हो । उपर्युक्त गुण विशिष्ट आत्मा ही 'देव' 'ईश्वर' 'आप्त' 'परमात्मा' आदि शब्दोंसे कहे जाने योग्य है । ऐसे श्रेष्ठ आदर्शकी पूजा-उपासना-ध्यान ही देवोपासना है । इसके विरुद्ध जिसका स्वरूप हो, जिसमें उक्त गुण न पाए जायँ, वह हमारा आदर्श नहीं हो सकता वह हमें उन्नत मार्ग नहीं बता सकता; क्योंकि वह स्वयं अनुन्नत है । अतः 'देव' नहीं है फिर भी उसे देव मानकर उपासना करना "देवमूढ़ता" है । जैन तीर्थंकरोंका यह उपदेश है कि वही व्यक्ति मान्य है जिसमें मान्यताके योग्य गुण हों । ऐसे व्यक्तिकी उपासनासे व्यक्ति ऊँचा उठेगा । स्वयं योग्य और मान्य बन जायगा । वह सच्चा स्वपरोपकार कर सकता है । जो व्यक्ति गुणवान् तो नहीं है किन्तु उसे या तो भ्रमवश गुणवान् मान लिया गया है, या उसके अवगुणोंमें ही हमने गुणपने की मान्यता कर ली है, उस व्यक्तिकी मान्यतासे हम उन्नत नहीं हो सकते । हमारा उक्त भ्रम ही मूढ़ता है जो देव विषयक होनेसे 'देव मूढ़ता' कही गई है ।३५।

प्रश्नः— **किं गुरुमूढ़ताचिह्नम् वर्तते मे गुरो वद ।**

हे गुरुदेव ! गुरुमूढ़ता क्या है उसका क्या लक्षण है कृपाकर मुझे बतावें। ऐसा प्रश्न होने पर गुरुदेव गुरुमूढ़ताका स्वरूप बताते हैं—

(वसन्ततिलका)

स्वात्मच्युतस्य भुवि कुर्वत एव पापम् ।
सेवाऽसतः क्रियत एव धनादिहेतोः ॥

स्यात्तस्य दुःखजनिका गुरुमूढताऽपि ।
ज्ञात्वेति सत्यरसिकैः परिवर्जनीया ॥ ३६ ॥

स्वात्मच्युतस्येत्यादि :—भुवि अस्मिन्ननादिनिधने संसारे स्वात्मच्युतस्य स्वात्मबोधविमुखस्य पापमेव कुर्वतः केवलं हिंसादिकर्मप्रयोजकं पञ्चाग्नितपःप्रभृतिबालतपो विदधानस्य असतः कुगुरोः धनादिहेतोः धनादिलौकिककार्यसिद्धयभिलाषवशात् येन सेवा परिचर्या एव क्रियते तस्य प्राणिनः दुःखजनिका जन्मजरामरणप्रभृतिदुःखोत्पादिका गुरुमूढ़ता स्याद् इति ज्ञात्वा तत्त्वरसिकैः तत्त्वविद्भिः परिवर्जनीया परिहर्तव्या ॥३६॥

इस अनादिनिधन संसारमें आत्मज्ञान रहित और इन्द्रिय विषय लम्पट अनेक पापात्मा 'गुरु' नाम रखाकर लोगोंको ठगते हैं। उनमें गुरुपना तो नाम निशान को भी नहीं है। जो व्यक्ति इन्द्रिय विषयों के दास नहीं हैं, हिंसादि पञ्च महापापोंसे दूर रहते हैं, निरभिमानी सरल प्रकृति व क्षमाशील हैं वे ही 'सद्गुरु' हैं ऐसा स्वामी समन्तभद्राचार्यने श्रावकाचारमें वर्णित किया है। कुगुरु जन इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगादि तथा पीड़ा और रोगादिसे व्याकुल प्राणियोंको देखकर कहा करते हैं कि हम तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे, हमें अनेक प्रकारकी सिद्धि है। इत्यादि मिथ्याप्रलापसे जगतके भोले प्राणियोंको ठगते हैं। वे सरल संसारी जन संसारके दुखसे आतुर हो अपने दुखको दूर करनेके लिए उन मूढ़ोंकी सेवा करते हैं। उनकी यह क्रिया गुरुसेवा नहीं 'गुरुमूढता' है। इस प्रकार गुरुमूढ़ताके स्वरूपको जानकर तत्त्वरसिक जीवोंको उसका त्याग करना चाहिए।

भावार्थ :—गुरुके स्वरूप को न जानकर यद्वा तद्वा उदर भरनेवाले ठगोंको गुरु मानकर पूजना गुरुमूढ़ता है। सद्गुरुका कार्य यह है कि वह आगमका पाठी होकर सर्वज्ञाज्ञा प्रमाण हितका उपदेश जनताको देवे। साधु या गुरु एक बहुत उपयोगी व्यक्ति संसारमें है। ये जनतासे भोजनमात्र लेते हैं और इस लोक और परलोकमें सुखदायक मार्गका प्रदर्शन जनताके लिए करते हैं। जो अपना व पराया उपकार साधन करें वे ही सच्चे साधु हैं। इसी तरह जो महान् गुणोंके द्वारा गुरुतर (वजनदार) बन चुके हों वे ही सद्गुरु हैं अन्य नहीं। ऐसे सद्गुरुको छोड़कर अन्य पाखण्डी तपस्वियोंकी सेवा भक्ति ही गुरुमूढ़ता कहलाती है।३६।

(अनुष्टुप्)

इत्यात्मदुःखदं निन्द्यं स्वाज्ञानदर्शकं मया ।

त्रिमूढतास्वरूपं कौ प्रोक्तं तद्बोधहेतवे ॥ ३७ ॥

इत्यात्मदुःखदमित्यादि :—इत्यनेन प्रकारेण आत्मदुःखदं आत्महितविरुद्धत्वात् दुखप्रदायकं अतएव निंद्यं निन्दनीयं तथा स्वाज्ञानदर्शकं स्वमूढभावप्रदर्शकं त्रिमूढतास्वरूपं मया श्रीकुन्थुसागरस्वामिना तद्बोधहेतवे मूढानाम् सद्बोधहेतोः प्रोक्तम् ॥३७॥

उक्त प्रकारसे तीन मूढताका स्वरूप प्रतिपादन किया। ये तीनों मूढताएँ यथार्थमें आत्महितके विरुद्ध होनेके कारण दुखदायक हैं अतएव निन्दनीय तथा मूढ़ता भावकी प्रदर्शक हैं, सज्जनोंके प्रतिबोधके लिए इन तीन मूढताओंका स्वरूप श्री कुन्थुसागर स्वामीने प्रतिपादित किया है।३७।

इति मूढतात्रयदोषनिवारणोपदेशः।

प्रश्नः—षडायतनचिह्नं किं विद्यते ! मे गुरो वद।

छह आयतनका क्या स्वरूप है हे गुरु कृपाकर कहिए—

(अनुष्टुप्)

कुदेवस्य तथा तस्य भक्तस्य वन्दनादिकम्।
न कार्यं स्तत्त्वतो भक्तिः सेवा वा सुश्रूषादिकम्॥ ३८॥
सत्यार्थवस्तुनो लाभो यतः स्यात् स्वैररोधनम्।
सुदेवस्य सदा तस्य भक्तस्य वन्दनादिकम्॥ ३९॥

कुदेवस्येत्यादि:—कुदेवस्य देवलक्षणरहितो देववदवभासमानो देवाभास एव कुदेवः तस्य तथा तस्य भक्तस्य कुदेवानुयायिनः भक्तिः सेवा सुश्रूकादिकं वा वन्दनादिकं वा न कार्यम्। तत्करणे हि अनायतनदोष स्यात्। सुदेवस्य अज्ञानरागादिदोषरहितोऽशेषज्ञस्तथा हितोपदेशक एव पुरुष आप्तः स एव सुदेवः तस्य तथा तस्य भक्तस्य सुदेवानुयायिनः वन्दनादिकं कार्यम्। यतः सत्यार्थवस्तुनः जीवादितत्त्वस्य लाभः सम्यग्ज्ञानं स्वैररोधनं च स्वहित-विरोधिप्रवृत्तिपरित्यागश्च स्यात्।३८।३९।

जो तत्त्वार्थका परिपूर्ण ज्ञाता न होवे, अज्ञानादि दोषोंसे मुक्त न हो और परहित कामनासे रहित हो वही कुदेव नामसे प्रख्यात है। उसकी तथा उसके सेवकादिककी पूजा भक्ति वन्दनादि कभी न करनी चाहिए। 'देव, ईश्वर, आप्त और परमात्मा' आदि अनेक नामों द्वारा लोग किसी एक ऐसे आदर्शको मानते हैं जिसे वे संसारमें सर्वोत्कृष्ट समझते हों। विचार यह करना चाहिए कि हम उसे सर्वोत्कृष्ट क्यों मानें ? इसका उत्तर सीधा है कि वह हम सबसे अधिक गुणवान, निर्दोष, ज्ञानवान व समर्थ है और हमारा उससे हित होगा इसीलिए हम उसे मानते हैं पूजते हैं और स्तुति आदि करते हैं। यदि उस व्यक्तिमें ये आदर्श गुण न हों तो वह किसलिए वन्दनीय माना जाय ? इसी बातको दूसरे शब्दोंमें ग्रंथकार आचार्य लिखते हैं कि उक्त प्रकारके गुणों से रहित यदि कोई देवस्थानीय है तो वह कुदेव है और उसकी या उसके माननेवालोंकी सेवा सुश्रूषा आदि दोषकारक है।

यद्यपि जैनधर्म प्राणिमात्रमें प्रेमका उपदेश देता है तथापि पदवीरूढ व्यक्ति यदि उस पदके योग्य न हो और उसे उस पद पर प्रतिष्ठित किया जाय तो यह बुद्धिमें भ्रमोत्पादक होनेसे मिथ्यात्व कहा गया है। जिस सत्यार्थ वस्तुका स्वरूप परिज्ञान सुदेवके द्वारा हो सकता है वह कुदेवादिसे नहीं, इसलिए कुदेवको छोड़ सुदेवका तथा उसकी मान्यता करनेवाले भक्तजनोंका आदर करना समुचित है कुदेवका नहीं। इसतरह कुदेव और कुदेव पूजक इन दोनोंका आदरादि करना अनायतन सेवा है, इस प्रकार इन दोनों अनायतनोंका स्वरूप कहा।३८।३९।

कुशास्त्र और उसके पाठक

(वसन्ततिलका)

अन्यागमस्य खलु तस्य कुपाठकस्य
ह्येकान्तपक्षकलितस्य भवप्रदस्य ।
सङ्गं विहाय जिनशास्त्रसुपाठकस्य
कार्यो निजात्मसुखदस्य सदैव सङ्गः ॥ ४० ॥

अन्यागमस्येत्यादि :— एकान्तपक्षकलितस्य तत्त्वं नित्यमेव अनित्यमेवेति एकान्तपक्षसमर्थकस्य अतएव भवप्रदस्य संसारवर्धकस्य अन्यागमस्य न्यायागमविरुद्धतत्त्वोपदेशकस्य अन्यैः कुवादिभिः प्रणीतागमस्य तथा तस्य कुपाठकस्य सङ्गं विहाय परित्यज्य जिनशास्त्रसुपाठकस्य सच्छास्त्रस्य तथा तत्पाठकस्य सङ्गः सदा एव कार्यः यतः निजात्मसुखं समुत्पद्यते । अनेकान्तात्मकं खलु वस्तुनो रूपं प्रत्यक्षतः प्रतीतं तथापि सदसद्रूपेण नित्यानित्यरूपेण वा एकान्तपक्षग्रहणं भवदुःखप्रदमस्ति । अतोऽसच्छास्त्रस्य तत्पाठकस्य च सङ्गं विहाय सर्वज्ञवीतरागोपदिष्टस्य आगमस्य तत्पाठकस्य वा वन्दनादिकं कर्त्तव्यम् ।४०।

इस सांसारिक जीवनमें सदुपदेश ही आधारभूत या शरणभूत है । जीवनके सुधारके लिए या उसे समुन्नत बनानेके लिए उपदेश प्रभावपूर्ण कार्य करते हैं, यदि वे उपदेश यथार्थ हों। उपदेशकी यथार्थता वक्ताकी प्रामाणिकतासे संबंधित है। यदि वक्ता श्रेष्ठ गुणवान् है तो उसका उपदेश भी उपयोगी होगा और यदि वक्ता श्रेष्ठ गुणवान् नहीं है, स्वयं दोषी है, आत्मबल हीन है, तो उसका उपदेश जीवनको समुन्नत न बना सकेगा। ऐसे उपदेशको ही 'कुशास्त्र' या "कुआगम" कहा है। इन कुशास्त्रोंमें जो वस्तुतत्त्व वर्णित है वह एकान्तपक्षसे दूषित है। अतः वे अतत्त्वप्ररूपक हैं। वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है और जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा ही प्रतिपादन करनेवाला आगम समीचीन शास्त्र है सत्शास्त्रका उपदेश कल्याणकारक है। असत् तत्त्वके प्ररूपक ग्रंथ असत् शास्त्र हैं। वस्तुका यथार्थ ज्ञान होनेसे सुख या सुखके मार्गकी प्राप्ति होती है और मिथ्या या विपरीत ज्ञानसे जीव मार्ग भ्रष्ट होकर दुख या दुखके मार्गको प्राप्त हो जाता है अतएव एकान्तपक्ष ग्रसित मिथ्या शास्त्र और उसके पाठकोंसे दूर रहकर आत्माके शाश्वतिक सुखकी प्राप्तिके लिए जैन शास्त्रोंका पठन तथा उसके सुपाठकोंकी संगति वन्दनादिक ही करनी चाहिए। ४० ।

कुगुरु और उसके वन्दक

(वसन्ततिलका)

शिष्यस्य कुगुरोश्च कुमार्गनेतुः
सेवा स्तुतिश्च सुजनैर्न कदापि कार्या ।
स्वानन्दसौख्यजनकस्य सदा सुसेवा
शिष्यस्य चास्य सुगुरोः सुखदा हि कार्या ॥४१॥

शिष्यस्येत्यादि:—कुमार्गनेतुः संसारहेतुमिथ्यादर्शनादिमार्गोपदेष्टुः कुगुरोः तस्य शिष्यस्य च सुजनैः सेवा स्तुतिश्च कदापि न कार्या। किन्तु स्वानंदसौख्यजनकस्य सुगुरोः अस्य शिष्यस्य च सुखदा सुसेवा सदा कार्या। तात्पर्यमेतत्-स्वयं विषयाशा-

मभिलाषी लोभादिकषायवशित्वेनानेकारम्भसंरंभभारेणाकुलः कामक्रोधादिभिर्विजितश्च पुरुषः स्वयं धर्ममार्गपराङ्मुखः सन् अन्यानपि स्वच्छन्दानुवर्तिनशिष्यान् नानादुःखसमीकीर्णे संसारकानने परिभ्रमन्परिभ्रामयति अतः स्वहितमन्विच्छद्भिर्न कदापि तेषां कुगुरूणां तच्छिष्याणां च सेवा स्तुतिः प्रशंसादिकं वा कार्यम्। स्वात्मसुखाभिलाषिणस्संसारमार्गपराङ्मुखास्सन्ति सुगुरवः, येषामस्तंगतो विषयाभिलाषः, गृहत्यागिनस्ते वसन्ति भीमकानने स्वात्मचिन्तनाय, निःपरिग्रहाः नग्नशरीराः निर्मानिनः क्रोधकामादिभिस्तु दूरत एव परिहृताः शीलेशाः पाणिपुटाहारिणः परमदयालवः परोपकारकरणव्यापाराः । तेषाम् सुगुरूणां तच्छिष्याणां तत्सेवकानां तु सेवा-स्तुतिः प्रशंसादिकम् वन्दनादिकञ्च सदैव स्वहितैषिभिःकार्यम्। एवञ्च करणे स्वात्मोत्थं परमनिर्वाणसुखं परिप्राप्नुवन्ति भक्ताः । ४१ ।

पांचों इन्द्रियोंकी अभिलाषाओंके दास, आत्मबलहीन, लोभादिकषायके वशीभूत अनेक आरम्भ और परिग्रहके भारसे दबे हुए, कामक्रोधादि दुर्गुणोंके द्वारा पराजित अपनेको गुरु माननेवाले अनेक पापी स्वयं संसारके दुखोंको भोगते हैं और अपने अनुयायी शिष्योंको भी संसार चक्रमें परिभ्रमण कराते हैं अतएव ऐसे कुगुरुओंकी और उनके भक्तजनोंकी सेवा स्तुति प्रशंसा या वन्दनादिक कदापि नहीं करनी चाहिए। किन्तु स्वात्मसुखके अभिलाषी संसारके दुखःमय मार्गसे विमुख जो सुगुरु हैं जिनकी विषयाभिलाषा नष्ट हो चुकी है, जो गृहत्यागकर स्वात्मचिन्तन मात्रके लिए भयंकर वनोंमें निवास करते हैं,जो स्वयं ही परिग्रहसे दूर, नग्नशरीरमात्रमें भी मोह न रखनेवाले, मानसे रहित, कामक्रोधादि दुर्गुणोंसे परित्यक्त, शीलके भण्डार, गृहस्थके द्वारा भक्तिपूर्वक दिए हुए रूखे-सूखे अन्नको अपने हस्तपुटमें रखकर ही खड़े खड़े एकबार निर्दोष आहार ग्रहण करनेवाले, परमदयालु, परोपकार करना ही जिनके जीवनका एक मात्र व्यापार है ऐसे परम वीतरागी महापुरुष 'सुगुरु' हैं। जो व्यक्ति संसारके दुःखोंसे भयभीत हैं, अनादिकालकी परम्परा द्वारा प्राप्त जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि अनिवार्य तथा विषयाभिलाषा, ईर्षा, द्वेष, दम्भ, कलह और वैर आदि स्वकृत महान् दुखोंसे त्रस्त हैं और इनको दूर करना चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि कुगुरु और उसके भक्तोंका जो कि इन दुःखोंमें पगे हैं और इन दुखोंके मार्गमें ही चल रहे हैं संग त्यागकर सुगुरु और उनके भक्त शिष्यादिकोंकी संगति करें। "सुगुरु" परमदयालु हैं, प्राणिमात्र पर उनकी अनुपम दया है, वे अपनी सहज वृत्तिसे प्राणियोंके कल्याणकी कामना करते हैं, वे उस कामनाके बदलेमें तुमसे या किसीसे कुछ भी नहीं चाहते। न वे धन चाहते हैं न सेवा, न मान, न कीर्ति और न प्रशंसा। इस परोपकारवृत्तिपर कोई कृतघ्न यदि उन्हें गाली दे, मारे या वध-बन्धनादि उपसर्ग भी करे तो भी वे अपने चित्तमें उद्विग्न नहीं होते, उस कृतघ्न पर क्रोधित नहीं होते,उसे शाप नहीं देते,उसे सद्बुद्धि आये ऐसी ही अभिलाषा रखते हैं। ऐसे परम सुगुरुकी तथा उन जैसे ही उनके भक्तोंकी सेवा-स्तुति प्रशंसादि तथा अनुकरण सदा करनी चाहिए, जिससे स्वात्मकल्याण हो। ४१ ।

इति षडनायतनस्वरूपम्।

सम्यक्त्वके २५ दोषोंमें मददोषका निरूपण ।

प्रश्न :—भो ! ज्ञानं प्राप्य किं कार्यं वद मे सिद्धये गुरो ।

हे गुरो ! ज्ञान प्राप्त करके स्वात्मसिद्धिके लिए और क्या कर्त्तव्य है ? कहिए—

(वसन्ततिलका)

विज्ञानदानत इतीह भवेद्विवेक—
स्तद्बोधतो निजपदे स्थितिरेव ते स्यात् ।
ज्ञानादिदानमपि तत्र सदैव कार्यं
कार्यो मदो भयकरो भवदो न बुद्ध्वा ॥ ४२ ॥

विज्ञानदानत इत्यादिः— सुगमम् । भावस्त्वयम्–ज्ञानं तु स्वात्मधनम् । तल्लक्षणो जीवः । जीवमात्रे केवलज्ञानशक्तिर्विद्यते । ज्ञानावरणादिकर्मपराभूतत्वादेव मन्दज्ञानिनो दृश्यन्ते जीवाः, स्वस्वज्ञानावरणक्षयोपशमविजृंभितज्ञानमात्राराधकास्सन्ति ते । स्वात्मावबोधकृतां विवेकिनां न कदापि ज्ञानादीनामहङ्कारो भवति । विज्ञानदानतस्तु तेषां विवेक एवोपजायते, विवेकतस्तु तेषां स्वात्मपदे एव स्थितिर्भवति न तु मदादिषु दुर्गुणेषु । मदादयस्तु स्वात्मविकारास्सन्ति प्राणिमात्रे यदापूर्णज्ञानशक्ति र्विद्यते । इति जिनागमतो निश्चन्वन्तस्तु सम्यग्दृष्टयः कथं मदयुक्ताः स्युः । हीनाधिकगुणेष्वेव मात्सर्यमदादीनां संभावना भवति न तु समगुणेषु प्राणिषु तत्संभावना जायते । जिनागमश्रद्धया विरहिता मिथ्यादृष्टयः हीनाधिकज्ञानं प्राप्नुवन्तः मदं कुर्वन्ति । विशिष्टज्ञानिनां सदा ज्ञानदानं कार्यम् । दानतस्तु ज्ञानस्य वृद्धिरेव भवति न कदापि हानिः स्यात् । दानाभावे तु विद्या लुप्यते, तस्माद् विद्यादान स्वोपकार एव न परोपकारः । मत्तानां तु ज्ञानादिगुणः सदोषो भवति । सदोषस्तु संसारे परिभ्रामयति, दुःखञ्चोत्पादयति इति बुद्ध्वा भवदो भयकरो मदः न कदाचिदपि कार्यः । ४२ ।

ज्ञान आत्माका लक्षण है । प्रत्येक जीवमें केवलज्ञान शक्ति है । संसार दशामें वह ज्ञान ज्ञानावरणादि कर्म द्वारा लुप्त सा हो रहा है अतः जिन जीवोंको कर्मका जितना क्षयोपशम प्राप्त है उतना ही ज्ञान खुला हुआ है । कर्मका नाश करनेपर पूर्ण ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है । जिनागमके श्रद्धानवाले सम्यग्दृष्टि जीवोंको उक्त प्रकारका पूर्ण निश्चय रहता है, इसलिए स्वात्मबोध प्राप्त उन विवेकी पुरुषोंका ज्ञानादि जन्य अहंकार नहीं उत्पन्न होता । उनकी बुद्धि दूसरोंको ज्ञान दान देनेकी ओर ही प्रेरणा करती है । ज्ञान दानसे विवेक उत्पन्न होता है और विवेकसे वे स्वात्मपदमें ही रमण करते हैं । मदादि या मात्सर्यादि दुर्गुणोंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं जाती है ।

यदि ज्ञानादिमें हीनाधिकता हो तो मदादि उत्पन्न हों जब सम्यग्दृष्टि जीवमात्रके परिपूर्ण ज्ञानरूपी धन है । ज्ञान जीवकी सम्पत्ति है ऐसा दृढ़ निश्चिय रखता है तो ईर्षा मात्सर्य और मद उत्पन्न होनेका अवसर ही कहां है ? यदि इतने पर भी जिनको मद उत्पन्न होता है तो समझना चाहिए कि उनको सम्यग्दर्शन नहीं है, जिनोदित तत्त्व पर श्रद्धा नहीं है । सभी जीव अपनेको ज्ञानी और अन्यको अज्ञानी मानकर ज्ञानका गर्व करते हैं । क्योंकि कर्मके क्षयोपशमके अनुसार सांसारिक अवस्थामें ज्ञान गुणकी व्यक्तिकी हीनाधिकता पाई जाती है अतः अविवेकी मिथ्यादृष्टि मद करता है, विवेकी सम्यग्दृष्टी नहीं करता ।

विवेकी सोचता है कि ज्ञान दानसे ज्ञानकी वृद्धि होती है । कदापि हानि नहीं होती । दानके अभावमें विद्या लुप्त हो जाती है, इसलिए विद्या देना परोपकार नहीं, स्वोपकार है । स्वोपकार करते हुए यदि परोपकार हो जाय तो इसमें अहंकारके लिए स्थान ही कहाँ है । फिर भी मिथ्यादृष्टि व्यर्थ ही अहंकार करते हैं । अहंकार ज्ञानादि गुणोंका दूषण है । दूषण संसार परिभ्रमणका कारण है । संसार-परिभ्रमण जन्म जरा रोगाक्रान्त होनेसे दुःखरूप है इसलिए भयंकर संसार दुःखवर्द्धक ज्ञानका मद कदापि नहीं करना चाहिए ।४२ ।

प्रश्नः—किं पूजामदचिह्नं मे वदास्ति शान्तये गुरो !

हे गुरो ! आठ मदोंमें पूजाका मद क्या वस्तु है ? कृपया मेरे प्रश्नका समाधान कीजिए—

(वसन्ततिलका)

पूजादिदानकरणात् सुगुरोः प्रभोः स्यात्
पूजा सदा निजमति र्विमलाऽपि कीर्त्तिः ।
स्वानन्दशुद्धहृदयश्च कृतीति बुद्ध्वा
पूजामदं कुभवदं न करोति विज्ञः ॥ ४३ ॥

पूजादिदानकरणादित्यादि :—पूजया तत्र आहारादिचतुर्विधदानेन च दातुरेव लोके पूजा भवति । सर्वत्र तस्य विमला कीर्तिर्भवति । निजमतिः तस्य मतिरपि सदा विमला निर्दोषा भवति । अतएव एवं विभावयेत् यत् पूज्यानां गुरुपादानां पूजया एव मम कल्याणं स्यात् । सुगुरोः महानुपकारोऽस्ति यत् स मां कुमार्गात् परावृत्य सुमार्गे नियोजयति । सुमार्गचलनादेव स्वानन्दशुद्धहृदयः स्वानन्दरूपः शुद्धहृदयः कृती च भवामि । इति बुद्ध्वा स विज्ञः कुभवदं संसारार्णवकारणभूतं पूजामदं कदाचिदपि न करोति । ४३ ।

सम्यक् वीतरागी, निर्मोही, विषयसंगविरक्त, सच्चे साधुकी सेवा-विनय-पूजा तथा उनकी आहारादि दानसे सुश्रूषा आदिसे लोकमें दाताकी ही प्रतिष्ठा बढ़ती है । उसकी लोकमें कीर्त्ति होती है तथा पवित्र भावनावाले साधुओंकी सेवासे उसकी भावना भी पवित्र होती है । वह विचार करता है कि—यदि संसारमें मेरी कीर्त्ति है प्रतिष्ठा है तो यह कोई अभिमान करनेकी बात नहीं है । सुगुरु सेवा करनेवाले दाता धर्मात्माओंकी प्रशंसा सर्वत्र होती है । यह तो सुगुरुका मुझ पर महान उपकार है जो मुझ जैसे अनादि कालसे भूले हुए पथिकको दुखके गर्त्तसे निकालकर कल्याणके सिंहासन पर बैठाया है । यदि मैं सुमार्ग पर चलने लगा तो इसमें घमंड करने योग्य क्या बात है । मैं कुमार्गगामी था अतः निन्दाका पात्र था, अब सुगुरु कृपासे निन्दाका पात्र नहीं रहा सो यह तो मेरा महान् उपकार हुआ । अब मैं व्यर्थका घमंड कर क्यों नरकादि कुगतिका पात्र बनूँ । इस तरहके विचारोंसे वह बुद्धिमान् अपनी प्रतिष्ठाका मद नहीं करता और समभाव रहकर अपना कल्याण करता है । ४३ ।

प्रश्नः—उच्चकुलमदस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद ।

अहं कुलवानस्मि इति कुलमदस्य किं लक्षणमस्ति इति हे गुरो मे कथय ।

हे पूज्य गुरुदेव "कुलमद" क्या वस्तु है उसके क्या चिह्न हैं यह मुझे स्पष्ट बताइए—

(अनुष्टुप्)

भवेदुच्चकुले जन्म दानपूजादिपुण्यतः ।
ज्ञात्वेति दानपूजादि कार्यमुच्चकुले यतः ॥ ४४ ॥

उच्चकुलमदः त्याज्यः कार्यं नोन्मत्तचेष्टितम् ।
वन्द्यः सर्वज्ञसन्देशस्तथा स्थाप्यो जनैर्हृदि ॥ ४५ ॥

भवेदित्यादिः—दानपूजादिपुण्यतः सत्पात्रेषु दानतः पूज्यानां पूजया च प्राणिनामुच्चकुले जन्म भवति इति ज्ञात्वा यतः उच्चकुले जन्म अतः दानपूजादि नियमतः कार्यम् । यदि पूर्वजन्मकृतसत्पुण्येन भवतां उच्चकुले जन्म जातं चेत्

कुलमदः कर्त्तव्य इति यावत्। नास्त्यत्र कश्चित् एतज्जन्मप्रयासः। पूर्वं पुण्यानुसारेणैव उच्चकुलेषु जन्म स्यात् अत उच्चकुलमदः त्याज्यः। तथापि तत्करणं उन्मत्तचेष्टितं स्यात्। तच्च न कार्यम्। यतः सर्वज्ञसन्देशः भगवतो महावीरतीर्थंकरस्य सन्देशः धन्यस्तथा स्वहृदि जनैः स्थापनीयश्च। ४४। ४५।

उत्तम पात्र मुनि आदिको चतुर्विध दान देना तथा उनकी योग्यरीतिसे पूजा, विनय, सेवा और सुश्रूषा आदि करनेसे पुण्यका उत्पादन होता है और इस पुण्योदयसे जीवका उच्चलोक प्रतिष्ठित सदाचारी माननीय कुलमें जन्म होता है। यह कुलीनता पूर्व पुण्यका ही फल है। इस जन्मका कोई प्रयत्न नहीं है। तब उच्च कुलमें जन्म पानेका अभिमान कैसा तो भी यदि कोई मूढ कुलका अभिमान करे तो यह उसकी उन्मत्त जैसी चेष्टा है। पागलोंका प्रलाप है। इससे उसकी प्रतिष्ठा घटती ही है। अतः इस चेष्टाको परित्याग कर परम पूज्य वन्दनीय सर्वज्ञ परमात्मा अर्हन्त देवका हितकर सन्देश अपने अपने हृदयोंमें स्थापित करना चाहिए क्योंकि जिनोपदेश ही हमें दुःखके मार्गसे विमुख कर सुखके स्थानमें पहुँचाएगा। ४४। ४५।

प्रश्न :—**चिह्नं जातिमदस्यास्ति ब्रूहि मे सिद्धये गुरो !**

हे गुरो ! जातिमदस्य किं लक्षणमस्ति इति तन्निराकरणसिद्धये मे कथय।

हे दयालो ! जातिमदके निराकरणकी सिद्धिके लिए कृपाकर जातिमदके स्वरूपका प्रतिपादन कीजिए —

(अनुष्टुप्)

देवशास्त्रगुरूणां ये सेवां कुर्वन्ति भक्तितः।
लभन्ते श्रेष्ठजातिं ते सुखं कौ मान्यतामपि ॥ ४६ ॥
ज्ञात्वा जातिमदो नेति कार्यो मर्मविदारकः।
श्रेष्ठजात्यां यतो जन्म स्यात्ते स्वर्मोक्षदा मतिः ॥ ४७ ॥ युग्मम् ॥

देवशास्त्रगुरूणामित्यादि :—सुगमम्। तात्पर्यमेतत्-मातृपक्षस्तु जातिः, पितृपक्षः कुलमिति निर्णयात् स्वमातुलस्य तत्सम्बंधात् तत्कुलस्य श्रेष्ठतायाः धनवत्तायाः विद्वत्तायाः प्रतिष्ठायाः बलवत्तायाः मदं न कुर्यात्। श्रेष्ठजातिषु तेषां प्राणिनां जन्म स्वत एव भवति ये भक्तितः सद्देवशास्त्रगुरूणां यथोचितां सेवां सविनयं कुर्वन्ति। लोके तेषां प्रतिष्ठापि संजायते। स्वजातेरुच्चतायाः मदेन तदहंकारेण लोकेऽप्रतिष्ठा भवति हीनजातिषु जन्म च भवति। इति ज्ञात्वा अन्येषां मर्मच्छेदकानि जातिमदसूचकानि वचनानि न वक्तव्यानि। यदि एवं स्यात्तर्हि ते जन्मापि श्रेष्ठजात्यां स्यात् तथा स्वर्गेषु परम्परया मोक्षे च समुत्पादका बुद्धिस्ते स्यादेव नात्र संशयः। ४६। ४७।

मातृपक्ष यदि विशुद्ध हो तो वह विशुद्ध जातिवाला मनुष्य है और यदि मातृपक्ष अविशुद्ध है तो वह जातिहीन है। मातृपक्षकी उच्चताका उसकी धनवत्ता बलवत्ता प्रतिष्ठा आदिका अभिमान करना ही जाति संबंधी मद है। उच्च जातिवाला होने पर भी मनुष्यको उस उच्चताका अहंकार न करना चाहिए। उच्चकुल या उच्चजातिमें जन्म उन महापुरुषोंको स्वतः प्राप्त होता है जो सद्देव, सद्धर्म तथा सद्गुरुकी भक्ति और विनयपूर्वक यथोचित सेवा करते हैं। ऐसे सदाचारी जातिविशुद्ध पुरुषका कर्त्तव्य है कि वह ऐसे मर्मघातक वचन किसीसे न कहे जिन वचनोंसे उसका जात्यभिमान प्रकट हो। अभिमानी पुरुष सदा

परका पराभव करता है और उससे ही दूसरे पुरुषोंको मानसिक भयंकर दुख होता है। इसलिए अभिमानी पुरुष हिंसक हो जाता है।

अभिमानी पुरुषको संसारके दूसरे मनुष्य उच्च न मानकर नीचा ही मानते हैं भले ही वह उच्चकुल या जातिका हो अतः उच्चजातिका होकर भी वह लोक व्यवहारमें जनताकी निगाहमें नीचा माना जाता है। इससे संक्लेश परिणामोंमें वृद्धि होती है और संक्लेश परिणाम पापबंधनका हेतु हैं तथा पापसे कुगति परिभ्रमण करना होता है अतः जो भव्य पुरुष स्वर्ग और परम्परासे मोक्षको भी प्रदान करनेवाली धर्मबुद्धिको उत्पन्न करना चाहता है उसे चाहिए कि भूल कर भी जाति संबंधी अहंकार न करे। और न दूसरोंको पराभूत करनेका प्रयत्न करे। हीन जातिके मनुष्योंके साथ भी सद्व्यवहार रखे। उन्हें हीन समझकर उनका अनादर न करे। उनके सुधारके लिए केवल सदाचारका उपदेश करे। ऐसा करनेवाले व्यक्तियोंका ही श्रेष्ठ जातिमें जन्म होता है। मद करनेवालेका जन्म तो नीच जातिमें ही होता है।४६।४७।

प्रश्न :—**चिह्नं बलमदस्यास्ति ब्रूहि मे शान्तये गुरो।**

हे गुरो ! बलमदस्य कानि चिन्हानि इति मे शान्तिलाभाय कथय।

हे श्रेष्ठ ! बलका मद कैसा होता है उसका क्या फल है,मुझे शान्तिलाभार्थ उसका स्वरूप प्रतिपादन कीजिए—

(वसन्ततिलका)

दीनात्मरक्षणत एव सुपुण्यतोऽपि,
स्वर्मोक्षसाधकतमं लभते बलं ना।
ज्ञात्वेति दीनजनरक्षणमेव कार्यं
दुःखप्रदो बलमदो न कदापि कार्यः ॥ ४८ ॥

दीनात्मेत्यादिः—लोके बलवतामुपयोगिता दीनातिरक्षणे एव मन्यते जनैः। तदुत्तमकार्यकरणादेव सुपुण्यतः समुत्पन्नपुण्यतः ना पुरुषः स्वर्गमोक्षसाधकं बलं लभते। इति ज्ञात्वा दीनजनरक्षणं दीनाश्च ते जनाश्च तेषां रक्षणं विपत्तिदूरीकरणं रुग्णावस्थायां शारीरिकसेवाकरणं अन्यैर्बलवद्भिःपीडिते सति तत्साहाय्यकरणमेव कार्यम्। अहं बलवानस्मि को नाम मत्समक्षे स्थातुं समर्थोऽस्ति ? अन्यैस्तु निर्बलैर्मत्सेवैव करणीया अन्यथा तेषां विनाश एव समुपस्थितो भविष्यति इति बलमदेन अन्यतिरस्करणं न्यायातिक्रमेण तेषामधिकारहापनं दुःखप्रदमस्ति इति ज्ञात्वा कदापि बलमदो न कार्यः। ४८।

बलवान् पुरुषोंके बलकी उपयोगिता दीन, निर्बल और त्रस्त लोगोंके रक्षणमें ही संसारमें मानी जाती है। इस परमोत्तम कार्यके द्वारा उत्पन्न श्रेष्ठ पुण्यके द्वारा ही उत्तम गतिके साधन प्राप्त होते हैं और परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिका यह सामान्य कर्त्तव्य है कि अपनी शक्तिका उपयोग सदा उन प्राणियोंके रक्षणमें करे जिनका जीवन ही एक मात्र धन है। उनकी विपत्तियोंको दूर करना, रुग्णावस्थामें उनकी शारीरिक सेवा करना, दूसरे बलवानोंके द्वारा सताए जानेवाले निर्बलोंकी सहायता करना इत्यादि अनेक सदुपायोंसे उनकी रक्षा करनी चाहिए।

मैं बलवान् हूँ, मेरे सामने कौन ठहर सकता है, निर्बलोंको मेरी सेवा करनी होगी, नहीं तो वे तकलीफमें डाल दिए जायँगे। उनका विनाश कर दूँगा। इत्यादि कुभावोंके द्वारा अपनी शक्तिका

अनुचित अहंकारकर दूसरोंका तिरस्कार करना, न्याय मार्गका उल्लंघनकर उनके अधिकार छीनना, उनपर अपनी सत्ता जमाना अपना प्रभुत्व स्थापन करना यह सब "बलमद" है। बलमदवाला पुरुष अन्यायके मार्ग पर जाता है. हिंसा करता है, पराया धन हड़प जाता है, मिथ्या भाषण द्वारा स्वार्थसिद्धिके लिए दूसरों पर झूठा दोषारोपण करता है, पराई बहू बेटियोंपर खोटी निगाह करता है और अपने घमंडमें चूर होकर तरह तरहके अन्याय करते हुए भी नहीं डरता।

उसकी ये सब बातें उसे पारमार्थिक हानि तो पहुँचाती ही हैं पर लौकिक हानि भी पहुँचाती हैं। वह लोकमें निंद्य होता है, पापी गिना जाता है, आततायी और अत्याचारी माना जाता है, सभी लोग उसके पराभवकी कांक्षा करते हैं और उसके पराभूत होने पर आनंद मानते हैं अतः प्रत्येक व्यक्तिको चाहिए कि अनिष्टकारक महान् दुखदायी इस "शक्तिमद"को कभी पास न आने दे। 'शक्ति' की प्राप्तिको दीनोंके उद्धारमें व व्रत संयमके पालनमें लगावे जिससे कि उसका इस लोक और परलोकमें कल्याण हो।४८।

प्रश्नः – **चिह्नमृद्धिमदस्यास्ति ब्रूहि मे सिद्धये गुरो।**

धनमदस्य यच्चिन्हमस्ति तत् मे कार्यसिद्ध्यर्थं हे गुरो ! कथय।

धनका मद क्या है यह हे गुरो मेरे कार्यकी सिद्धिके लिए कृपया कहें—

(वसन्ततिलका)

ऋद्धिः सुविस्मयकरी व्रतदानधर्मा-
च्छान्त्येति शान्तिसुखदा भवतीह भव्य।
ऋद्धेर्विहाय कुमदं व्रतदानधर्मं
भक्त्या सदा कुरु यतश्च तवेष्टसिद्धिः॥ ४९॥

ऋद्धीत्यादिः–हे भव्य इह लोके व्रतदानधर्मात् व्रतानाम्परिपालनात् सुपात्रदानात् दयादाक्षिण्यादिधर्मादेव सुविस्मयकरी लोकाश्चर्यकरी शान्तिसुखदा शान्तिप्रदा सुखप्रदा च ऋद्धिः धनादिविभवं भवति संप्राप्यते। इति ज्ञात्वा ऋद्धेः कुमदं कुत्सितो मदः कुमदः, यथा–ऐश्वर्यमत्तानां पुरुषाणां विचित्रा स्थितिर्भवति, न ते गणयन्ति देवशास्त्र-गुरूनपि, तेषामपि निरादरस्तै: क्रियते का कथान्येषाम्। अहमेव देवस्थानरक्षकोऽस्मि, मम गृहे यदि धनमस्ति तर्हि अनेके देवालयाः अनेकाश्च देवमूर्त्तयो निर्मापिता भविष्यन्ति, ग्रन्थविनयादरक्षणाच्च शास्त्राणि कृमिकीटैर्भक्षितानि तर्हि का नो हानिः? अन्यान्यपि धनप्रदानेन विद्वद्भिः लेखकैश्च लेख्यानि भविष्यन्ति, मुनिसंघस्याहमेव संचालकोऽस्मि, धनाभावे कीदृशी गतिः स्याद् मुनीनाम्, सर्वोऽपि धर्मो मदधीन एव, मम दानादेव जिनालयेषु जिनपूजा भवति, अनेके विद्वांसः पठनं पाठनं च कुर्वन्ति, रुग्णाः दीनजनाः औषधानि प्राप्नुवन्ति चतुर्विधसंघस्य आहारादिकं संपद्यते। हिंसादिपञ्चमहापातकानामपि कारको ऋद्धिमद एव. सोऽभिमानी स्वधनबलेन महाहिंसामपि गोपयति। महदप्यसत्यं सत्ये समारोपयति, विविधप्रकारादानप्रदानजालेषु दीनान् धनहीनान् पाशयित्वा कुसीदेन कुसीदस्यापि कुसीदेन च तान् निर्धनीकरोति। चौर्ययित्वा स्वबलेन अन्यधनं महाजनः स्वात्मानं लोके साधुकारत्वेन ज्ञापयति परवनितादिकमपि धनबलादाहृत्य शीलवानस्मि इति ज्ञापयति। न किञ्चित् गरीयः पापमस्ति यत्तेन न क्रियते। तस्मात् सर्वप्रकारेण तं (ऋद्धेः कुमदम्) विहाय भक्त्या व्रतदानधर्मं सम्यग्व्रतानां परिपालनं जिनपूजाकरणं शास्त्रसेवाकरणं ज्ञानार्जनं गुरुपादसेवाकरणं सुपात्रेषु दानं कुरु। यतः यत्करणादेव तव इष्टसिद्धिः स्वात्मकल्याणं भवति इति विज्ञेयम्।४९।

हे भव्य पुरुषो ! व्रत पालन, सुपात्रदान, दया और उदारता आदि गुणोंके द्वारा ही जीवनमें शान्ति और सुखकी दाता सामग्री प्राप्त होती है। केवल व्यापारादिके उद्योग या पुरुषार्थसे धनादिकी प्राप्ति नहीं होती। इस निश्चित सत्यको जो लोग नहीं जानते ऐसे मूर्ख ही अपने वैभवका अभिमान करते हैं।

ऐश्वर्यसे उन्मत्त पुरुषोंकी स्थिति बहुत विचित्र होती है। वे देव,शास्त्र और गुरु जैसे परम उद्धारकोंकी भी अवहेलना करते हैं। जब वे परम हितकारक देव, शास्त्र और गुरुकी भी अवहेलना करते हैं तब अन्य पुरुषोंकी क्या कथा कहनी है। धनोन्मत्त पुरुष ऐसा मानता है कि मैं मन्दिरोंका निर्माता हूँ" "मैं देव स्थानोंका व तीर्थस्थानोंका रक्षक हूँ। यदि मेरे पास धन है तो बहुतसे मन्दिर और बहुत सी मूर्तियां बन सकती हैं। मन्दिरोंकी पूजा प्रतिष्ठा रथयात्रा महाभिषेक आदि सम्पूर्ण सत्कार्य करना मेरे बाएं हाथका खेल है।

शास्त्र भंडारोंमें यदि चूहे घुसते हैं, यदि कृमि कीट आदि शास्त्रोंको नष्ट करते हैं तो हानि क्या है? और लिखा लिये जांयगे। धन पाने पर बहुतसे पंडित और लेखक अनेक शास्त्र रचकर तैयारकर रख देंगे। मैं मुनिसंघोंका संचालक हूँ। यदि मैं धन न खर्च करूं तो मुनियोंकी क्या दशा होगी? मेरे धनसे ही बड़े बड़े विद्यालय विश्वविद्यालय चल रहे हैं। पैसेके लिए ही तो बड़े बड़े विद्वान् पठन-पाठन करते हैं।

धन या वैभव तथा अधिकारका अभिमान मनुष्यको धरती पर पैर नहीं रखने देता। वह चाहता है कि मैं सबके ऊपर चलूं। वह समझता है कि सारा संसार मेरा मुंह देखता है। सबकी दृष्टि चाहे वह गृहस्थ हो व साधु, दीन हो या श्रीमान, बलवान हो या निर्बल, पंडित हो या मूर्ख, उद्योगी हो या निरुद्योगी, राजा हो या रंक, पापी हो या धर्मात्मा, मेरे धनकी ओर है। मैं इन सबसे बड़ा हूँ। सब मेरा मान करते हैं। मेरा निरादर कोई नहीं कर सकता। मेरा निरादर करनेवालोंकी खैरियत नहीं है। उसका जीवन दुष्कर हो जायगा।

ऐश्वर्यमत्त व्यक्ति पांच महापातकोंसे भी नहीं डरता वह महान् से महान हिंसा, स्त्रीघात,बालघात, पुरुषघात, प्रतिघात तथा मुनिघात जैसी हिंसाको भी धनके बलसे छिपा लेता है। बड़े बड़े असत्यको भी सत्य स्थापित कर देता है। अनेक प्रकारके लेन देनके जालोंमें दीन दुर्बल मनुष्यरूपी मछलियोंको फांस कर व्याज और महा व्याजसे उन्हें निर्धन बनाकर उनका सर्वस्व हरण कर लेता है। कर-बल-छलसे अन्य जनोंका धनापहरण कर स्वयं महाजन और साहूकार अपनेको प्रकट करता है। धनके बलपर दूसरोंकी कन्याओंका या वनिताओंका अपहरण कर उनका शील नष्ट करके भी स्वयं शीलवान बनकर समाजमें प्रतिष्ठा स्थापित करनेका प्रयत्न करता है। संसारमें ऐसा कोई महानसे महान् पातक नहीं जिसे धनमत्त पुरुष न कर सकता हो। यदि अन्य पाप मात्र पाप है तो धनमत्तता पापोंका पिता है पापोंकी खनि है। पापोंकी जननी है।

अतः सब प्रकारके प्रयत्नोंसे अनर्थोत्पादक अहित कारक इस मदका त्यागकरधनका सदुपयोग भक्ति सहित विनयसहित जिनपूजामें लगाना शास्त्रोंका उद्धार करना सुपात्रोंको दान देना ज्ञानार्जनके कार्यमें लगाना रोगियोंकी सेवामें खर्च करना ही परम श्रेयस्कर है और इससे ही धनप्राप्तिकी सफलता है। ऐसा करनेवाला निरहंकारी पुरुष ही स्वात्मकल्याण कर सकता है। यह जानना चाहिए।४६।

प्रश्नः—**शरीरमदचिन्हं किं विद्यते मे गुरो वद।**

किं तत् शरीरमदचिह्नमस्ति हे गुरो कृपया ब्रूहि।

हे गुरो! शरीरमदका क्या स्वरूप है कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

अन्नौषधादिसुखहेतुविशेषदानाद्
देहं व्रतादिकरणे लभते समर्थम् ।
ज्ञात्वेति कायकुमदो भवदो न कार्यः
स्वात्मान्यशुद्धिकरणे सततं स योज्यः ॥ ५० ॥

अन्नौषधादीत्यादि :—संसारपरिभ्रमणरूपासु चतुर्गतिषु मध्ये मानवदेह एव संयमयोग्य इति कथयन्त्याचार्याः । अन्नौपधादिसुखहेतुविशेषदानाद् अन्नौषधादीनां सुखहेतु सुखकरं यद् विशेषदानं तस्मात् व्रतादिकरणे मोक्षसाधनभूतव्रतोपवासादिविधाने समर्थं देहं शरीरं लभते इति ज्ञात्वा भवदः कायकुमदः संसारपरिभ्रमणरूपदुखस्य बीजभूतः कायमदः कदापि न कार्यः । किन्तु स्वात्मान्यशुद्धिकरणे स्वात्मशुद्धये परोपकृतये च सततं स देहः योज्यः ।५०।

यद्यपि संसार परिभ्रमण रूप चारों ही गतियोंमें मनुष्य देह श्रेष्ठ मानी गई है पर वह जिस कारणसे श्रेष्ठ है वह कारण है श्रेष्ठसंयम । इसकी प्रगति अन्य किसी भी गतिमें नहीं होती । तिर्यञ्चोंमें कचित् कदाचित् कथञ्चित किसीको देशसंयम होनेकी संभावना रहती है तथापि परिपूर्ण संयम कभी नहीं होता । उसे प्राप्त करनेकी एक मात्र सामर्थ्य मानव देहमें है और वह भी उच्चकुलीन पुरुष पर्यायाश्रित देहमें ।

यदि मानव देहकी उत्कृष्टताके उक्त कारणको छोड़कर शरीरके स्वरूपपर विचार किया जाय तो यह देह महान् अपवित्र है । जिस देहका बीज मल है अर्थात् जो पुरुषके और स्त्रियोंके रजवीर्यरूपी मलसे ही बनता है । तथा मलको उत्पादन करना ही जिसका एकमात्र कार्य है । नवद्वार जिसके सदा मलप्रवाही हैं । उस शरीरको सुन्दर मानना ही मूर्खता है; फिर सुन्दर मानकर उसका घमंड करना तो महान् मूढ़ता है ।

मोही जन ही ऐसे घृणित शरीरको सुंदर मानते तथा उसमें रमण करते हैं । विवेकी पुरुष उसमें कभी रमण नहीं करते । मिथ्यात्वके उदयसे ही जीव हाड़ मांस चर्बी रक्त पीप आदि महान् दुर्गन्धित और अस्पृश्य पदार्थोंके योगसे बने इस शरीरको सजाते हैं और उसे सुन्दर मानते हैं । उसके लिए अच्छे अच्छे पदार्थोंकी उपमा देकर अपने ज्ञाता हृदयको भी धोखा देकर अपना अकल्याण करते हैं ।

सम्यग्दृष्टी पुरुष जिनके हृदयसे भ्रम दूर हो गया है वे वस्तुके ठीक ठीक स्वरूपको जानते हैं । वे कभी भ्रममें नहीं पड़ते । वे झूठी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओंके जालमें पड़कर अपना वस्तुतत्त्वका ज्ञान गंदला नहीं करते । जब कि वे शरीरके वास्तविक रूपका ज्ञान रखते हैं तब ऐसी स्थितिमें वे शरीरका मद भी कभी नहीं करते । वे जानते हैं कि यह मद संसार परिभ्रमणका मूल है । वे शरीरकी उपयोगिता संयमके परिपालनमें मानकर संयमधारण करते हैं । तपस्याके द्वारा इंद्रिय विषय और कषायोंका निग्रह कर वे आत्मशुद्धिके मार्गमें बढ़ते हैं तथा इस प्रकार स्वपरोपकार करते हुए अपना काल यापन करते हैं । यह कर्तव्य प्रत्येक मानवके लिए अनुकरणीय है ।५०।

प्रश्नः—**किं लक्षणं वद गुरो च तपोमदस्य ।**

हे गुरो ! तपोमदस्य किं चिह्नमस्ति ? कथय ।

हे गुरो ! तपमद कैसा होता है उसका क्या चिन्ह है ? कृपा कर कहें—

(उपजातिः)

इच्छानिरोधस्तपसः सुचिह्नं
ज्ञात्वेति चोक्तं सुखदं सुशान्त्यै ।
मोक्षस्य चेच्छापि भवस्य बन्धा
वद प्रभो ! चान्यकथास्ति का को ॥ ५१ ॥

इच्छानिरोध इत्यादिः—संसारपरिभ्रमणदुःखवारणाय तपः कुर्वन्ति तपस्विनः। इच्छानिरोधः पञ्चेन्द्रियाणां विषयेषु स्वेच्छाया रोधनमेव तपसः चिन्हं लक्षणमस्ति इति ज्ञात्वा सुशान्त्यै संसारदुःखशान्त्यर्थं तपः सुखदं उक्तम्। एवं सत्यपि "वयं तपस्विनः स्मः, को नाम वर्तते एवं दुष्करं तपः कर्तुं समर्थो मदन्यः" इत्येवंप्रकारेण तपसो मदो न कार्यः। इच्छा एव दुःखं वर्तते। इच्छारहितानां तु दुःखस्य मात्रापि न स्यात्। संसारमार्गेऽपि दृश्यते यत्अल्पेच्छावानपुरुषः स्वेच्छां स्वल्पप्रयत्नेन साधयति सुखी च भवति। नैकेच्छावतां पुरुषाणां तु नैकविधप्रयत्नेनापि नेच्छाशान्तिर्भवति अतः स न स्वल्पप्रयत्नेन सुखी भवति। अतएव सिद्धमेतत् यत् इच्छाया उत्पत्तिः एव दुःखोत्पत्तिः को पृथिव्यां अन्यकथा कास्ति दूरमास्ताम्। मोक्षस्यापि इच्छा भवस्य बन्धो बन्धहेतुः अत इच्छानिरोधः कार्यः इति तात्पर्यम्। ५१।

पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको स्वेच्छासे रोकना यह तपका सामान्य लक्षण है। संसार परिभ्रमणके गहन दुःखोंसे छूटनेकी अभिलाषासे तपस्वी पुरुष तपकी आराधना करते हैं। उक्त अभिप्रायकी पूर्तिके लिए तप करना श्रेयस्कर है। ऐसे तपस्वियोंमें अनेक ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हें अपने द्वारा की जानेवाली उग्र तपस्याका गर्व उत्पन्न हो जाता है। वे यह कहने लगते हैं कि:—हम तपस्वी हैं मेरे जैसा दुष्कर तप करने में मेरे सिवाय और कौन समर्थ है किन्तु इस प्रकारका तपस्याका मद कभी नहीं करना चाहिए।

इच्छामात्र ही दुःख है। जो इच्छा रहित हैं उनके दुःखका लेश भी नहीं है। यह बात संसार प्रसिद्ध है कि अल्प इच्छावाला पुरुष स्वल्प प्रयत्नसे अपनी इच्छाकी पूर्ति करके सुखी हो जाता है और अनेक इच्छाओंवाला व्यक्ति अनेक प्रयत्नोंसे भी अपनी इच्छा पूर्ति नहीं कर पाता और दुःखी होता है। वह अपना शान्तिमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। इससे यह सिद्ध है कि इच्छाका उत्पन्न होना दुःखका ही उत्पन्न होना है।

मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा यद्यपि प्रशस्त इच्छा है। उसका अर्थ संसारके विषय भोगोंकी इच्छासे विमुक्त होना ही है तथापि जब तक अन्य इच्छाओंके विरोधकी तरह मोक्षकी भी अभिलाषाका निरोधकर एकमात्र दृष्टि आत्मविशुद्धिकी ओर नहीं जाती तब तक मोक्ष भी दूर है। मुझे मोक्षकी प्राप्ति हो वह मुझे कब मिले ऐसी चिन्ता करनेवाला अपना समय व्यर्थ ही चिन्तामें खोता है। चिन्ता करनेसे कोइ वस्तु नहीं मिलती, उसके लिए किए जानेवाले प्रयत्नमें संलग्न होनेसे ही उक्त उद्देश्यकी पूर्ति होती है। कर्त्तव्यविमूढ केवल चिन्तामें संलग्न तपस्वी अनेक वर्षोंकी तपस्या करनेपर भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होता है। जब मोक्षाभिलाषा ही मोक्ष प्राप्तिमें बाधक है तब अन्य पदार्थोंकी अभिलाषाएं कितनी अधिक बाधक होंगी यह सहज ही समझ में आ जाता है।

सारांश यह कि मोक्षाभिलाषीको अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए बनाए गए प्रयत्नोंमें ही संलग्न रहना चाहिए। कर्त्तव्यशील व्यक्ति ही स्वोद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है। कर्त्तव्य रहित चिन्तामात्र करने-

वाला चिन्ताशील व्यक्ति केवल चिन्ताका पात्र होता है और अल्प प्रयत्नको बड़ा प्रयत्न माननेवाला अथवा महान् प्रयत्नको भी अपने गर्वकी वस्तु माननेवाला व्यक्ति पथसे च्युत हो जाता है और वह कभी अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं होता अतः तपस्याका भी मद करना हेय है। ५१।

उपसंहार

(अनुष्टुप्)

मिथः क्लेशकरं प्रोक्तं हीत्यष्टमदलक्षणम्।
ज्ञात्वेति मदांस्त्यक्त्वा भवेयुर्निर्मदाः सदा॥ ५२॥

मिथ इत्यादिः-इति एवंप्रकारेण मिथः क्लेशकरं अष्टमदलक्षणं प्रोक्तम्। अष्टावाश्रित्य गर्वकरणं अष्टानां इति स्वरूपं ज्ञात्वा मदान् त्यक्त्वा सदा निर्मदा भवेयुः।५२।

ऊपर कहे हुए परस्पर क्लेशकर आठों मदोंका स्वरूप भली भांति समझ कर धर्मात्मा पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे इनमे अपनेको सदा दूर रखें और किसी भी प्रकारका मद न करें। अभिमानी स्वल्पोन्नतिमें संतोषी हो जाता और अपने अल्प गुणोंकोभी महानगुण मान बैठता है। उसके इस भ्रमसे उसकी उन्नति रुक जाती है। वह अपनी उन्नतिका स्वयं बाधक बन जाता है। सम्यग्दर्शन मोक्षका मूल है। किन्तु इन मदोंसे उसकी जड़ पर ही कुठाराघात होता है और सम्यक्त्व सदोष हो जाता है। धर्मात्मा पुरुषोंको इन मदोंसे दूर रहकर अपना सम्यक्त्व निर्मल बनाना चाहिए। ५२।

इस प्रकार आठ मदोंके स्वरूपका विचार किया।

सम्यग्दृष्टि सप्त भय रहित होता है

प्रश्न :—**इहलोकभयस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद।**

सप्तभयेषु सर्वप्रथमं इहलोकसंबंधिनो भयस्य स्वरूपनिरूपणार्थं पृच्छति शिष्यः।

भय सात प्रकारके होते हैं। उनका वर्णन इस प्रकरणमें क्रमसे किया है। इनमेंसे सर्वप्रथम इस लोकसंबंधी भय है। इसका क्या स्वरूप है ऐसा शिष्य श्रीगुरुसे प्रश्न करता है—

(अनुष्टुप्)

अज्ञानाद्यवस्थायां यत्किञ्चिद्विध कृतं मया।
तदेव भुज्यते काले भावो यस्येति जायते॥ ५३॥
तस्येहलोकभीतिर्न जायते तत्त्ववेदिनः।
सम्यग्दृष्टेस्तु जीवस्याऽचिन्त्योऽस्ति महिमा सदा॥ ५४॥ युग्मम्॥

अज्ञानादित्यादिः—सुगमम्। तात्पर्यमेतत्—इहलोकसंबंधिनां जीवनरक्षोपायभूतानां पदार्थानां अर्जनं तेषां सञ्चयञ्च कुर्वन्ति जनाः। एतत्कृते प्रयत्ने कृते सति यदि पौरुषं विफलं स्यात् तदा नानाचिन्ताभिर्भीतास्ते निरुत्साहाः म्लानाश्च भवन्ति। सम्यग्दृष्टिस्तु जानाति यत् सर्वमेतत् मम कर्मफलमस्ति। निजार्जितं कर्म विहाय कश्चिदपि मे हानिं वृद्धिं वा कर्तुमसमर्थोऽस्ति। यत् किल स्वाज्ञानावस्थायां मयापराधः कृतः तत्फलमेव भुज्यते मयाऽधुना। एवंविचारयतस्तस्य स्वल्पमपि भयोत्पादनं न भवति। तत्त्वस्वरूपबोधकस्य तस्य महान् महिमा अस्ति।५३।५४।

लोकमें अपने अपने जीवनकी रक्षाके लिए अनेक पदार्थोंका अर्जन और सञ्चय तथा उनका रक्षण लोग करते हैं। उनके प्रयत्न करनेमें कदाचित् पौरुष विफल हो जाय तो अनेक चिन्ताएं उन्हें आ घेरती हैं और वे जीवन रक्षाके अभावसे भयभीत हो उत्साह रहित होकर म्लानचित्त हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्ववेदी है। वस्तुके स्वरूपका उसे परिज्ञान है। संपत्ति और विपत्ति दोनों अवस्थाओंमें वह समभावी रहता है। न संपत्तिसे फूल उठता है और न विपत्तिमें चिन्तातुर होता है। वह जानता है कि मैंने पूर्वमें अच्छे या बुरे जो भी कर्म किए हैं उसके फल स्वरूप ही यह संपत्ति या विपत्ति है। अपने कर्मोदयके सिवाय अन्य कोई मेरी हानि या वृद्धि करनेमें समर्थ नहीं है। मैंने अपनी अज्ञानावस्थामें जो अपराध किए हैं उनका ही कटुक फल मैं इस समय भोग रहा हूँ। इस प्रकारके तात्त्विक विचारसे उसका चित्त सदा निर्भय रहता है। उसके चित्तमें भयकी रेखाका कभी उदय नहीं होता। यह सब उस महान् तत्त्वबोधकी ही अचिन्त्य महिमा है कि जिससे वह सम्यग्दृष्टि विपत्तिमें भी सुखी और निर्भय तथा साहसी बना रहता है ।५३।५४।

प्रश्नः—**परलोकभयस्यातिं किं चिह्नं मे गुरो वद ।**

हे गुरो ! सप्तभयेषु परलोकसंबंधिनो भयस्य किं स्वरूपमस्ति इति मे कथय ।

हे गुरुदेव ! सात भयोंमें दूसरा परलोक संबंधी भय है उसका क्या स्वरूप है और उसका त्याग सम्यग्दृष्टि किस प्रकार करता है कृपया कहें। श्रीगुरु उत्तर देते हैं—

(अनुष्टुप्)

भवेऽस्मिन् यत् कृतं किञ्चित् परस्मिन् भोक्ष्यते मया ।
स एव तत्त्वतः श्रीदो भावो यस्येति वर्तते ॥ ५५ ॥

परलोकभयं तस्य न स्याद्विज्ञानचक्षुषः ।
शुद्धचिद्रूपमूर्त्तेः को ह्यगाधो महिमा मतः ॥ ५६ ॥

भवेऽस्मिन्नित्यादिः—सुगमम् । तात्पर्यमेतत्—परलोकस्य भयं नकर्त्तव्यम् । मिथ्यादृष्टयः खलु एवं विचारयन्ति यत् परलोकोऽस्ति न वा ? यदि नास्ति तदा मम नाश एव स्यात् । यद्यस्ति तर्हि किं भविष्यति परत्र । कस्मिन् जन्मनि गमिष्यामि ? कीदृशी तत्र दशा भविष्यति ? एवं चिन्तापरम्परया सीदन्ति भीताश्च भवन्ति । सम्यग्दृष्टिस्तु एवं निश्चिनोति यत् तदेव प्राप्यते परत्र यदत्र जन्मनि मयारभ्यते । तत् परमपरं वा किञ्चिदपि स्यात् । इच्छामि चेत् सुखं परत्र कर्त्तव्यं तथा सुचरितं मया । नास्ति भयस्य किञ्चिदपि कारणं परलोके । परलोकस्य निर्माणमस्मदधीनं वर्तते न तु पराधीनमस्ति । तदा कथं शोच्योऽहम् ? स्वाधीनोऽहं स्वभाग्यनिर्माणाय । कस्मात् तर्हि भीतिः स्यात् । शुद्धचैतन्यतत्त्वमलोकयतस्तस्य ज्ञाननेत्रस्य महान् महिमा इति ।५५।५६।

मिथ्यादृष्टि लोग ऐसा विचार करते हैं कि यथार्थमें परलोक है भी या नहीं। यदि नहीं है तो मेरा नाश ही हो जायगा। यदि परलोक है तो मेरा परलोकमें क्या होगा। किस योनिमें जाऊँगा मेरी वहाँ कैसी दशा होगी ? इस प्रकारकी विषम चिन्ताओंसे वह दुखी तथा भयभीत होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ठीक इसके विपरीत यह निश्चय करता है कि परलोकमें वह होगा जैसा हम इस लोकमें करेंगे। यदि हम परलोकमें सुख चाहते हैं तो हमें इस लोकमें सदाचारसे रहना चाहिए। परलोकमें भयका कोई भी कारण नहीं है। परलोकका निर्माण हमारे ही अधीन है, पराधीन नहीं है। तब मैं क्यों व्यर्थ चिन्ता करूँ। मैं अपने भाग्यका निर्माता हूँ। फिर भय किस बातका ? शुद्ध चैतन्य तत्त्वका

अवलोकन करनेवाले उस ज्ञाननेत्र पुरुषकी बहुत बड़ी महिमा है। वह कभी परलोक संबंधी भीतिको पास नहीं आने देता है। ५५। ५६।

प्रश्न :—**वेदनाभयचिन्हं किं विद्यते मे गुरो ! वद ।**

हे गुरुदेव ! वेदनाभयस्य कानि चिन्हानि सन्ति इति कथय ।

हे गुरुदेव ! तृतीय वेदना भयके क्या लक्षण हैं उनका स्वरूप बताइए—

(अनुष्टुप्)

यदि पुण्यं कृतं तर्हि कथ रोगी भवाम्यहम् ।
भवत्येव सदा पापी रोगी दीनोऽतिचञ्चलः ॥ ५७ ॥

यस्येति तत्त्वतो भावस्तस्य तत्त्वार्थवेदिनः ।
न वेदनाभयं स्यात् कौ सदृष्टेर्महिमाऽचलः ॥ ५८ ॥

यदि पुण्यमित्यादिः—सुगमम् । भावार्थस्त्वयम्—संसारे खलु जीवानां वेदनातो भवति भयम् । माभूत् कश्चिद्रोगः मम । किं करिष्यामि रोगादिसन्निपाते जलोदरादौ क्षयादिके वा समुपस्थिते । कीदृशी महती वेदना तदा भविष्यति । कथमतिमात्रया सीदन्ति रोगिणः। न तेषां किञ्चिदपि सुखं सांसारिकं वैषयिकं वा । व्यर्थमेव तेषां यौवनं जीवितञ्च । इत्येवं प्रकारेण वेदयतस्तस्य मिथ्यादृष्टेः सदा नानाभयानि क्लेशयन्ति चेतस्तस्य । सम्यग्दृष्टिस्तु सदा निर्भयो निरहंकारो भवति यदि पूर्वजन्मनि मया पुण्यकार्याणि कृतानि । रोगिणां दरिद्राणां विकलाङ्गानां असहायानां दीनानां सेवया तदुपयुक्तसाहाय्येन यदि मया पुण्यानि सञ्चितानि तदा न स्यात् मम शरीरे कश्चिद्रोगः । नाहं कदाचिदपि असहायी भविष्यामि । पापिनस्तु स्वकर्मविपाकवशादेव लोके रोगिणोऽतिदीनाः चञ्चलचित्ताश्च भवन्ति । यस्यैवं निश्चयो वर्तते दृढहृदयस्य तस्य विमलदृष्टेः कथं स्यात् पृथिव्यां किंचिदपि वेदनाभयम् ? यथार्थतस्तु सम्यक्त्वस्य अति महिमा वर्तते येनासौ सदा निर्भयो विचरति लोके । ५७ । ५८ ।

संसारमें प्रायः सभी साधारण प्राणियोंके मनमें इस प्रकारका अनागत भय बना रहता है कि मुझे कोई रोग न हो जाय । यदि मुझे जलोदर, क्षय और संग्रहणी आदि कोई भयंकर रोग हो गया तो मैं क्या करूँगा कैसे अपने जीवनकी रक्षा करूंगा ? रोग अवस्थाकी उस महती वेदनाको कैसे सहूँगा । देखो विचारे इन रोगोंके रोगी कितने दुःखी हैं, उनका यौवन और जीवन दोनों व्यर्थ हैं । वे जीवनसे निराश पाले (हिमपात) से मारे हुए वृक्षों जैसा नीरस निष्फल जीवन व्यतीत कर रहे हैं । इसी प्रकारका जीवन मुझे भी भोगना पड़ेगा । इससे तो मरण अच्छा । ऐसे विचारोंके द्वारा मिथ्यादृष्टि जनोंके चित्त सदा क्लेशित, मोहित और भयभीत रहते हैं ।

किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा निर्भय रहता है । वह देहमें ममत्व तथा अहंकार नहीं करता । वह जानता है कि यदि पूर्व जन्ममें मैंने पुण्यकार्य किए हैं, रोगी, दीन, दरिद्र, अङ्गहीन और असहायोंकी सेवा और उनके लिए उपयुक्त उचित सहायता की है तो मैंने अवश्य अनेक पुण्योंका सञ्चय किया है। ऐसी स्थितिमें मैं कभी भी रोगी, दीन और दरिद्र नहीं हो सकता और न कभी असहाय रहूँगा । पाप सञ्चय करनेवाले पुरुष ही अपने दुष्कर्मके विपाकवश रोगी, दीन और चञ्चलचित्त होते हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रका वचन है । यदि मैंने भी पूर्वजन्ममें ऐसे पाप किए हैं तो मैं भी अवश्य ही रोगी और दुखी होऊंगा, फिर भी भय कैसा ? पूर्वोपार्जित कर्मके फल भोगनेमें दीनता कैसी ? ऐसा भय कायर पुरुष करते

हैं। मुझ जैसा साहसी जिन वचनके दृढ़निश्चयी पुरुषको कायर बनना शोभास्पद नहीं है। ऐसा विचार करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुषके कभी भी वेदना संबंधी भय नहीं होता। सम्यक्त्वकी ऐसी ही महिमा है।५७।५८।

प्रश्न :— मरणभयचिन्हं किं विद्यते मे गुरो वद।

हे गुरो ! मरणभयं भवति मिथ्यादृशस्तस्य स्वरूपं कथय।

हे गुरुदेव ! मरण भय क्या है और मिथ्यादृष्टिके उस मरणभयके कारण क्या परिणाम होते हैं। सम्यग्दृष्टि उस भयसे कैसे विमुक्त रहता है, कृपाकर समझाइए। शिष्यके ऐसा प्रश्न करने पर सद्गुरु उत्तर देते हैं :—

(उपजातिः)

यावत्प्रमोहो भुवि तावदेव जन्मापि मृत्युश्च भवेन्नरस्य।
वा यस्य जन्मास्ति च तस्य मृत्युः प्रियः सखा मे नववस्तुदाता ॥ ५९ ॥
यस्येति भावोऽस्ति विवेकपूर्णो मृत्योर्भयं तस्य भवेन्न दुष्टम्।
चिद्रूपमूर्त्तेस्सुखशांतिभोक्तुरहो ह्यचिन्त्यो महिमा त्रिलोके ॥ ६० ॥ युग्मम् ॥

यावदित्यादि :—भावोऽयम्—शरीरपरिग्रह एव जन्म। शरीरविनाश एव मृत्युः। शरीरं तु जीवात्मनस्सर्वथा पृथक विभिन्नलक्षणकमस्ति। नास्ति जीवस्य जन्म मृत्युर्वा इत्येवं तत्त्वे सुनिश्चितेऽपि मिथ्यात्वोदयवशात्खलु संसारिणः प्राणिनः शरीरजन्मनि स्वजन्म तस्य विनाशे स्वविनाशं परिशीलयन्ति। एवं विपरीतबोधात्तेषां शरीरगलनादेव स्वमृत्योर्भयम् समुत्पद्यते। यथार्थतस्तु भेदविज्ञानिनः न कश्चिन्मोहः स्यात् शरीरे। स निश्चिनोति यत् वर्तमानशरीरस्य विनाशेऽपि जन्मान्तरे पुनरपि शरीरोत्पादनं भविष्यत्येव। यावत् खलु विधिपराधीनोऽहं तावत् नानाजन्ममरणसंकुले संसारे परिभ्रमणं स्यादेव। यदि जीर्णं जरया मम शरीरं तदा तु शरीरमेव मम महद्दुःखकारणमासीत्। मृत्युस्तु मम सखा वर्तते यज्जीर्णशरीरादुत्थाप्य नवशरीरं प्रवेशयति। कथं तस्मात् भयं स्यात्। इत्येवं विवेकपूर्णो भावो यस्य विद्यते तस्य शान्तमूर्तेः स्वचित्चमत्कारमात्रस्य निष्किनः न कदापि मृत्युतो भयं भवति। ऊर्ध्वाधोमध्यलोकेषु सर्वत्र निर्भयः। तस्य अचिन्त्यो महिमा लोकेऽस्ति।५९।६०।

शरीरका प्राप्त होना ही जन्म है और उसका विनाश ही मरण है। जीवात्मा शरीरसे बिलकुल पृथक् लक्षणवाली वस्तु है। न तो जीवका कभी जन्म होता है और न मृत्यु ही। ऐसा तत्त्व निश्चित होनेपर भी मिथ्यात्वके उदयके वश संसारी प्राणी शरीर जन्ममें स्वजन्म और शरीरके विनाशमें अपना विनाश मान लेते हैं। उनकी ऐसी मिथ्या मान्यता ही उनके दुःखका मूल है। इस मिथ्याभावभासनासे उन्हें मृत्युका महान् भय उपस्थित होता है।

भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषके शरीरमें ऐसा कोई मोह नहीं होता। उसे यह निश्चय है कि इस जन्ममें इस शरीरका नाश हो जाने पर भी इस अमर आत्माको जन्मान्तर लेना पड़ेगा और वहां नवीन शरीर अवश्य प्राप्त होगा। जब तक मेरा जीव कर्मसे पराधीन है तब तक ऐसी अनेक योनियोंमें जन्म मरण करने होंगे।

मेरा यह जरासे जीर्ण शरीर छूटता है तो छूटने दो अब तो यह महारोगोंका घर दुःखका निदान है, इससे छुड़ानेवाली और नवीन शरीर प्रदान करनेवाली मृत्यु मेरे साथ मित्रताका ही कार्य कर रही है।

तब मृत्युसखासे भय कैसा ? ऐसा विवेकपूर्ण भाव जिस शान्तिमूर्ति विवेकी पुरुषके हो उस चैतन्य तत्त्वके दर्शी महापुरुषको मृत्युका भय अपने सन्मार्गसे कभी विचलित नहीं कर सकता। वह तीनों लोकोंमें निर्भय होकर विचरता है। सम्यक्त्वकी यह अचिन्त्य महिमा है। ६०।

प्रश्न :—**अरक्षाभयचिह्नं मे किमस्ति वद सिद्धये।**

हे गुरो ! अरक्षाभयस्य किं स्वरूपमस्ति तन्मे कथय यतः स्यात् मे सिद्धिः।

हे गुरु ! अरक्षाभयका स्वरूप कृपाकर बताइए जिसके परित्यागसे मैं आत्मसिद्धिको प्राप्त कर सकूं। आचार्य उत्तर देते हैं—

(उपजातिः)

स्वात्मात्मना स्वात्मनि स्वात्मनो वा यथार्थतः कौ क्रियते स्वरक्षा।
पुण्येन रक्षा व्यवहारदृष्ट्या पापेन कस्यापि विलोकिता न॥ ६१॥
यस्येति भावोऽस्ति विवेकपूर्णोऽरक्षाभयं तस्य भवेन्न चित्ते।
निजात्मरक्षां हि निजात्मनैव प्रकुर्वतो ज्ञानदिवाकरस्य॥ ६२॥ युग्मम्॥

स्वात्मेत्यादिः-सुगमम्। तात्पर्यमेतत्-सप्तभयेषु एकमस्ति अरक्षाभयमिति। नास्ति मम रक्षकः कश्चित्, कथं मे रक्षा स्यात् इति चिन्तया नाना पापानि कुर्वन्ति मिथ्यात्वबुद्धयः। स्वशरीररक्षणार्थं शस्त्राणि धारयन्ति। चौरतः स्वधनरक्षणार्थं गर्भगृहादिषु धनं निक्षिपन्ति। स्वरक्षार्थं मिथ्यापि वदन्ति। इत्यनेन प्रकारेण स्वात्मानं रक्षयितुं मिथ्यामार्गमवलम्बन्ते ते। यथार्थतस्तु धनादिकं पुद्गलद्रव्यमस्ति न तु जीवद्रव्येण तस्य कश्चित् संबंधः। तथापि मोहजन्मभ्रमबुद्ध्या धनादिभिरेव स्वरक्षामामनन्ति। आत्मनस्तु धनं ज्ञानादिगुणा एव, तत्रैव तस्याधिकारोऽस्ति। एवंप्रकारेणात्मनस्तत्त्वं जानन्नेव स विज्ञानधनः स्वात्मानं क्रोधकामादिविकारतः रक्षति। स तु स्वस्य आत्मनः स्वात्मनि एव स्वात्मप्रयत्नेन रक्षां करोतीति तात्पर्यम्। नान्यो जीवः नान्यत्पुद्गलादिकं द्रव्यं वा तस्य रक्षां कर्तुं समर्थमस्ति। व्यवहारनयेनापि स्वकृतपुण्यकर्मणा विपच्चितो रक्षा भवति। पापं कुर्वता भवत्यन्ते विनाश एव। अतिदुःखान्युत्पादयन्ति पापानि। इत्येवंप्रकारेण निजात्मरक्षां कुर्वतस्तस्य विज्ञानदिनकरस्य विवेकेन परिपूर्णः परिणामो भवत्यतः तस्य मनसि कदाचिदपि-न स्यादरक्षाभयं क्वचित्। ६१।६२।

सात प्रकारके भयोंमें "अरक्षा भय" भी एक है। मिथ्यात्वके द्वारा जिनकी बुद्धि मोहित है वे सदा ऐसी चिन्ताओंमें निमग्न रहते हैं कि संसारमें कोई मेरा रक्षक नहीं है। मेरी रक्षा कैसे हो ? इस अरक्षाकी चिन्ताको दूर करनेके लिए वे अनेक पाप करते हैं। शरीररक्षाके लिए शस्त्र रखते हैं। चोर आदिसे रक्षा करनेके लिए अपना धनादिक द्रव्य जमीनके भीतर गर्भगृह आदि बनाकर वहाँ छिपाते हैं। अनेक अपराधोंको करते हुए भी अपराधोंके दुष्फलोंसे बचनेके लिए लोकके सामने मिथ्यावाद करते हैं। उचितानुचित प्रकारसे अनेक प्रकारके परिग्रहका सञ्चय करते हैं। इस प्रकार आत्मरक्षार्थ मिथ्यामार्गका अवलम्बन करते हैं।

निश्चयनयसे विचार कीजिए तो धनादिक परद्रव्यः हैं—पुद्गल द्रव्य हैं। जीवद्रव्यकी रक्षासे उनका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। केवल मोहजन्य बुद्धिके भ्रमवश धनादिसे लोक स्वात्मरक्षा मानता है। आत्माका सच्चा धन ज्ञानादि गुण हैं। उनमें ही जीवका स्वाधिकार है। विज्ञानका धनी आत्मा आत्मतत्त्वके बाधक क्रोध व कामादि विकारोंसे स्वात्माकी रक्षा करता है। वह अपनी आत्माकी यथार्थ

रक्षा अपने ही सत्प्रयत्नसे अपने ही भीतर करता है। वह जानता है कि मेरे सिवाय अन्य कोई जीव या अन्य कोई पुद्‌गलादि द्रव्य मेरी रक्षा करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

व्यवहारनयसे भी विचार किया जाय तो जीवके सत्प्रयत्नों द्वारा अर्जित पुण्यकर्म ही विपत्तिसे रक्षा कर सकता है। पापसे तो केवल हानि ही है। पापी पुरुष तत्काल प्रसन्न भले ही हों पर अन्तमें वे अपनेको महान् दुःखोंमें फँसा हुआ पाते हैं।

उक्त प्रकारसे ज्ञानरूपी सूर्यके द्वारा जिनका विवेक पूर्णरीत्या जागृत हो गया है वे सम्यग्दृष्टि ही स्वात्मरक्षा करनेमें समर्थ हैं। ऐसे महापुरुषोंके कदाचित् और कचित् अरक्षाका भय उत्पन्न नहीं होता। वे साहसी सदा प्रसन्नचित्त और निर्भय हो स्वात्मकल्याणके मार्गपर बढ़ते जाते हैं।६१।६२।

प्रश्नः—**अगुप्तिभयचिन्हं किं विद्यते मे गुरो वद।**

हे गुरो! अगुप्तिभयस्य किं चिह्नं विद्यते इति मे कथय।

हे गुरुदेव अगुप्ति भयके स्वरूपका भी प्रतिपादन कीजिए जिसे त्यागकर सम्यग्दृष्टि मुक्तिके पात्र होते हैं:—

(अनुष्टुप्)

यावन्मे वर्तते पुण्यं चौराद्याः केऽपि मद्धनम्।
न हरन्ति गजाश्वादि पतितम् यत्र कुत्रचित्॥ ६३॥
स्वात्मास्ति तत्त्वतो गुप्तः शुद्धचिद्रूपनायकः।
यस्येति बोधदा बुद्धिस्तस्यागुप्तिभयं कुतः॥ ६४॥ युग्मम्॥

यावदित्यादिः—सुगमम्। भावस्त्वयम्—व्यवहारनयतस्तु एवं विचार्यं यत् यावन्मे पुण्योदयः स्यात् न तावत् काचिन्मे हानिः स्यात्। यत्र कुत्रापि स्थपितं निहितं पतितं विस्मृतं वा मद्धनं गजादिकं अश्वादिकं सुवर्णादिकं वा न केचित् चौराः राजादयो वा हर्तुं समर्थाः भवन्ति। निश्चयनयतस्तु शुद्धचैतन्यज्ञानघनो जीवः सदा गुप्त एव न तस्य हानादिकं कर्तुं परद्रव्यादिकं समर्थमस्ति। इत्येवंप्रकारेण यस्य बोधदायिनी बुद्धिरस्ति तस्य कुतोऽपि अगुप्तिभयं न स्यात्।६३।६४।

व्यवहार नयसे यह विचार करना चाहिए कि जब तक किसी भी जीवको पुण्यकर्मका तीव्रोदय है तब तक उसकी हानि करनेमें कोई समर्थ नहीं हो सकता। मेरा धनादिक हस्ती घोड़ा आदि द्रव्य या अन्य व्यवहारोपयोगी भोगोपभोगकी सामग्री चाहे वह कहीं भी रखी हो, भूली हुई हो, पराधीन हों पर उसे न चोर ले जा सकते हैं न राजादिक ही छीन सकते हैं। प्रत्युत वे सब मेरे सहायक ही होंगे, विरोधक नहीं। हां पुण्यक्षीण होने पर मैं कितना भी उपाय करूं कितना भी अधिक भोगोपभोगको गुप्त रखूं किन्तु मैं उन्हें बचाने में असफल रहूँगा। निश्चयनयकी दृष्टिसे विचारिए तो आत्मा शुद्धज्ञान धनवाला है, अनन्तगुणोंका भंडार है। वे गुण आत्मद्रव्यसे कभी पृथक् नहीं हो सकते। कर्मका आवरण भले ही हो पर वे कर्म मेरे आत्मगुणोंका नाश करनेमें समर्थ नहीं हैं। जैसे मदिरा पुरुषको मोहित कर उसे अपने गृह धनादि से दूर कर सकती है पर उन्हें नष्ट नहीं कर सकती वैसे ही मोह मदिरा जीवको भ्रममें डाले हैं जिससे जीव आत्मधनको भूलकर परद्रव्य पुद्‌गलादिकमें ही स्वस्वरूप देखता है, पर वह आत्माके परम-

धन गुणोंका विनाश नहीं कर सकता। आत्मा स्वयं रक्षित है उसे रक्षककी आवश्यकता नहीं है ऐसी बोधदायिनी जिसकी बुद्धि है उस सम्यक्त्वीके कभी भी अगुप्ति भय नहीं हो सकता।६३।६४।

प्रश्न :—**अकस्माद् भयचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।**

हे गुरो! अकस्माद् भयं किं? तत्स्वरूपमपि मे कथय।

हे गुरुदेव! अकस्माद् भयका स्वरूप क्या है वह भी कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

मत्पुण्यविशेषश्चेन्न पतेत्किञ्चिन्ममोपरि।
वा स्वचतुष्टये कोऽपि न प्रविशन्ति वस्तुतः॥ ६५॥

परचतुष्टये नापि प्रविशामि परात्मके।
यस्येति बोधको भावस्तस्याकस्माद्भयं कुतः॥ युग्मम्॥ ६६॥

मत्पुण्यमित्यादि :—किमायाति काचिद्विपत्तिर्ममोपरि? आकाशात् वज्रपातो भविष्यति चेत् किं कुर्मो वयम्? अकस्मात् रोगादिके समायाते किं स्यात्? निरपराधोऽप्यहं केनचिद्राजकीयेनापराधेन न लिप्ये? इत्येवं प्रकारेण अकस्मादापत्तेराशङ्कया भीतित्वम् "अकस्माद् भयम्" कथ्यते। समुपद्यते च मोहिनां तत्।

सम्यग्दृष्टिस्तु विचारयति यदि मत्पुण्यविशेषश्चेत् मम पुण्योदयो वर्तते तर्हि न ममोपरि अकस्मात् किञ्चित् वज्रादिकं रोगादिकम् विपत्त्यादिकं वा पतेत्। यदि पुण्योदयो न स्यात् तर्हि किं भीत्या तदा स्यात्? कर्मफलं स्वार्जितन्तु भोक्तव्यमेव। वा अथवा स्वचतुष्टये स्वात्मद्रव्ये स्वात्मप्रदेशरूपे स्वक्षेत्रे स्वात्मपर्यायरूपे स्वकाले स्वचैतन्यस्वरूपके स्वभावे वस्तुतः न कोऽपि परपदार्थाः प्रविशन्ति, अतःस्वभावत्वात्तेषाम्। अहमपि परात्मके परचतुष्टये मूर्तामूर्तस्वरूपेषु पुद्गलजीवधर्माधर्मकालाकाशादिरूपेषु द्रव्येषु तेषां स्वप्रदेशस्वरूपेषु क्षेत्रेषु तत्परिवर्तन-परिणामरूपेषु कालेषु स्वभिन्नभिन्नलक्षणाक्रान्तत्वात् भिन्नरूपेषु स्वभावेषु एतत्परचतुष्टयरूपेषु चेतनाचेत-नात्मकेषु न कदापि प्रविशामि। यस्य विवेकिनः इति एवंविधो बोधकः भावः विद्यते तस्य अकस्माद्भयं कुतः स्यात्। ६५। ६६।

यदि मेरे पुण्यका प्रबल उदय है तो कोई विपदा मेरे ऊपर नहीं आ सकती। न तो अन्य मेरे द्रव्यादि चतुष्टयमें प्रवेश कर सकते हैं और न मैं अन्य किसीके द्रव्यादि चतुष्टय में प्रवेश कर सकता हूँ। ऐसे विचारपूर्ण जिसके परिणाम होते हैं, उसे अकस्माद् भय कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ—मिथ्यात्वसे जिनकी बुद्धि मोहित है उनके विचार सदा मिथ्या विचारों में घूमते रहते हैं। वे बिना कारण भी सोचा करते हैं कि मेरे ऊपर कोई विपत्ति अचानक न आजाय? आकाशसे बिजली अमुक जगह गिरी है ऐसा सुना है, कहीं मेरे ऊपर बिजली गिर पड़े तो क्या होगा? अमुक पुरुष रोगके कारण बहुत कष्टमें है। कहीं मेरे एसा रोग हो गया तो क्या होगा? मै क्या करूंगा? अनेक राजबन्दी-गृहमें बहुत बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, मारे जाते हैं, पीटे जाते हैं। मै तो निरपराध हूँ। पर यदि मुझ पर ही कोई मिथ्या राजकीय अपराध लगा दे तो मेरी क्या दशा होगी। इत्यादि प्रकारसे अकस्मात् भयके कारणों की शङ्काकर मिथ्यादृष्टी जन दुःखित होते हैं।

किन्तु वस्तुतत्त्वके वेत्ता पुरुष ऐसी शंका या भय नहीं करते। सद्बुद्धिवाले व्यक्तिको यह

विचार करना चाहिए कि मेरे यदि पुण्योदय विशेष है तो इनमें से कोई भी विपत्तियाँ मुझपर कदापि नहीं आ सकतीं। यदि कदाचित् मेरा पुण्य क्षीण होगा और पापोदय प्रबल होगा तो मैं केवल भय करके भी तो नहीं बच सकता। स्वार्जित कर्म पुण्य हो या पाप उसका फल भोगना अनिवार्य है, तब उससे भय कैसा ? यदि मैं कर्मोदयका फल नहीं भोगना चाहता तो मुझे भविष्यके लिए सावधान हो जाना चाहिए। मुझे उचित यह है कि मैं ऐसे कर्म अब न करूँ जिनसे भविष्य में दुःख या अशान्तिका भाजन बनना पड़े।

मैं अपने आत्माका स्वामी हूँ। मेरे ज्ञान दर्शन सुख क्षमा सन्तोष आदि पवित्र गुण हैं। संसारमें कर्मोदयके कारण मेरे नरनारकादि पर्यायें होती हैं। तथापि शुद्ध विज्ञानमय स्वानन्दमय परणति ही मेरी परणति है। मेरा आत्मा असंख्यप्रदेशी है, अमूर्तिक है, पुद्गलादि परपदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावका धनी है। पुद्गलादि अचेतन द्रव्य और अन्य जीवादि सचेतन द्रव्योंसे, उनके प्रदेशोंसे, उनकी परणतियों से और उनके स्वतन्त्र गुणोंसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। वे सब पर चतुष्टय न मेरे हैं और न मैं उनका हूँ। न वे मुझमें प्रवेश कर सकते हैं, और न मैं उनमें प्रवेश कर सकता हूँ। न वे मेरा बिगाड़ कर सकते हैं और न मैं उनका बिगाड़ कर सकता हूँ। ऐसा वस्तुस्वरूप होते हुए भी मैं पर द्रव्योंके अनायास निमित्त मिलने पर या मिलनेकी व्यर्थ की आशंका पर भयभीत होकर अकस्मात् भयका पात्र बनकर अपने बुद्धि चैतन्यस्वरूपसे विहीन होकर दुःखी बन जाऊँ तो यह मेरा बहुत बड़ा अज्ञान होगा।

ऐसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचार करने पर सम्यग्दृष्टीके किसी भी प्रकारके भयका सञ्चार नहीं होता। वह स्वात्मस्वरूपमें दृढ़ होकर अपनेको सब प्रकारसे सुरक्षित मानता है। वह जानता है कि जब मेरा आत्मा अखण्ड, अच्छेद्य और अभेद्य है तब किसी पदार्थसे भय कैसा ? वह ज्ञानवान् होकर सदा निर्भय विचरण करता है। ६५। ६६।

उपसंहारः

(अनुष्टुप्)

इति सप्तभयादीनां स्वरूपं कथितं मया ।
सर्वेषां धीमता शान्त्यै कुन्थुसागरसूरिणा ॥ ६७ ॥

इतीत्यादिः—इत्येवं उक्तप्रकारेण धीमता बुद्धिमता श्रीकुन्थुसागरसूरिणा आचार्यवर्येण कुन्थुसागरेण सप्तभयादीनां स्वरूपं तत्परिहारोपायश्च निरूपितः। यतस्स्यात् सर्वेषामपि जीवानां शान्तिलाभः। सम्यक्त्व-प्राप्तिश्च स्यात्। ६७।

ऊपर लिखे प्रकारसे बुद्धिवैभवशाली श्री १०८ आचार्यवर्य कुन्थुसागर महाराजने जीवोंके शान्ति लाभके लिए तथा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए अथवा सम्यक्त्वके निर्मल बनानेके लिए सप्त भय आदिका स्वरूप तथा उनसे दूर रहनेके सदुपायोंका वर्णन किया। ६७।

इति भयसप्तकनिरूपणम्।

संवेगादि-अष्टगुणनिरूपणम्

(अनुष्टुप्)

प्रश्नः—**संवेगाद्यष्टधर्माश्च श्राद्धानां सन्ति कीदृशाः।**
वद तेषां स्वरूपं मे तेषु वृत्तिर्भवेद्यथा॥

हे गुरो ! संवेगादीनां अष्टानां धर्माणां स्वरूपं कथय यतस्तेषु मम वृत्तिर्भवेत्।

हे गुरुदेव ! सम्यक्त्वीके संवेग और निर्वेद आदिक अष्ट गुण होते हैं उनका क्या स्वरूप है कृपाकर कहिए ताकि उनके पालनेमें मेरी प्रवृत्ति हो—

संवेगका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

स्वधर्मे सुखदे प्रीतिरधर्मे दुःखदेऽरुचिः।
भावो यस्येति स्यात्तस्य संवेगः सुखदो गुणः॥ ६८॥

स्वधर्म इत्यादिः—सुखदे स्वधर्मे स्वानन्दसुखस्वरूपे आत्मधर्मे क्षमादौ यदा प्रीतिरुत्पद्यते। तथा दुःखदे दुःखदायिनि अधर्मे तद्विपरीते अनात्मधर्मेऽरुचिः संजायते। यस्य जीवस्य इति भावः स्यात्तस्य सुखदः संवेगो नाम प्रथमो गुणः स्यात्॥ ६८।

चतुर्गति परिभ्रमण ही संसार है। संसार रूप इस परिभ्रमणमें यह जीव अनेक भांतिके दुःख उठाता है। यह संसारवृक्ष कर्ममूलक है। कर्मोदयसे ही जीव चतुर्गतिमें परिभ्रमण करता है। इस दुःख मूलक संसारसे उद्वेग उत्पन्न होना अर्थात् अरुचि उत्पन्न होना यही संवेगनामा गुण है। जिस बुद्धिमान्को संसारोत्पादक अधर्ममें अरुचि होती है उसके दया, क्षमा, निरहंकार, सरलता अपरिग्रहत्व और ब्रह्मचर्य आदि पवित्र गुणोंमें स्वयं प्रीति उत्पन्न होती है। ये दोनों ही प्रकार संवेग गुणके रूपान्तर हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टी सप्तभय रहित होता है तथापि वह संसारके दुःखोंसे भयभीत होता है। इन दोनों भयोंमें महान् अन्तर है। सप्त भय पर पदार्थके निमित्त जन्य भ्रमवश मोहोदयसे होते है पर यह संवेग जनित भय स्वपदार्थके यथार्थ बोध होनेसे तथा परपरणतिस्वरूप अपनी अज्ञानता पर खेद होनसे परके मोहके अभावमें होता है इस प्रकार दोनोंमें महान् अन्तर है। सप्त भय त्याज्य है। उनका अस्तित्व मिथ्यात्वके अस्तित्वका सूचक है किन्तु संसारपरिभ्रमणसे भीरुता मोक्षसुख प्राप्तिके प्रति उत्साह और साहस प्रदान करता है अतः वह भीरुता भी वीरता है। यही संवेग नामा प्रथम गुण है। ६८।

निर्वेग गुणका स्वरूप

(इन्द्रवज्रा)

संसारदेहे विषये विरक्तो यः शुद्धचिद्रूपसुखेऽनुरक्तः।
स्वानन्दमूर्तेः सुमतेः कृपाब्धेः स्यात्तस्य निर्वेगगुणः पवित्रः॥ ६९॥

संसारेत्यादि :—भावस्त्वयम्—संसाराद् भीतितानिमित्तेन संवेगेन स जीवः संसारात् देहात् विषय-सुखाच्च यदा विरक्तो भवति तथा निर्विकारस्वरूपे चैतन्यसुखे चानुरक्तो भवति तदा परमानन्दस्वरूपस्य तस्य दयामूर्तेर्निर्वेगनाम्नः पवित्रगुणस्य प्राप्तिर्भवति। स एव निर्वेगगुण इत्यर्थः। ६९।

प्रथम संवेगका स्वरूप बताया था कि संसारसे भीरुताका नाम संवेग है। इस भीरुताका फल जीवकी संसार, देह और विषयभोगोंसे विरक्ति है। जो पुरुष संसारकी असारता, अनित्यता, और अशरणताको देखकर उससे विरक्त होता है, घृणास्पद देहके यथार्थ स्वरूपका चिन्तवन कर और कामिनियोंकी सुन्दरताको मलसे भरे हुए सुवर्णके घड़ेकी तरह समझकर काम भोगादिकोंसे अरुचि करने लगता है तथा पांचों ही इन्द्रियोंके विषयोंके सुखोंको अन्तमें नीरस देखकर उनकी अभिलाषासे चित्तवृत्तिको हटाता है वही सम्यक् विचारवान् अपने परमानन्दस्वरूप, निरंजन, निर्विकार, कर्म कालिमा-रहित और चैतन्यस्वरूप आत्माके प्रति अनुरागी हो जाता है। उस दयासागर आनन्दमूर्ति बुद्धिमान्की यह प्रवृत्ति ही निर्वेग नामा गुण है जो सम्यक्त्वका साधक है। ६९।

उपशम गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

क्रोधादेर्दुःखदस्यास्ति मन्दता यस्य सौम्यता।
स्यादुपशमगुणस्तस्य मिथः श्रीदः सुखप्रदः॥ ७०॥

क्रोधेत्यादि :—उपशमः शान्तिरित्यर्थः। यदा यस्य दुःखदस्य अनन्तदुःखास्वादकस्य क्रोधादेः मन्दता भवति तथा सौम्यता सौम्यत्वमायाति परिणामे तदा तस्य सुखप्रदः श्रीदः कल्याणकारी च परिणाम एवोपशमगुणः स्यात्। ७०।

क्रोधादि परिणाम आत्माको सदा दुःखदाता है। क्रोधी स्वहिंसक है और परहिंसक है। क्रोधसे हिंसा तो होती ही है पर अन्य भी लोभ, भीरुत्व और अहंकार आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। ये सब दुर्गुण अनात्म स्वरूप होनेसे अनन्त दुःखके प्रदाता हैं। जब जीव अपने सत्प्रयत्नों द्वारा इन क्रोधादि परिणामोंकी मन्दता करता है तब उसके आत्मामें जो सन्तोष व शान्ति होती है उसे ही उपशम गुण कहते हैं। इस गुण से मनुष्यकी प्रकृतिमें सौम्यता आ जाती है। दृष्टि बदल जाती है। यह उपशम गुण आत्माको अनेक दुःखोंसे बचाता है और कल्याणके मार्गको प्रकट करता है। इस गुणकी प्राप्तिके बिना जीवको सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं हो सकता। मिथ्यात्वका उपशम हो जानेपर भी यदि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया या लोभ इनमेंसे किसीका उदय हो तो सम्यक्त्वका नाश हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि "उपशम" सम्यक्त्वीका प्रधान गुण है। ७०।

स्वनिन्दा नामक गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

विद्यमाने गुणे श्रेष्ठे स्वात्मनि सुखदे सदा।
स्वनिन्दां कुरुते तस्य स्यात् स्वनिन्दागुणः प्रियः॥ ७१॥

विद्यमाने इत्यादि :—संसारावस्थायां सर्वेऽपि मनुजा गुणदोषभाजस्सन्ति। कश्चित् सर्वथा गुण-रहितोऽपि न तथा सर्वथा दोषरहितोऽपि न। सम्यग्दृष्टेरपि स्वात्मनि दोषाः सन्ति गुणा अपि। स्वात्मनि सुखदे श्रेष्ठे गुणे विद्यमानेऽपि यो न तत्र दृष्टिं ददाति, किन्तु स्वल्पमपि विद्यमानं दोषं दूरीकर्तुं यतते अतस्स दोषनिमित्तेन स्वनिन्दामेव कुरुते। तस्य सद्दृष्टेः स स्वनिन्दानामा गुणः स्यात्। ७१।

संसारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसमें गुण या दोष न हों। किसीमें गुण अधिक हैं तो दोष भी कोई न कोई पाया जाता है और किसीमें यदि दोष बाहुल्य है तो एक-दो गुण भी उसमें पाए जाते

हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मामें उक्त नियमानुसार दोष भी हैं तथा सम्यक्त्वादि अनेक गुण भी हैं। ऐसा होनेपर भी सम्यग्दृष्टि अपनेमें विद्यमान अनेक श्रेष्ठ गुणोंकी ओर लक्ष्य नहीं करता, किन्तु यदि उसमें स्वल्प भी दोष है तो उसे दूर करनेके लिए स्वनिन्दा करता हुआ उस दोषको दूर करनेका प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टिका यह स्वनिन्दाकरण भी एक गुण है जो सम्यक्त्वमें उज्ज्वलता लाता है

विशेषार्थ–उन्नतिका एक मात्र साधन यही है कि कोई भी व्यक्ति सदा स्वदोषोंका निरीक्षण करे तथा उसे दूर करनेका प्रयत्न करे। जब तक उक्त दोष दूर न हो,या दूर करनेमें अपनी दुर्बलता हो तो उसे आत्मग्लानि होना स्वाभाविक है। आत्मग्लानि होनेसे आत्मनिन्दा स्वतः होती है। और इस निन्दाको न सह सकनेके कारण वह उक्त दोषसे अपनेको मुक्त कर लेता है अर्थात् दोष रहित बन जाता है।

जो मनुष्य अपने दोषका निरीक्षण नहीं करते किन्तु अपनेमें होनेवाले थोड़ेसे भी गुणको देखकर फूले नहीं समाते और उसके निमित्तसे स्वात्मप्रशंसा करते हैं उनकी उन्नति रुक जाती है। स्वात्मप्रशंसाको ही अपनी कीर्तिका प्रसार समझकर हर्षोन्मत्त होने लगते हैं और वे थोड़े गुणोंको अधिक बनाकर अथवा गुण न होनेपर भी अपनेको गुणवान् बनाकर मिथ्या भाषण कर कीर्तिको प्राप्त करना चाहते हैं। वे इस लोभका संवरण नहीं कर सकते। 'लोभसे पाप उत्पन्न होता है' इस उक्तिके अनुसार कीर्तिलोलुपी मिथ्याभाषण, विश्वासघात, मायाचारी और कपट व्यवहार आदि पापोंको स्वीकार कर अपनेमें रहनेवाले पूर्वके थोड़ेसे भी गुणोंको नष्ट कर डालते हैं और इस प्रकार उनकी उन्नतिका अध्याय समाप्त होकर अधःपातका अध्याय प्रारंभ हो जाता है।

स्वात्मप्रशंसा करनेवाले परनिन्दा भी अवश्य करते हैं। बिना ऐसा किए उनका स्वात्मकीर्तनका स्वांग नहीं जमता है। अतः दिन दिन वे दुर्गुणोंके पात्र होकर नीच गोत्रका बंधकर संसार परिभ्रमणके पात्र बनते हैं। सम्यग्दृष्टि ठीक इसके विपरीत स्वदोषनिन्दा, परगुणप्रशंसा, स्वदोपवारण, परगुणग्रहण, स्वगुण कथनमें उपेक्षा और परदोष कथनमें भी उपेक्षा भाव इन गुणोंके कारण सर्वदोषसे दूर होकर अनेक गुणोंके पात्र होते हैं। यह सब उनके "स्वात्मनिन्दा" नामक गुणका श्रेष्ठतम कार्य है। इसलिए आत्महितैषीको यह गुण सदा अपनाना चाहिए। ७१।

गर्हा-गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

धनादिकारणाद् गर्वः स्याच्चित्ते यदि दुखदः।
तन्निन्दाकरणं नूनं श्रीदो गर्हागुणः प्रियः ॥ ७२ ॥

धनादीत्यादिः— कदाचित् कर्मोदयात् धनादिकारणाद् धनप्राप्तिनिमित्तेन गुणप्राप्तिनिमित्तेन लोकप्रतिष्ठाप्राप्तिनिमित्तेन राज्याधिकारनिमित्तेन वा चित्ते यदि दुःखदः गर्वः गर्वोत्पत्तिः स्यात् तदा सद्दृष्टेस्तत्कालमेव नूनं निश्चयेन तन्निन्दाकरणं श्रीदः कल्याणप्रदः प्रियश्च गर्हानामा गुणः स्यात् ।७२।

सम्यग्दृष्टि पुरुषको भी कदाचित् कर्मोदयवशात् धनकी प्राप्ति होनेसे, अनेक गुणोंकी प्राप्ति हो जानेसे, कीर्ति फैल जानेसे, राज्य संबंधी अधिकार बलसे और अनेक विद्याओंमें अपनेको पारङ्गत देख करके गर्व आ सकता है। सुन्दरशरीर, यौवनावस्था, अनेक प्रकारकी भोगोपभोग सामग्रीकी प्राप्ति, सुपुत्रका होना, आज्ञाकारी पुत्रका होना, रूपवती सुलक्षणा पतिव्रता भार्याका पाना और अनेक सामाजिक या

राजकीय सम्मानकी प्राप्तिका होना इत्यादि अनेक कारण हैं जिनका गर्व मनुष्यको उत्पन्न होता है। उक्त प्रकारसे गर्वोन्नत मनुष्योंके मध्यमें रहनेवाले सम्यग्दृष्टिको भी कदाचिद् ये सब दुर्गुण उत्पन्न हो सकते हैं तथापि वह सदा आत्महितमें सतर्क रहता है अतः कभी गर्व उत्पन्न भी हो जाय तो तत्काल अपने गर्वकी निन्दा करता है। यह परनिमित्तजन्य हो जानेवाले गर्वको दूर करनेकी प्रक्रिया ही सम्यग्दृष्टिका "गर्हा" नामक विशिष्ट गुण है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि सदा अपनी दृष्टिको आत्मगुणोंकी प्राप्तिकी ओर रखता है। सांसारिक वस्तुओंका भोग करते हुए भी वह उनको आत्माके भोग योग्य नहीं मानता। यह संसार जिसमें केवल पुद्गल नृत्य करता है उसका संसार नहीं है। उसका संसार तो चैतन्यमय लोक है। वह उसमें ही रमण करना चाहता है। यद्यपि इस जड़ात्मक संसारसे वह उद्विग्न है तथापि कर्मोदयवशात् उसे परित्याग करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। उसकी अवस्था उस मनुष्यके समान है जो अचेतावस्थामें बाँधकर जंगलमें डाल दिया गया है और चेतावस्थामें आकर भी अपनी पराधीनताको देखकर, जानकर और उसके छूटनेकी अभिलाषा रखकर भी अपनेको छुड़ा नहीं पाता अतएव वहीं छटपटाता रहता है। धन, संपत्ति, वैभव और कुटुंब आदि परवस्तुओंमें रमना नहीं चाहता पर कर्मोदयके अधीन होनेसे इनका भोग करनेके लिए लाचार होता है। ऐसी स्थितिमें कदाचित् उसे उपर्युक्त लौकिक लाभोंके निमित्तसे और पुण्योदयकी प्रबलतामें प्राप्त भोगोपभोगोंके निमित्तसे अभिमान उत्पन्न हो जाय तो वह तत्काल आत्मग्लानिसे दुःखी हो स्वात्मनिन्दा करता है।

उसकी यह "गर्हा" उसे प्रिय है। वह उसे ही अपने आत्माके लिए कल्याणदायिनी मानता है। इस गुणके निमित्तसे उसे तत्काल आत्मस्वरूपका और पररूपका बोध होता है और वह आत्माहितमें सावधान होकर अपनी भूलको दूर कर लेता है।७२।

अनुकम्पा गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

स्वान्योपरिदयादृष्टिकरणमेव तत्त्वतः।
ह्यनुकम्पागुणो ज्ञेयः सर्वसौख्यप्रदर्शकः॥ ७३॥

स्वान्येत्यादिः—**भावस्वयम्**—दुःखितान् प्राणिनो विलोक्य तद्दुःखापाकरणार्थं यत् चिन्तनं तत् अनुकम्पाशब्देन कथ्यते। सद्दृष्टिः गहनदुःखपरिपूरिते संसारे परिभ्रमतां जीवानामुपरि सानुकम्पया बुद्ध्या दुःखदूरीकरणार्थं तदुद्धारार्थं च यतते। स्वमपि दुःखमूलाद्रागादिपरिणामाच्च दूरीकरोति। एतदेव सद्दृष्टेः अनुकम्पागुणः।७३।

दुखित प्राणीको देखकर उसके दुखको दूर करनेकी इच्छा या चिन्ताको अथवा प्रयत्नको अनुकम्पा या दया कहते हैं। सद्दृष्टि पुरुष सतत दयालु होता है। केवल व्यावहारिक दुखोंसे परिपीड़ित पुरुषोंपर ही वह दया नहीं करता बल्कि व्यवहारदृष्ट्या जो विषयान्ध पुरुष अपनेको सुखी मानते हैं उनकी उस अनर्थ परम्पराको उत्पन्न करनेवाली विषयान्धताको भी दूर कर उन्हें आत्मिक सच्चे सुखकी प्राप्ति होवे ऐसा प्रयत्न करता है। स्वयं अपनेको भी दुःखका मूल राग, द्वेष, काम और क्रोधादि विकृत परिणामोंसे बचाता है। उसका यह सत्प्रयत्न ही अपने व अन्य पर की गई दया दृष्टि है जो सर्वप्रकार सुखप्रदायिनी है। इसे ही अनुकम्पानामा सम्यक्त्वका गुण कहते हैं।७३।

आस्तिक्यगुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

देवे शास्त्रे गुरौ यस्य बन्धे मोक्षे शुभेऽशुभे।
श्रद्धास्ति शर्मदा तस्याऽस्तिक्यनामा भवेद् गुणः ॥ ७४ ॥

देवे इत्यादिः-देवे सर्वसत्त्वहितङ्करे रागद्वेषकामक्रोधादिरहिते विज्ञानघनस्वरूपे अर्हत्परमेष्ठिनि शास्त्रे तदुपदिष्टे परस्परविरोधरहिते दयामयसद्धर्मप्रकाशके शास्त्रे गुरौ तत्प्रतिपादितसन्मार्गावलम्बिनि सुखदुःखसमे गुरौ तथा शुभेऽशुभे बन्धे मोक्षे अर्हत्प्रतिपादिते सद्धर्मे च यस्य शर्मदा श्रद्धाऽस्ति तस्य आस्तिक्यनामा गुणोऽस्ति।

"आस्तिको लभते मोक्षं नास्तिको नरकं ध्रुवम्" इत्यादि लौकिकोक्त्या आस्तिकानामेव कल्याणं स्यान्न नास्तिकानामिति श्रद्धा धार्मिकाणामस्ति। किन्तु कोऽसौ आस्तिकः कश्च नास्तिकः इत्यस्मिन् विषयेऽस्ति महान् विवाद इति वेदानुयायिनस्तु वदन्ति यत् "नास्तिको वेदनिन्दकः" वेदाः प्रमाणमिति यस्य श्रद्धा स आस्तिकः तदन्यो नास्तिकः।

शब्दशास्त्रेण तु "अस्ति" इति मतिर्यस्यासौ आस्तिक इति सिद्ध्यति। किमस्ति इति प्रश्ने सति सत्यमुत्तरमेतत् यत् सर्वप्रथमं तावत् स्वात्मनोऽस्तित्वमेव ग्राह्यम् स्वास्तित्वाभावे अन्यस्य कस्याप्यस्तित्वं को विजानीयात्। ज्ञाता द्रष्टा अनुभविता खलु अहमेवास्मि तथाहमेव शुद्धो निर्विकल्पो निरञ्जनः इत्येवंप्रकारेण आत्मनस्स्वरूपास्तित्वे मतिरस्ति यस्य स एव "आस्तिक" इति आत्मनोऽस्तित्वे सिद्धे स खलु नित्योऽनित्यो वा शरीराद् व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा बद्धोऽबद्धो वा इत्यादयः प्रश्नाः तस्य मनसि सञ्जायन्ते। तदा तस्य अधिगतात्मतत्त्वेन केवलज्ञानविभूषितेन च परमर्षिणा यदात्मनः बंधावस्थामुक्तावस्थयोः तत्कारणानां च आश्रवसंवरनिर्जरादीनां स्वरूपं प्रतिपादितं तेषामस्तित्वे श्रद्धा भवति। इत्येवंप्रकारेण सुनिश्चितमेतत् यत् आत्मनो वा तत्पर्यायाणां परलोकादीनां वा तत्कारणभूते शुभेऽशुभे वा कर्मणि तद्वियोगरूपे मोक्षस्यास्तित्वे यस्य "अस्ति" इति मतिरस्ति स एव आस्तिकः। सम्यग्दृष्टिस्तु परमास्तिकोऽस्ति। तस्यैव परमश्रावकस्य परमगुणः आस्तिक्यमिति कथ्यते। ७४।

आस्तिकपनेके भावको आस्तिक्य गुण कहते हैं। प्राणिमात्रके हितकारक, राग द्वेष काम क्रोधादि विकारोंसे रहित व ज्ञानघनस्वरूप अर्हन्तपरमेष्ठीमें, उनके द्वारा उपदिष्ट पारस्परिक विरोधभाव रहित दयामय सद्धर्म प्रकाशक शास्त्रमें, शास्त्र प्रतिपादित सन्मार्गका अवलम्बन करनेवाले तथा सुख-दुखमें, मित्र-शत्रुमें, संयोग और वियोगमें और भवन-श्मशानमें, हर्ष-विषादसे रहित समताभावके समुपासक गुरुमें और सर्वज्ञ प्रतिपादित सद्धर्ममें तथा शुभाशुभरूप बन्ध मोक्षमें जिसकी सुखदायिनी परम श्रद्धा है वही आस्तिक है। उसका यह सर्वोत्कृष्ट गुण ही "आस्तिक्य" नामा गुण है।

"आस्तिक नियमसे मोक्षका तथा नास्तिक नरकका अधिकारी है" ऐसी लोकोक्तिको सुनकर अनेक धर्मात्माओंका यह विश्वास है कि आस्तिकोंका कल्याण होगा नास्तिकोंका नहीं। पर कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक है यह तो सबसे बड़ा विवादास्पद प्रश्न है। वेदानुयायी लोग "वेदनिन्दक नास्तिक है" ऐसा कहते हैं। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जिस व्यक्तिकी श्रद्धामें वेदोंकी प्रामाणिकता है वही आस्तिक है और अन्य सब नास्तिक हैं।

व्याकरणशास्त्रसे यदि आस्तिक शब्दका विचार किया जाय तो यह अर्थ होता है कि "अस्ति" ऐसी जिसकी मति है वह आस्तिक है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस पदार्थके अस्तित्वको

स्वीकार करनेवाला आस्तिक माना जाय ? इसका न्यायसंगत उत्तर है कि सर्व प्रथम जिसे अपना स्वयंका अस्तित्व स्वीकार हो वह आस्तिक है। अनेक मत ऐसे हैं जो स्वात्माका ही अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। जहां आत्माका ही अस्तित्व स्वीकार नहीं है वहां बन्ध और मोक्ष, पुण्य और पाप लोक और परलोक, सदाचार और असदाचार,हिंसा और अहिंसा तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके अस्तित्वका प्रश्न नहीं उठता। "मूलं नास्ति कुतः शाखा" अर्थात् जिस वृक्षमें जड़का ही अभाव है उसकी शाखा,प्रतिशाखा,पत्र, पुष्प और फलकी आशा करना मूर्खताकी बात है। इसी प्रकार स्वात्मसत्ताके अभावमें उसके संबंधकी सारी चिन्ताएं व्यर्थ हैं।

जितने मत-मतान्तर, सिद्धान्त व सम्प्रदाय संसारमें प्रचलित हैं वे सब शान्तिलाभ, सुखप्राप्ति व मुक्तिप्राप्तिके लिए या वस्तुतत्त्व-जगद्रहस्यके प्रतिपादनके लिए हैं। उनका उद्देश्य उक्त उद्देश्योंमेंसे एक न एक अवश्य है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न सहज ही होता है कि यह शान्ति, सुख व मुक्ति कौन प्राप्त करेगा ? वस्तुका तत्त्व और जगत्का रहस्य कौन समझेगा ? इन सब सैद्धान्तिक रचनाओंका करनेवाला कौन है और किसके लिए ये सब रचनाएं हुई हैं ? तो इन सब प्रश्नोंका एक ही उत्तर आयगा कि आत्माके लिए अर्थात् जीवके लिए।

इस प्रकार आत्माके अस्तित्वके स्वीकार कर लेनेके साथ ही यह प्रश्न तत्काल उपस्थित हो जाता है कि वह कहांसे आता है, कैसे पैदा होता है, कहां जाता है, क्या देह ही स्वात्मा है या देहसे पृथक् कोई स्वात्मा है, आत्मा कैसा है, वह किस लक्षण, चिह्न, गुण या स्वभाववाला है। उसकी लंबाई, चौड़ाई आकार-प्रकार और रूप-रंग क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं। इन सब प्रश्नोंके सम्बन्धमें विचार करने पर यह सहज ही समझमें आ जाता है कि देहसे पृथक् कोई आत्मतत्त्व है जो स्थायी है तथा जिसके लिए कल्याणका उपदेश सभी सिद्धान्तकार देते हैं। यदि वह शरीरमात्र होता तो अग्निमें भस्म हो जाता। फिर पुण्य-पाप आदि कर्त्तव्योंका उपदेश व्यर्थ हो जाता। जो लोग देहमात्र ही आत्मा मानते हैं वे लोक-परलोक, पुण्य-पाप और आत्मा-परमात्मा यह सब कुछ नहीं मानते। उनके मतमें सदाचार और अनाचारकी कोई व्याख्या नहीं बन सकती। मूलभूत आत्माके अभावमें उसके लिए कुछ भी प्रतिपादन करना असम्भव है। ऐसी स्थितिमें सभी पदार्थोंका अस्तित्व समाप्त होता है। यही नास्तिकत्व है। ऐसी मान्यतावाले नास्तिक हैं। न कि वेदनिन्दक नास्तिक हैं। किसीकी निन्दा या प्रशंसासे कोई आस्तिक या नास्तिक नहीं हो सकता बल्कि उस मूलभूत स्वात्माके तथा उसके स्वरूपकी प्राप्तिके सदुपायोंको स्वीकार न करना ही नास्तिकत्वकी ठीक व्याख्या है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने स्वात्माका अस्तित्व तो मानता ही है साथ ही उसका द्रव्यदृष्टिसे नित्य शाश्वत स्वरूप भी उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं है। उसका यह विश्वास है कि आत्मा अमर है, निर्विकार है, शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, ज्ञान-दर्शनचैतन्य स्वरूप है। वह देहमें स्थित है, देह ही आत्मा नहीं है। उसे स्वात्मापराधजनित कर्म लगे हुए हैं, जिनसे उसकी अवस्था शुद्ध रूपमें नहीं है, किन्तु वह कर्मजनित विकारोंको दूरकर शुद्ध हो सकता है। वह केवल अपने अपराधसे स्वयं बद्ध है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे बाँधने या छोड़नेवाला नहीं है। जिन आत्माओंने अपने विकारोंपर विजय पा ली है वे देहधारणकी परम्पराके कष्टसे छूट जाते हैं और वे ही आत्मा "परमात्मा" कहलाते हैं। वह मानता है कि एक शाश्वत सुख-दुखका दाता अपना शासन दण्ड चलानेवाला कोई 'परमात्मा'

नहीं है, जो मुझे पराधीन कर सके। अपने बनाने और बिगाड़नेमें मैं स्वतन्त्र हूँ। मैंने अब तक अपनेको अपनी भूलसे बिगाड़ा है, परमात्माने मुझे नहीं बिगाड़ा। मैं अपनी भूलका प्रायश्चित्त कर निरपराध हो स्वयं परमात्मा बन सकता हूँ। मुझे कोई दूसरा-ईश्वर परमात्मा बनानेवाला नहीं है।

इस प्रकार सद्दृष्टि पुरुषको अपने आत्माके अस्तित्वका पूर्ण बोध है। उसकी बद्धावस्थाका, बद्धावस्थाके कारणोंका और बद्धावस्थामें कारण होनेवाली अपनी स्वरूप हानिका पूर्ण ज्ञान है। आत्मा विचार करता है कि वह किससे बँधा है। उसे बाँधनेवाले कर्म क्या है? वे कैसे आगए? कैसे बँध गए? उन्हें कैसे रोका जा सकता है? पूर्वबद्ध कर्म कैसे मुझसे दूर हो सकते हैं? वह अवस्था कब होगी जब मैं सर्व कर्मोंपर व तन्निमित्तजन्य काम-क्रोधादि विकारों पर विजय पाकर नित्य शाश्वत अपने चिदानन्दमय स्वरूपको प्राप्त होऊँगा।

इन प्रश्नोंके उत्तर स्वरूप क्रमशः उसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वोंका सम्पूर्ण बोध है और उन सबका बोध जिनसे प्राप्त हुआ है उन परमवीतरागी परमात्मपनेको प्राप्त अर्हत्परमेष्ठीमें, उनके प्रदिपादित उपदेश स्वरूप शास्त्रोंमें तथा उस परिशुद्ध मार्गका सत्यार्थ रूपसे अवलम्बनकर स्वात्मशोधक साधुओंमें उसे परिपूर्ण श्रद्धा है। इस प्रकार इस सब जगत्के रहस्यभूत तत्त्वोंके अस्तित्वको स्वीकार करने रूप "आस्तिक्य" गुणको सद्दृष्टि प्राप्त होता है। ७४।

वात्सल्य गुणका स्वरूप

(अनुष्टुप्)

यः स्वात्मवत् सदा प्रीतिं करोति धार्मिकैः समम्।
तस्य वात्सल्यधर्मः स्यात्सर्वप्राणिहितङ्करः ॥ ७५ ॥

यः स्वात्मवदित्यादिः—यः पुरुषः धार्मिकाणामुपरि प्रीतिं विधत्ते। तेषां विपत्तिनिवारणे सदा सन्नद्धो भवति। तेषां धर्मपरिपालने साहाय्यं करोति। तथा सदा स्वात्मवत् तेषामात्मसमुद्धरणे समुन्नतौ च प्रयत्नशीलो भवति, स एव वात्सल्यगुणवानस्ति। ७५।

प्रीतिका प्रकर्ष इस जगत्में माताका पुत्रमें होता है। यद्यपि पिता-पुत्रका, भाई-भाईका और पति-पत्नीका भी स्नेह सम्बन्ध होता है किन्तु इन सबमें प्रीतिका भाव कुछ न कुछ स्वार्थमूलक है। पिता पुत्रके प्रति प्रेम करता है क्योंकि उसे यह भरोसा है कि यह हमारे कुलका नाम जागृत करेगा तथा वृद्धावस्थामें मेरा सहायक होगा। यदि उसे पुत्रसे इन दोनों बातोंकी कोई आशा न रह जाय तो वह उसे अपने घरसे पृथक् कर देता है। भाई भाई अर्थके लिए लड़ते हैं। अर्थके निमित्तसे भाई बहिनमें भी खटपट हो जाती है। पति पत्नीका स्नेह तो केवल पारस्परिक विषय पूर्तिके साधन होनसे ही प्रारम्भ होता है। मध्यकालमें वह जीवन निर्वाहके लिए परस्पर साधन भूत होनेसे टिकता है और अन्तमें सन्तान मोह ही उस स्नेहको टिकाता है। उक्त स्वार्थोंके अभावमें वह कच्ची लकड़ीकी तरह पद पद पर चटकता है। यदि लोकलज्जाके भयकी चिन्ता न हो तो वह बिलकुल ही टूट सकता है। पुत्र भी माताको तब तक अधिक स्नेह करता है जब तक माता दुग्धपान कराती है। भोजनका साधन अन्नादि हो जाने पर स्नेहकी मात्रा घटने लगती है। अवस्था बड़ी होने पर वह अपने स्वार्थके लिए माताका अनादर भी करता है तथा आज्ञाके बहिर्मुख हो जाता है। विवाहित हो जाने पर वह

विषयान्ध पत्नीका दास हो माताको बिलकुल भूल जाता है और माताके भोजनका खर्च भी उसे भार रूप मालूम होने लगता है। वह स्वयं माताका अनादर करने लगता है। इतना ही नहीं, बल्कि पत्नी द्वारा भी माताका निरादर होने पर उस पर उपेक्षा करता है तथा माताको ही दोष देनेको प्रस्तुत रहता है। इन सब बातोंके विचारसे यह ध्रुव सत्य है कि सांसारिक स्नेह बन्धन केवल स्वार्थजन्य बन्धन है। पारस्परिक स्वार्थके लिए शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। अपरिचितोंमें भी घनिष्ट परिचय हो जाता है। इतना होते हुए भी माताका अपने वत्स पर स्नेहका बन्धन निःस्वार्थ होता है।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियोंमें यह नियम देखा जाता है। 'पुत्र कुपुत्र हो जाता है पर माता कुमाता नहीं होती' ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है। माता गर्भ समयसे ही बालककी सुविधाका ध्यान रखती है। गर्भभारको वहन करते हुए भी प्रसन्नमुख रहती है। गरम, तीखा, चटपटा और अनिष्टकारक भोजन केवल इस लिए नहीं खाती कि वह गर्भस्थ बालकको हानिकारक होगा। पुत्रोत्पत्तिके बाद जब तक वह दुग्धपान करता है तब तक शीतकारक, उष्णकारक और गरिष्ठ भोजन केवल इस विचारसे नहीं करती कि बालकका शीत या उष्णताका विकार हो जायगा। दुग्धपान छूट जाने पर भी उनकी सदा परिचर्या करती रहती है, उसके सुख दुःखका ध्यान रखती है। यदि घरमें धन भी न हो, दरिद्रता हो तो भी स्वयं मजदूरी करके धनोपार्जन करती है और स्वयं एक बार रूखा सूखा बासी अन्न खाकर भी बालकको उत्तम भोजन कराती है। बालक दुष्ट प्रकृतिका भी हो जाय, अनादर भी करे, आज्ञा भी न माने तथा गांव भरका उपद्रव कर उलाहना लावे तो भी माता उसे स्नेह करती है। विवाहित होने पर यदि पुत्र और पुत्रवधू दोनों निरादर करे; भोजनको भी तंग करें तो भी माता नित्य प्रातः सायं अपने पुत्रका, पुत्रके सुखके लिए पुत्रवधूकी तथा उसके पुत्र पुत्रियोंकी कुशलता और कल्याणकी भावना पूर्वक परिचर्या करती रहती है।

वत्सके प्रति माताकी इस निःस्वार्थ प्रीतिने इसीलिए अपना "वात्सल्य" नाम पाया है। वात्सल्य शब्दके अर्थमें वे सब गुण छिपे हैं जो वत्सके प्रति माताकी प्रीतिमें होते हैं या हो सकते हैं। कोई भी धर्मात्मा दूसरे धर्मात्माके प्रति क्या व्यवहार रखे कैसा बर्ताव करे इसके लिए आचार्योंने सर्वत्र "वात्सल्य" शब्दका ही उपयोग किया है। प्रीतिके वाचक सैकड़ों शब्दोंके रहते हुए उनमेंसे एकका भी प्रयोग नहीं किया है।

इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी धर्मज्ञ सम्यग्दृष्टि दूसरे साधर्मीको देखकर इतना प्रसन्न हो जितना माता वत्सको देखकर होती है। उसके हितका और सुख-दुःखका उतना ही ख्याल रखे। उससे गलती भी हो जाय तो वह उसकी निन्दा नहीं करे और न दूसरोंसे की गई उसकी निन्दाको सहे। वह सदा उसके दोषोंको दूर करनेकी सतत चेष्टा करे और सदा उसकी गुणोन्नतिका ध्यान रखे। सारांश यह है कि उसे हर प्रकारसे अपनाए जिससे धर्मकी वृद्धि हो।

ग्रंथकार आचार्यने 'वात्सल्य' का अर्थ यद्यपि "प्रीति" किया है किन्तु उस शब्दका प्रयोग करते हुए भी उन्होंने वात्सल्य शब्दके पूर्णार्थको व्यक्त करनेके लिए उसे उपयुक्त नहीं माना अतः यथार्थ अर्थका सम्यग्बोध करानेके लिए "स्वात्मवत्" ऐसा उदाहरण देकर स्पष्टीकरण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने हितका, अपने सुख-दुखका अपनी समुन्नतिका, अपनी कीर्ति रक्षाका अपने शरीर रक्षाका, अपने धर्मकी रक्षाका वृद्धि और अपने गुणोंकी उन्नतिका सदा ध्यान

रखता है उसी तरह उसे अपने सहधर्मीके लिए भी रखना चाहिए। यही सम्यग्दृष्टिका "वात्सल्य" गुण है।

यद्यपि नीतिकारने कहा है कि—"संस्मृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः" अर्थात् संसारका कोई भी व्यवहार माया अर्थात् कपटसे रहित नहीं होता। बिना कुछ न कुछ कपट व्यवहारके सांसारिक व्यवहार नहीं चलता। अनेक स्थलोंमें तो कपट व्यवहार 'सभ्यता' में शामिल है। मायाचारी सहित मिथ्याकीर्तन शिष्टता और नागरिकताकी कोटिमें गिना जाता है। यदि किसी आगत व्यक्तिका (भले ही उसमें वे गुण न हों) आप उत्तमोत्तम शब्दों द्वारा स्वागत न करें तो आप अशिष्ट, ग्रामीण और सभ्यता रहित व्यक्तियोंकी गणनामें गिने जायंगे जब कि उसका मिथ्याकीर्तन कर स्वागत करना, सभ्यता, शिष्टता और नागरिकताकी मर्यादामें गिना जाता है। ऐसा होते हुए भी सम्यग्दृष्टि उससे अर्थात् सहधर्मीसे सभ्यताकी रक्षार्थ शिष्ट व्यवहार नहीं करता बल्कि हितैषिताके नाते उससे समुचित स्नेहमय व्यवहार करता है। उसका यह सद्व्यवहार उसके 'वात्सल्य' गुणके कारण ही है। ७५।

उपसंहार

(अनुष्टुप्)

श्रावकाणां प्रबोधार्थं विशेषाष्टगुणा मया।
प्रोक्तास्ते व्यवहारेऽपि मिथस्सत्प्रीतिकारकाः॥ ७६॥

श्रावकाणामित्यादिः—प्रोक्तास्ते संवेगादयोऽष्टौ गुणाः यद्यपि सम्यग्दृष्टेर्भवन्त्येव। सम्यक्त्वे सति तेषामुत्पत्तिर्भवत्येव। यदि न स्यात्तर्हि सम्यक्त्वस्यैव हानिः स्यात्। सम्यक्त्वस्य फलानि एव एतानि इत्यपि कथनं समञ्जसमेव प्रतिभाति। व्यवहारेऽपि सर्वसाधारणप्राणिषु यदि ते गुणाः स्युस्तदा तेषां परस्परं प्रीतिकारकाः स्युः।७६।

श्रावकोंके प्रबोधके लिए संवेगादि अष्ट गुणोंका वर्णन जो पहले किया गया है वे गुण सम्यग् दृष्टी जीवके अवश्य होते हैं, क्योंकि सम्यक्त्वके उत्पन्न होने पर वे अवश्य पाये जाते हैं। यदि वे न हों तो सम्यक्त्वकी भी हीनता हो जाय। ये गुण सम्यक्त्वरूपी वृक्षके फल हैं ऐसा भी कहा जाय तो उचित ही है। अतएव व्यवहारसे संसारके साधारण मनुष्यों द्वारा भी यदि ये गुण अपना लिए जांय तो परस्पर एक दूसरेके लिए अत्यन्त प्रीतिकारक सिद्ध होंगे।

विशेषार्थ—विश्वशान्तिकी यह महौषधि है। वर्तमान कालमें जो विभिन्न राष्ट्रोंमें अशान्तिकी धारा बह रही है। उससे पद पद पर युद्धकी आशंका बनी रहती है, जिससे सभी राष्ट्र एक दूसरेसे भयभीत रहते हैं। इस भीतिको दूर करनेके लिए ये महागुण परम अमृत रसायनके समान हैं। यदि इनमेंसे एक 'संवेग' गुणको ही लोग अपना लें अर्थात् धर्म (कर्त्तव्य) से प्रीति और अधर्मसे (अकर्त्तव्य) से अरुचि करने लगें तो पारस्परिक भीति दूर हो जाय। सभी विश्वशान्तिके इच्छुक हैं, फिर भी शान्ति नहीं है उसका कारण क्या है? क्या विश्वके प्राणियोंमें अशान्तिको कोई विश्वके बाहरके प्राणी उत्पन्न करते हैं? उत्तर होगा नहीं। तब और क्या कारण है इस पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि एक राष्ट्रकी दूसरे राष्ट्रों पर जो अविश्वासकी छाया है वह उसे अशान्तिकी शंका पद पद पर उत्पन्न कराती है। अविश्वास निष्कारण नहीं है। अविश्वास साधार है। उसका आधार है 'लोभ'। प्रत्येक अपने राज्यकी परिधि बढ़ानेकी फिक्रमें है। दूसरे राष्ट्रों पर अपना शासन दण्ड चलाना चाहता है। वहाँकी सम्पत्तिका उपभोग अपने देशके लिए करना चाहता है। इतना ही नहीं

वहांके लोगोंके परिश्रमका उपयोग अपने देशवासियोंके सुखके लिए करना चाहता है। प्रजातन्त्र राज्यकी प्रणाली यद्यपि देशकी प्रजाकी सुख सुविधाके लिए थी। राज्यके ऊपर कोई व्यक्ति अपना व्यक्तिगत शासन स्थापित न करे तथा व्यक्तिगत सुखके लिए वह प्रजाजनोंके स्वार्थकी होली न खेले, इसलिए प्रजातन्त्रका प्रयोग किया गया था। पर आज प्रजातन्त्र इस शब्दका उपयोग उस प्रणालीके लिए किया जा रहा है जिसे सामूहिक एकदेशीय स्वार्थ कहना अधिक उपयुक्त होगा। एक देश अपना स्वार्थ दूसरे देशवासियोंको कष्टमें डाल कर भी साधना चाहता है। राजतन्त्र पद्धतिमें एक व्यक्तिकी इच्छाकी पूर्तिके लिए प्रजाको कष्ट होता था पर उस कष्टकी सीमा एक व्यक्तिके स्वार्थपूर्तिके बाद समाप्तिको प्राप्त हो जाती थी। परन्तु इस प्रजातन्त्रके नाम पर चलनेवाले इस सामूहिक स्वार्थ और लिप्साकी पूर्तिका अन्त बहुत दूर है। उसकी समाप्ति एक व्यक्तिकी इच्छा पर नहीं बल्कि उस देशके जनसमूहकी इच्छा पर अवलम्बित है। यह स्वार्थका लम्बा संघर्ष है।

सरल शब्दोंमें यह निष्कर्ष निकला कि जब तक एक देश अपने कर्त्तव्यको समझकर अपने स्वार्थ साधनकी सीमा अपने तक ही सीमित न रखेगा तब तक दूसरोंसे शान्ति प्राप्तिकी अभिलाषा करना बिलकुल असंगत है। यदि दूसरों को सुखी बनानेके लिए हमारा क्या कर्त्तव्य है इसका बोध सभी राष्ट्र करलें तो विश्व में शान्ति हो सकती है। यही कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक संवेगनामा गुण है।

निर्वेद गुण—व्यक्तिगत विषयाभिलाषा की न्यूनता को कहते हैं। व्यक्ति यदि अपनी विषयाभिलाषा न्यून करने लगे तो सामूहिक रूपसे भी राष्ट्रके व्यक्तिगत स्वार्थ, जिनके कारण एक दूसरे से संघर्ष होते हैं, कम हो जायंगे। उनका कम हो जाना ही संघर्षका कम हो जाना है और संघर्षकी सम्भावनाओंका दूर होना ही विश्वशान्ति है।

क्रोधादि कषायोंकी शान्ति उपशमभाव है। आत्मदोषोंका निरीक्षण कर अपने दोषोंकी निन्दा करना ही निन्दा है। सम्पत्ति, बल और वैभवकी उन्मत्तताकी इच्छासे दूर रहना गर्हा है। प्राणिमात्र पर दया-प्रेम करना अनुकम्पा है। पूर्व महापुरुषोंकी वाणी पर आस्था रखकर लोक-परलोक, पुण्य-पाप पर आस्था रखना व आत्माके अस्तित्व व नित्यत्व पर श्रद्धा रखना आस्तिक्य है। प्रत्येक बन्धुको वत्सलताकी दृष्टिसे देखने रूप वात्सल्य है। ये सभी गुण समुदाय रूपमें ही नहीं किन्तु पृथक् पृथक् एक एक सभी विश्वशान्ति स्थापित करनेमें पूरी तरह समर्थ हैं। ७६।

इति संवेगाद्यष्टगुणनिरूपणम्।

प्रश्न :—**सम्यक्त्वस्यातिचाराः के वद मे सिद्धये प्रभो।**

हे प्रभो। सम्यक्त्वस्य कानि दूषणानि तान्यपि कथय यतः मे सम्यक्त्वं निर्मलं स्यात्—

हे भगवन्! सम्यक्त्वके भूषणोंका वर्णन तो हो चुका अब उसके दूषणोंका भी वर्णन कीजिए ताकि उनको दूरकर हम सम्यक्त्व निर्मल बना सकें—

(अनुष्टुप्)

शङ्का कांक्षा विचिकित्सा प्रशंसा संस्तवस्तथा।
सद्दृष्टेरतिचारास्ते सम्यक्त्वं दूषयन्ति नु॥ ७७॥

शङ्केत्यादि :—शंका कांक्षा विचिकित्सा कुदृष्टेः प्रशंसा तत्संस्तवश्च सद्दृष्टेः एते पञ्चातिचाराः सम्यक्त्वं दूषयन्ति मलिनीकुर्वन्ति। ७७।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां च द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

आस्तिक्य गुणके विरुद्ध आत्माके अस्तित्वपर परम वीतराग अर्हत्परमात्माके वचनोंपर सन्देह करना शंकातिचार है। इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको ही जीवनमें प्रमुख स्थान देना कांक्षा नामक दूसरा अतिचार है। धर्मात्मा श्रावक व साधु व्रती पुरुषोंकी तथा सर्व साधारण रोगी ग्लान पुरुषोंकी सेवा करनेमें घृणा करना विचिकित्सा नामा तृतीय अतिचार है। जो मिथ्यादृष्टि हैं, सद्धर्मसे द्वेष रखते हैं, पापसे प्रीति रखते हैं, विषयान्ध हैं और कपटभेषी हैं अर्थात् धर्मात्माका भेष रखकर दूसरोंको ठगते हैं। इन सब कुलिंगियों और कुभेषियोंकी प्रशंसा करना यह प्रशंसानामक चौथा अतिचार है तथा इन्हींकी स्तुति वन्दना करना संस्तव नामका पांचवा अतिचार है।

विशेषार्थ-वस्तुतत्त्वको वेत्ता सम्यग्दृष्टी जीव सदा अपनी दृष्टिके सामने जगत्का सच्चा चित्र रखता है। वह उस जगद्रहस्यको जो ध्रुवसत्य है, जिसपर उसे दृढ़तम श्रद्धा है, कभी विस्मृत नहीं करता। सोते-जागते, खाते-पीते व व्यापार-व्यवसाय करते हुए यहां तक कि विषयोंका भोग भोगते हुए भी वह अपनी स्थितिको और जगत्की स्थितिको एक क्षणके लिए भी नहीं भूलता। उसके हृदयमें ये विचार सदा जागृत रहते हैं कि मैं सदा शाश्वत, विज्ञानस्वरूप, परम पवित्र और अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड आत्मा हूँ, मै सदा अविनाशी हूँ, मेरे गुण रूपी धनका विनाश कभी नहीं हो सकता। मेरे गुण मेरे अपराधसे मलिन हो रहे हैं अतएव मुझे उन्हें निर्मल बनाना है। अर्थात् मुझे विभाव छोड़कर स्वभाव परिणति उत्पन्न करनी है।

पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें संलग्नता मेरा भोग नहीं है। मेरा भोग आत्मिक गुणोंका भोग है जो अविनाशी है। ये इन्द्रियजनित भोग विनाशी है। इनका बोध इन्द्रियद्वारसे होता है और इन्द्रियां शरीरका अंग हैं। शरीर आत्मस्वभावसे भिन्न जड़ पदार्थ है। जड़की संगतिसे आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। शरीर मल-मूत्रकी योनि है। यह और इसकी उत्पत्तिका कारण दोनों अपवित्र हैं। अतः उससे प्रीति करना भी आत्मघातक है और उससे घृणा करना भी वस्तुस्वभावसे आंख मींच लेना है। जिस वस्तुका जो स्वभाव है उसे ठीक रूपमें समझ लेना ही आत्महित साधक है।

संसारके सभी प्राणी शरीरी हैं। पाप-पुण्यके उदयसे ही रोगित्व-निरोगित्व, दुःख-सुख और संपत्ति-विपत्ति होती हैं। प्राणीके दुःख दूर करनेमें प्रयत्न करना यह महान् सेवाधर्म है। घृणा इसमें अत्यन्त बाधक है। शरीर तो सचमुचमें अपवित्र है पर इससे मुझे घृणा क्यों हो, क्योंकि मेरा आत्मा उससे अपवित्र नहीं बन सकता। आत्मा तो परम पवित्र है, फिर शरीर स्पर्शसे भय क्या? उलटे विचारोंसे मैं अपने महान् सेवा धर्म व वात्सल्य गुणसे पृथक् होता जाऊंगा। मुझे किसी पदार्थसे घृणा न होनी चाहिए। हां वस्तुका स्वरूप अवश्य ही ठीक ठीक समझ लेना चाहिए और अपवित्रताको न अपनाते हुए पवित्र बननेका प्रयत्न करना चाहिए।

जो मिथ्यावेषी है, कपटी हैं व मायाचारीसे दूसरोंको ठगते हैं वे धर्ममार्गके कण्टक हैं। उनकी प्रशंसा या स्तुति करनेसे लोगोंमें उनके दुर्गुणोंके प्रति प्रीति हो जायगी, अतः कभी भी मिथ्या प्रशंसा या मिथ्या गुण कीर्तन नहीं करना चाहिए। पूर्वोक्त सद्विचारोंसे सम्यक्त्वीका सम्यक्त्व गुण निरतिचार रहता है और वह ज्ञान और चारित्रके मार्गमें बढ़नेको समर्थ होता है। ७७।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्म प्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभा नामक व्याख्यामें द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

प्रश्नः—व्यसनानि कति सन्ति तच्चिह्नं कीदृशं वद ।
अथ व्यसनचिह्नं ते ब्रवीमि सुखतः शृणु ॥

हे गुरुदेव ! व्यसन कितने हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्नको ध्यानमें रखकर गुरु उत्तर देते कि हे शिष्य व्यसनोंका स्वरूप मैं कहता हूँ तुम सावधानीसे सुनो—

(अनुष्टुप्)

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या स्तेयमाखेटकं तथा ।
परस्त्रीसङ्गमश्चैव सप्तैव व्यसनानि तु ॥ क्षेपकम् ॥

द्यूतमित्यादिः—तात्पर्यमेतत्—एतानि सप्तव्यसनानि—द्यूतक्रीडनं मांसभक्षणं सुरापानं वेश्यासङ्गमः स्तेयं नाम परद्रव्यापहरणं आखेटकं नाम पशूनां पक्षिणां मारणं मांसार्थं कौतुकार्थं वा परवनितानामासेवनं इति । धर्ममार्गात्पुरुषान् व्यस्यति भ्रंशयति तद् व्यसनं इति व्युत्पत्तेः । एकवारं मांसादिसेवनं तु पापं पुनः पुनः पापकरणं तदासक्तिश्च व्यसनं इति व्याख्यानात् । सततमेव पापानामिच्छा वर्तते यस्य चित्ते तस्य मनसि धर्मो न दत्ते पदमपि । इत्येवं सुनिश्चितं यत् व्यसनानि प्राणिनो धर्ममार्गात् दूरीकुर्वन्ति तस्माद्धेयानि व्यसनानि स्वहितमिच्छता ।

व्यसन सात हैं—जुआ खेलना, मांस खाना, मद्य पीना, वेश्यागमन करना, चोरी करना, शिकार करना और परस्त्री सेवन करना ।

विशेषार्थ—रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, घर-मकान आदि द्रव्यकी बाजी लगाकर क्रीड़ा करना द्यूत क्रीड़ा है । माँसका खाना, मद्यका पीना, वेश्या सङ्गम करना, चोरी अर्थात् पराए द्रव्यका अपहरण करना, पशुपक्षी या मनुष्योंका मांस लोलुपतासे, कौतुकसे या अन्य विषयलिप्सासे खाना, दूसरोंकी गृहीत पत्नी जो सस्वामिक हो या अस्वामिक हो उसका सेवन करना, ये सात व्यसन हैं ।

किसी भी बुरे कामकी आदत पड़ जानेको व्यसन कहते हैं । जिसे किए बिना चित्तको चैन ही न पड़े वह व्यसन है । उक्त कार्योंको प्रमादवश या अन्य किसी कारणवश एकबार सेवन करना पाप है, और उनको बार बार सेवन करना या उनकी आसक्तिका बना रहना व्यसन है । व्यसन शब्दका अर्थ ग्रन्थान्तरोंमें यह किया गया है कि जो प्राणीको धर्ममार्गसे भ्रष्ट करे या धर्ममार्गमें जाने न दे अर्थात् उससे दूर रखे वह व्यसन है । जिसके हृदयमें पापका निवास स्थान है भला वहाँ धर्मका पैर कैसे जम सकता है । व्यसनी पुरुषका संसार व्यसनमय है । पापवासना उसके हृदयमें सदा जागृत रहती है । परस्त्री पर, चाहे वह सती हो या असती हो, स्त्री हो या माता हो या बहिन हो, परद्रव्य पर; चाहे वह किसीका हो भले ही वह देवद्रव्य हो, उसकी कुदृष्टि रहती है ।

व्यसनीको खाना-पीना, उठना-बैठना, भले पुरुषोंकी सङ्गति व उनका उपदेश, देवस्थान व देवपूजा, शास्त्रश्रवण और धार्मिक उत्सव आदि कल्याणकारी एक भी कार्यमें चित्त नहीं लगता ।

सोते-जागते, खाते-पीते, देवध्यान-देवपूजन करते और शास्त्रश्रवण करते हुए भी उसका चित्त सदा अपने व्यसनमें रहता है। एकमात्र उसीका ध्यान रहता है, अतएव व्यसन स्वहितैषीके लिए सर्वथा छोड़ने योग्य हैं।

प्रथम द्यूतव्यसनका लक्षण

(अनुष्टुप्)

द्यूतमेव जनानां स्याच्छत्रुः सर्वापहारकः।
स्थानं दुष्कर्मणां नूनं मूढानां विपदां सखा ॥ ७८ ॥
ज्ञात्वेति च्छर्दिवद् द्यूतं त्यक्त्वा चात्यन्तदुःखदम्।
सन्तः निर्व्यसनाः सन्तु शुद्धचिद्रूपनायकाः ॥ ७९ ॥

द्यूतमित्यादिः—भावस्त्वयम्, द्यूतमेव जनानां सर्वापहारकः शत्रुरस्ति। यथा शत्रुः सर्वाणि द्रव्याण्यपहरति तथा द्यूतं लौकिकदृष्ट्या सर्वधनापहारकं कीर्तेरपहारकं स्वास्थ्यनाशकं आजीविकाविघातकं अविश्वासोत्पादकं चास्ति। पारमार्थिकदृष्ट्या तु अनेकपापानां जनकं दयादाक्षिण्यादिसद्धर्माणामपहारकमस्ति। तद्वद् दुष्कर्मणामनेकव्यसनानां स्थानं तथा विपत्तीनां सखा। एतज्ज्ञात्वा नास्तिकम् दुखदं द्यूतं दूरत एव परिहर्तव्यम्। शुद्धचैतन्यरूपे स्वरूपे स्थित्वा व्यसनैर्यथा मुक्तिः स्यात् तथा वर्तितव्यम्। ७८। ७९।

जुआ मनुष्योंका सर्वापहरण करनेवाला शत्रु है। शत्रु तो केवल बाह्य द्रव्य सुवर्ण-चांदी और गृह आदिका अपहरण कर सकता है, परन्तु द्यूत द्रव्यका अपहरण तो करता ही है, साथ ही कीर्तिका भी अपहरण करता है, स्वास्थ्यका भी नाशक है, आजीविकाको भी नष्ट कर देता है और अविश्वासको उत्पन्न कर देता है। ऐसा जानकर और छर्दिके समान द्यूतका त्याग कर शुद्ध चिद्रूपका स्वामी सज्जन पुरुष द्यूत व्यसनसे दूर रहे।

विशेषार्थ—मोक्षमार्गी युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि पांचों महापुरुष अपनी गार्हस्थिक अवस्थामें इसी एक द्यूतके कारण राज्य रहित हुए वन वन मारे मारे फिरे। राजा होकर भी पराई चाकरी करनी पड़ी। द्रौपदी जैसी पतिव्रता स्त्रीको जुएके दाव पर लगा बैठे। बुद्धिका दिवाला निकल गया। भरी सभामें अपनी वधू द्रौपदीका अपमान सहा। वह भी ऐसा अपमान जिसे एक नीचसे नीच व पापीसे पापी भी सहनेमें लज्जित होगा। क्योंकि सर्वस्व सतीत्वके साथ जुएमें जीतनेवाले नीचोंने खिलवाड़ किया। उसे सभामें नग्न करना चाहा किन्तु उसके सतीत्व के प्रभावसे देवोंने उसकी लज्जा रखी। पर जीतने और हारनेवाले दोनों जुआड़ियोंने अपनी नीचता की पराकाष्ठा इस घटनामें दिखा दी। यह कथा पाण्डव पुराण में प्रसिद्ध है।

कथाओं में राजा नल का दूसरा पौराणिक उदाहरण है। जिन्होंने जुएमें राजपाट सब हार दिया और पत्नी सहित वन वन फिरे, चिड़ियोंको मारकर पेट भरा तथा अनेक पाप किए। अपनी धोती जो एक मात्र लज्जा का शेष साधन थी वह चिड़ियोंको फसानेके लिए फेंक दी। पर चिड़िया धोती लेकर उड़ गई और राजा नंगा रह गया। तब अपनी स्त्री की आधी साड़ी पहिनकर लज्जा ढाँकी। इतना होने पर भी वह कायर अपनी पत्नीको जंगलमें छोड़कर वन-वन मारा मारा फिरा। ऐसी दुर्दशा बड़े-बड़े राजाओं की हुई तो साधारण मनुष्योंकी क्या गिनती है।

शास्त्रोंमें पाण्डवोंकी और लौकिक कथाओंमें नलकी अपकीर्ति आज तक चली आ रही है और हजारों लाखों वर्षों तक बल्कि असंख्य वर्षों तक चलेगी।

जुआ खेलनेवाले रात्रि दिनका भेद नहीं जानते। उन्हें अपने व्यसनके कारण यह पता ही नहीं चलता कि कब रात हो गई, कब प्रातःकाल हुआ। भोजन, पान, शयन, देवदर्शन, स्वाध्याय और सज्जनसङ्गति आदि सत्कार्योंके लिए उन्हें यथोचित अवकाश ही नहीं मिलता। इसका यह फल होता है कि उनका शारीरिक स्वास्थ्य अनियमित आहार-विहार तथा दुःसङ्गतिके कारण विकृत हो जाता है। वे अपनी आजीविकाके साधनोंको खो बैठते हैं। यदि वे व्यापारी हैं तो जुएके कारण व्यापारको समय नहीं मिल पाता। वह नष्ट हो जाता है। यदि शिल्पकार हैं तो काम कौन करे? समय कहाँ है व्यसनी को। कृषिकर्त्ताका कृषिका समय निकल जाता है। यदि समय पर खेती हो भी गई तो जब तक ये जुआ खेलते हैं तब तक खेती बिना देख रेखके चोरों और जंगली जानवरों द्वारा चौपट हो जाती है। ऐसे व्यसनीको कोई भी मालिक नौकर नहीं रखता है। कोई कर्ज पैसा नहीं देता है। कोई उधार सौदा नहीं देता है। इस प्रकार आजीविका नष्ट हो जाती है। उसका विश्वास जनतासे एकदम उठ जाता है। कोई उसकी संगति नहीं करना चाहता। पास बैठाना नहीं चाहता। यदि पड़ौसमें चोरी हो जाय तो उस पर एक बार सन्देह जरूर चला जाता है। जुएमें हार जाना ही अधिक सम्भव होता है। जुआरी प्रायः अन्तमें निर्धन ही हो जाते हैं।

निर्धनताका कारण स्पष्ट है। वह गणित शास्त्रसे प्रमाणित हो जाता है। कल्पना कीजिए कि ४ व्यक्ति पाँच सौ पाँच सौ रुपया लेकर जुआ खेलने बैठे। इनमें एक व्यक्तिने प्रथम बार २००) जीत लिया, वह प्रसन्न हुआ और तत्काल २५) मिठाई खाने सिगरेट पीने आदि आमोद प्रमोदमें खर्च करा दिए। देखनेवाले अनेक व्यक्ति वहां रहते हैं जो प्रत्येक जुआरीके संबंधी या जान पहिचानके होते हैं। वे उस प्रसन्नताके फलस्वरूप उससे पारितोषिक मांगते हैं। वह मुफ्तका बिना परिश्रम पाए हुए रुपयोंमेंसे २५)–५०) रुपया बांट भी देता है। दूसरी बार दूसरा व्यक्ति २००) ३००) जीता जाता है। तो वह भी २५)–४०) आमोद प्रमोदमें खर्च कर देता है और लगनेवाले लोगोंमें बाँट देता है। यह रुपया जो आमोद प्रमोदमें चला जाता है या लोग ले जाते हैं जुएकी मूल पूँजीजो २०००) थी उसमेंसे घटता जाता है। १०–५ बार इसी प्रकार कभी कोई कभी कोई दाव लगाकर जीता और ५०) रुपया जुएके बाहर उक्त प्रकारसे खर्चमें चले गए। ४-६ घंटे यदि जुआ चलता रहा तो २५-३० बार हारजीतका प्रसंग सहज ही आ जाता है और प्रतिबार ५०) खर्चके हिसाबसे ३० बारमें १५००) खतम हो जाता है। बाकी ५००) रह गया सो किसीके पास १००) होंगे, किसीके पास २००) होंगे, किसीके पास ३००) होंगे तो कोई एक सर्व धनसे रहित हो गया होगा। यथार्थ दृष्टिसे सब लोग हारे। ऐसा होने पर भी ईर्ष्यावश वे यह समझते रहते हैं कि हम इससे अच्छे हैं हमारे पास तो इतना बचा। यह तो निर्धन हो गया। इस प्रकार ईर्ष्याजन्य परिणामोंसे सन्तुष्ट होकर चले आते हैं।

इतना होनेपर भी वे शान्त नहीं बैठ सकते। पुनः दुबारा घरसे रुपया लेकर, घरमें न हो तो जेवर गिरवी रखकर या बेचकर और यदि जेवर न हो तो जहाँसे उधार मिल सकता है वहाँसे उधार लेकर, घर-मकान गिरवी रखकर भी रुपया लाते हैं और एकके चार बनानेकी अभिलाषासे पुनः जुआ खेलते हैं। परिणाम उसका भी पहिले जैसा ही होता है और अन्तमें वे फिर अपनी पूंजीको कम कर बैठते हैं या निर्धन हो जाते हैं। तब निर्धनताके

कारण चोरीकी आदत उन्हें डालनी पड़ती है, क्योंकि इस प्रकार धनहीन, आजीविकाहीन और विश्वासहीन हुआ मनुष्य या तो भिक्षावृत्ति करनेके लिए या चोरी करनेके लिए मजबूर होता है। इसके सिवा उसके पास दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। इस प्रकार जुएकी निर्धनताने चोरी व्यसनका उपहार उसे प्रदान किया या निर्लज्जता प्रदानकर भिक्षा मँगवाई। राजा नलने चिड़ियोंका शिकारकर पेट भरना प्रारम्भ किया अर्थात् उसे जुएकी निर्धनताके फल स्वरूप आखेटक व्यसन लग गया।

दैवगत्या यदि कोई द्यूतक्रीड़ावाला अपनी पूँजी बचा ले और दूसरेकी पूँजी भी जीत जाय। ५००) की जगह १५००) पैदा करले तो यह जीता हुआ द्रव्य उसे शान्तिसे बैठने न देगा। या तो वह १५००) के ३०००) बनानेकी फिकरमें रहेगा और फिर भी जुआ खेलेगा और यदि खेलना कुछ समयको बन्द कर दिया तो बिना प्रयासके प्राप्त उस पर द्रव्यसे अन्य व्यसनोंका शिकार बन जायगा। मद्यपान, वेश्यागृहनिवास, उसकी संगतिमें मांससेवन, वेश्या न मिलनेपर परस्त्रीरमण आदि समस्त व्यसन स्वत एवं उसे घेर लेंगे और इन व्यसनोंमें द्रव्यको नष्ट कर वह भी निर्धनताको प्राप्त होकर चोरी, भिक्षा और आखेटकसे जीविका निर्वाहके लिए बाध्य होगा।

इस प्रकार व्यसनोंका लग जाना और उनसे हर प्रकारकी हानि उठाना एक द्यूतका फल है। इसे सातों ही व्यसनोंका राजा कहा है। एक दन्तकथा प्रसिद्ध है कि एक साधु जंगलमें चिड़ियाँ मार रहा था। उसे देखकर एक अन्य साधुने उसे रोका और कहा कि भाई साधु होकर शिकार करते हो? साधु बोला कि सदा नहीं पर कभी कभी मांस खानेकी आदत पड़ गई है। जब इसके बिना रहा नहीं जाता तब शिकार कर लेता हूँ। दूसरे साधुको आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि क्या भाई मांस भी खाते हो? तो बोला हां वेश्याकी संगतिमें यह आदत पड़ी है। दूसरे साधुने सोचा कि यह वेश्या भी सेवन करता है। उसने पूछा कि भाई तुम वेश्याके यहाँ भी जाते हो और तुमने उसकी संगतिमें साधुपना छोड़ मांस खाना कैसे स्वीकार कर लिया। तब पहला साधु बोला कि भाई अपनी दशा क्या कहें? वेश्याने मद्य पिलाया। वह बोली बिना इसे पिए भोगका आनन्द नहीं आता। सो मद्य पीकर जब मुझमें उन्मत्तता आई, भूख लगी और चित्त चैतन्य शून्य सा होने लगा तब जो उसने खिलाया सो खाया। होश आने पर ज्ञान हुआ जो इसने मांस खिलाया है तबसे आदत पड़ गई है।

नवागत साधु यह सुनकर बहुत व्यथित हुआ, बोला कि भाई वेश्या संगतिसे तू शराब भी पीने लगा, मांस भी खाने लगा और शिकार भी करने लगा। तुझे चार-चार व्यसन लग गए। भला यह तो बता कि साधु होकर पहिले वेश्याके यहाँ गया ही क्यों? तो वह बोला कि भाई क्या कहूँ? जब कामने सताया और जब वनमें अकेली दुकेली कोई स्त्री न मिली तो वेश्या के यहाँ जाना पड़ा। धन तो मेरे पास बहुत था, चोरीसे मिल जाता था। जब कोई महाजन जंगलके रास्ते जाता तो उसे लूट लेता था। धनकी कमी न थी। इससे वेश्याके यहाँ चला गया। दूसरे साधु ने सोचा कि यह दुष्ट चार ही व्यसनका व्यसनी नहीं है। परस्त्री गमन भी करता है और चोरी भी करता है। उसने उस पर करुणा कर पूछा कि भाई तेरी यह दुर्दशा कैसे हुई। ये दोनों दुर्व्यसन भी तुझे कैसे लग गए? तब प्रथम साधु बोला भाई क्या कहें? सच्ची बात यह है कि सबसे प्रथम मैंने जुआ खेलना प्रारम्भ किया था। उसमें पहिले तो बहुत धन मिला और उस धनने मुझे मदोन्मत्त किया। मैंने सोचा बिना स्त्रीके धनका क्या करूं। फलस्वरूप मैंने एक स्त्री रख ली। कुछ समय बाद मैं जुएमें हार गया सो सब धन चला गया। निर्धन होते ही वह स्त्री भाग गई। मैं उन्मत्त हो धनके लिए डाका डालने लगा और उस डाकेमें जो धन

मिलता तो धन रख लेता और कोई स्त्री मिल जाती तो स्त्री रख लेता। इस तरह जुएने मुझे स्त्री रखने तथा डाका डालनेको बाध्य किया। अन्यायोपार्जित उस धनने मुझे वेश्या घर तक पहुँचाया और वहाँ जानेपर मेरी जो दुर्दशा हुई वह आपके सामने है। सभी व्यसन अब मेरे साथी हैं। मैं इनमें घुल मिल गया हूँ। साधुताकी जगह असाधुता आ गई है। केवल तन पर रूखा कपड़ा शेष है। सो ये भी लोगोंके फसानेका एक जालमात्र है, यथार्थमें साधुता नहीं है साधुताबेश मात्र है।

इस कथासे यह सहज ही समझमें आ जाता है कि यह व्यसन सब व्यसनोंका राजा है। यह सचमुच विपत्तियोंका मित्र है। इसके वशीभूत मनुष्य अपनी सम्पूर्ण साधुताको तिलाञ्जलि देकर प्रत्येक प्रकारके दुर्गुणोंको प्राप्त कर लेता है। जिस तरह अपने द्वारा भुक्तभोजन यदि वमनके द्वारा मुखसे गिर जाय तो उसे अत्यन्त घृणास्पद समझ कर लोग छोड़ देते हैं। उसमें सब प्रकारके मिष्टान्न, जो भी मैंने खाए थे मौजूद हैं ऐसा समझ कर कोई उसे पुनः नहीं ग्रहण करता। इसी प्रकार वमनकी तरह जुएके द्रव्यको समझकर उसे घृणाकर जो द्यूतका त्याग करता है वह पवित्रात्मा सर्व व्यसनोंसे बच जाता है और उसमें सब प्रकारके सद्गुण उत्पन्न होते हैं। वह अपने शुद्ध चैतन्य धनका धनी होकर अनन्त सुखका पात्र होता है और संसार बन्धनसे छूट जाता है। अतएव द्यूत सर्व प्रयत्नों द्वारा छोड़ देने योग्य है। ७८। ७९।

प्रश्नः—**का मांसभक्षिणां हानिस्तद्बोधाय गुरो वद।**

हे गुरुदेव! मांस भक्षण करनेमें क्या हानि है। इस विषयको समझाइए—

(अनुष्टुप्)

न मांसभक्षिणां चित्ते दयाधर्मो भवेत्किल।
हेयोपादेयबोधोऽपि न स्यात्सद्धिश्वशान्तिदः॥ ८०॥
ज्ञात्वेति दुःखदं निन्द्यं त्यक्त्वा हि मांसभक्षणम्।
कुर्वन्त्वात्महितं सन्तो धर्मज्ञा धर्मनायकाः॥ ८१॥

न मांसभक्षिणामित्यादिः—भावार्थस्त्वयम्, ये परमांसं भक्षयन्ति तेषां चित्ते दयाधर्मो किल न भवति। मांसस्योत्पत्तिस्तु प्राणिनां शरीरत एव भवति। न तु मांसं वृक्षात् प्राप्यते न भूमितस्समुद्भवति न चाकाशात्पतति। मांसार्थिनां परशरीरघातस्तु अत्यावश्यकोऽस्ति अन्यथा मांसप्राप्तिर्न स्यात्। दयावान्पुरुषस्तु परशरीरस्य रोममात्रमपि दुःखीकर्तुमसमर्थो भवति, कथं तर्हि परशरीरं घातयेत्सः? सर्वत्र जगति शान्तिप्रदं सम्यग्ज्ञानमस्ति। सम्यग्ज्ञानत एव हेयस्य उपादेयस्य चार्थस्य विवेको भवति। हेये हेयतया उपादेये च उपादेयतया यद्विवेकः स्यात् तेन विवेकेनैव विश्वेऽस्मिन् शान्तिर्भवितुमर्हति, नान्यथा। मांसाशिनस्तु न स विवेकः स्यात्। इत्येवं सम्यगवबुध्य यः निन्दनीयं दुःखप्रदं तन्मांसं न भक्षयति तस्यैवात्महितं सदा स्यात्।

धर्मस्याधिष्ठातारः सज्जनाः धर्मस्वरूपबोधकाश्च आत्महितं कुर्वन्तु हेयोपादेयविवेकपूर्वकं। मांसभक्षणं तु त्याज्यमेव। सदा विचारणीयमेतत् यत् मांसभक्षणे हिंसामहापापस्य चरमसीमाऽस्ति। न केवलं तत्प्राणिन एव-वधस्संजायते यस्य मांसं भुज्यते, अपि तु मांसे तज्जातीनां पञ्चेन्द्रियाणां जीवानां निगोतसंज्ञकानामपि शरीरे तेषा-

मुत्पत्तिर्भवत्येव। पक्वापि पच्यदपि अपच्यदपि अपक्वमपि मांसं निगोतानां सदैव योनिः। तद्भक्षणे तु तेषां नियता हिंसा संजायते।

न चान्नादिवत् प्राण्यङ्गत्वात् तद्भक्षणे का हानिरिति प्रश्न उपयुज्यते। त्रससंज्ञिकानां प्राणिनां शरीर-स्थितानामेव मांससंज्ञा चास्ति। तत्रैव निगोतानामुत्पत्तिस्संजायते न तु अन्नादिषु स्थावरसंज्ञकेषु, तेषामेकेन्द्रियत्वात्। तस्य शरीरस्य स एव स्वामी। तस्यैवैकस्यैकेन्द्रियस्य तत्र हिंसा भवति नान्यस्य। कन्दादिषु अनन्तकायिकेषु साधारण-वनस्पतिषु तु अनन्तानामेकेन्द्रियाणां निगोतसंज्ञिकानामुत्पत्तिः स्यात्। तद्भक्षणे तु तेषां मरणं नियतमस्ति। तस्मात्कारणात् सप्रतिष्ठितानां वनस्पतीनां भक्षणं त्याज्यमेव दयावद्भिः श्रावकैः। पक्वावस्थायान्तु वनस्पतीनां प्रासुकत्वं स्यादेव। तदा तच्छरीरं खलु निर्जीवमेव भवति। तद्भक्षणे न तदतिरिक्तानां प्राणिनां वधः स्यात्। न तत्र मृतमांसवत् जीवानामुत्पत्तिर्भवति। तस्मात् सिद्धं यन्नान्नादिभिस्समत्वं स्यान्मांसादीनां कदाचित्। तन्मांसं परिहर्तव्यमेव स्वहितमिच्छता। ८०। ८१।

मांस भक्षण करना यह दूसरा व्यसन है जो प्राणीको धर्म मार्गसे भ्रष्टकर अधर्मके मार्गमें ले जाता है। जो लोग मांस भक्षण करते हैं वे दयावान नहीं होते। दया और हिंसा दोनोंमें परस्पर विरोध है। जैसे प्रकाश और अंधकार एक साथ एक स्थान पर नहीं रह सकते, इसी प्रकार एक प्राणीमें दया और हिंसा दोनों एक साथ निवास नहीं कर सकते। मांसभक्षण निश्चित हिंसा महापापका रूप है अथवा उसकी चरम सीमा है।

प्राणिवधके बिना मांसकी उत्पत्ति नहीं होती। मांस वृक्षोंमें नहीं फलता, भूमिमें उत्पन्न नहीं होता, आकाशसे बरसता भी नहीं है उसकी प्राप्ति प्राणी हिंसासे ही होती है। ऐसी स्थितिमें दयावान पुरुष भला किसी प्राणीकी हिंसा मांसभक्षण के लिए कैसे करेगा? क्या कर्त्तव्य है। क्या नहीं। क्या कार्य हेय है, क्या उपादेय है, इस प्रकार विवेक जिसके हृदयमें जागृत है वह दयावान किसी भी प्राणीके एक रोम मात्र को भी दुखी नहीं होने देता। पर शरीरका घात करना तो उसके लिए बहुत बड़ा पातक है।

मांसकी उत्पत्तिमें केवल उस प्राणीका ही वध नहीं है जिसका वह शरीर है बल्कि उसके मांसमें उसीकी जातिके अनन्त निगोत[१] संज्ञक प्राणियोंकी सतत उत्पत्ति होती है और मांसभक्षणमें उनका विनाश सुनिश्चित है। इस तरह मांस सेवी न केवल एक पंचेन्द्रिय का घातक है किन्तु उन असंख्य पंचेन्द्रियोंका वह घातक हो जाता है जो कि अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंके अधिष्ठान हैं और जो उसमांसमें सतत उत्पन्न होते रहते हैं 'इन जीवोंकी उत्पत्ति स्वयं मरे हुए प्राणिके मांसमें भी होती है और मारे गए प्राणीके मांसमें भी होती है। तथा मांसकी पकी हुई, पकती हुई, तथा कच्ची आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें भी होती है। अतएव मांसभक्षणमें उनकी महान हिंसा अवश्य होती है।

त्रसकायिक इन सब प्राणियोंके शरीरमें तज्जातीय असंख्य प्राणियोंकी तथा अनन्तानन्त निगोद जीवोंकी सदा उत्पत्ति होती है और सप्रतिष्ठित वनस्पतिमें वनस्पति जातीय अनन्त प्राणियोंकी उत्पत्ति

१—हमारे पूज्य पिताजी निगोद और निगोत या निकोत जीवोंमें बड़ा भेद है ऐसा कहते थे। इन्हें एकार्थ नहीं मानते थे। वे इनकी इस प्रकार व्याख्या करते थे कि साधारण वनस्पतिको निगोद कहते हैं। और निगोत या निकोत संज्ञा उन असंख्य जीवोंकी है जो त्रस हैं और जो त्रस जीवोंके रक्त मांसादि संज्ञा प्राप्त शरीरमें सतत होते रहते हैं। ये मृत शरीरमें भी होते हैं पर निगोद मृत एकेन्द्रिय शरीरमें नहीं होते केवल सजीवावस्था में होते हैं। सम्भवतः उन्हें यह बात गुरुवर्य्य पं० गोपालदासजी से ज्ञात हुई थी।

होती है अतः मांसके समान सप्रतिष्ठित वनस्पति वे भी दयावान् पुरुषके लिए हेय हैं, केवल अप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनके भक्षणमें केवल उस एक ही एकेन्द्रियका घात होता है। कोई वनस्पति शरीर जीव द्वारा परित्यक्त हो जाने पर निर्जीव हो जाता है। उस मृत शरीरमें निगोद जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती। इस स्थिति को देखकर कोई मनुष्य कुतर्कके द्वारा यह सिद्ध करना चाहे कि अन्नादिवत् मृतप्राणीके शरीरका मांस भी है तब अन्नादिकी तरह उसके भक्षणमें कोई दोष नहीं होना चाहिए। अथवा मांसकी तरह अन्नादि भी न खाना चाहिए तो ये दोनों उक्तियाँ युक्तिशून्य हैं, सत्यके विरुद्ध हैं क्योंकि प्राणीके मृत शरीरमें निगोदया जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती।

विश्वमें शान्ति प्रदाता हेयको हेय और उपादेयको उपादेय बतानेवाला एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही है। उक्त प्रकारका विवेक मांसभक्षीको उत्पन्न नहीं होता। अतः वह विश्वके लिए सदा खतरा बना रहता है। तब विश्वशान्ति कैसे हो। विश्वशान्तिके इच्छुक सम्पूर्ण मानव यदि शान्तिके मूल इस जीवदया रूप महामंत्रको जपकर मांसभक्षणका परित्याग कर दें तो विश्वशान्ति होना अनिवार्य है। विश्वका संघर्ष विश्वके प्राणियोंकी कल्याणकी भावनाके बिना कैसे टाला जा सकता है। और जो प्राणियोंके मांस खानेसे भी परहेज नहीं करता वह विश्वके उन प्राणियोंकी कल्याण कामना कैसे कर सकता है दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

धर्मज्ञ और धर्मके नायक पुरुष जो आत्महित और विश्वका हित चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि अपने भीतर हेयोपादेयका विचार उत्पन्न करें और निन्दनीय दुःखदायी इस मांस सेवनके व्यसनका त्याग कर अपना और पराया हित करनेके कार्योंमें सतत सावधान रहें। ८०। ८१।

मद्यपान व्यसनके दोष

प्रश्नः—**मद्यपानाद् भवेत् किं मे वदात्मशान्तये प्रभो।**

हे प्रभो! मद्यपानसे क्या हानि होगी यह कृपा कर समझाइए—

(अनुष्टुप्)

चातुर्यं प्रवरा बुद्धिर्लज्जापि मद्यपायिनाम्।
कुलजातिपवित्रत्वं नश्यति धर्मभावना ॥८२॥
स्वैराचाराः स्पृहा दुष्टा वर्धन्ते भवदुःखदाः।
त्यक्त्वेति मद्यपानादि पिबन्तु स्वात्मनो रसम् ॥८३॥ युग्मम् ॥

चातुर्यमित्यादि—तात्पर्यमेतत्—मोहोद्भ्रमजनयति तन्मद्यम्। मद्यपायिनां चित्तवृत्तिरेव दूषिता भवति। स्मृतिश्च लुप्यते। विस्मरणजनकत्वमेव मद्यस्य सौष्ठवं इति कथयन्ति मद्यपाः। यत्र स्वानुभूतकार्यस्यैव विस्मरणत्वं गुणस्तत्र प्राणिनि कुतः स्याच्चातुर्यम्। प्रवरा श्रेष्ठतमा आत्महितैषिणी हेयोपादेयविचारिणी निर्मला बुद्धिस्तत्र कथं तिष्ठेत्? सद्बुद्धेरुत्पत्तिस्तु दूरमास्ताम् सर्वसाधारणप्राणिषु पशुपक्षिषु कीटपतंगेष्वपि? भोजन-पान-शयन भोगादीनां व्यावहारिकदृष्ट्या यो विवेकः स्यात् न सोऽपि मद्यपे दृश्यते। विवेकस्याभावे तस्य निर्लज्जत्वमपि संजायते। विवेकशालिन एव लज्जा स्यात्। अविवेके कुतो लज्जा। निर्लज्जस्तु स वेश्यादिगमनं करोति। अभक्ष्यं भक्षयति। अमेध्यमपि सेवते। स्वमातर्यपि विषयसेवने प्रयतते। स्वायोग्यास्वपि वनितासु सन्तानोत्पत्तिं करोति। एवं स्वोत्कृष्टां जातिं कुलं च मलिनीकृत्य स्वैराचारी भवति। तस्य धर्मपालने भावना न

कदाचित् स्यात्। दुखप्रदायिन्यः हिंसापरिपूर्णाः कुत्सिता इच्छास्तु प्रवर्धन्ते। एवं मद्यस्य दोषान् परिज्ञाय तत् परित्यज्य ये चैतन्यरसपरिपूर्णानन्दस्वरूपस्य स्वात्मनो रसमेव पिबन्ति ते मद्यव्यसनविरक्ताः सन्तः स्वात्मसुखं अनुभवन्ति। ८२। ८३।

मद्यपान यह तीसरा व्यसन है। यह ऐसा कुव्यसन है जो आत्माकी बुद्धि पर सीधा कुठाराघात करता है। जैसे मस्तक विकृत हो जानेसे बड़ेसे बड़े बुद्धिमान् चतुर तत्त्वज्ञ पाण्डितकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है इसी प्रकार मद्यपानसे मनुष्यका चित्त विकृत हो जाता है और उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका बोध शेष नहीं रहता। मद्यपायी लोग उत्तम मद्य उसे ही मानते हैं जो सुध-बुध भुला दे। जो मद्यप थोड़ा भी होशमें रहता है मद्यप लोग उसके मद्यको हलके दर्जेका मानते हैं। जिस मद्यकी उत्कृष्टता ही अज्ञान, विस्मरण या विवेकाभावका प्रतीक है उसके सेवन करनेवाले मनुष्यमें बुद्धि चातुर्य—विवेकशालिनी बुद्धिके सद्भावकी आशा करना विकृत मस्तकका कार्य है। जैसे बालूसे तेल नहीं निकाला जा सकता वैसे ही मद्यपायी विवेकी नहीं हो सकता।

मद्यपायीको जब नशा उतरने पर होश आता है और उस समय उसे व्यावहारिक दृष्टिसे कुछ बोध होने लगता है तब ही वह उस किञ्चिन्मात्र बुद्धिका नाश करनेके लिए पुनः मद्यपान कर लेता है। होशमें रहना उसे इष्ट ही नहीं, उसे तो अनिष्ट ही इष्ट है। जिसमें आत्मविस्मृति ही गुण है वहां चातुर्य और श्रेष्ठ बुद्धिकी कल्पना या आशा करना मूर्खता है। सर्व साधारण पशु, पक्षी व कीट पतंगादि में भी खाने, पीने, सोने व विषय भोग करनेका जो ज्ञान होता है उतना भी ज्ञान मद्यपायीको नहीं रह जाता। ऐसी स्थितिमें मानवयोग्य बुद्धिकी उसमें आशा कैसे की जा सकती है।

विवेकके अभावमें लज्जा भी चली जाती है। अविवेकी लज्जित क्यों होगा? कोई बुरा काम करनेवाले व्यक्तिको उसका विवेक जागृत होने पर ही लज्जाका अनुभव होता है। पर जिसे विवेक खोनेके लिये ही मद्य पीना है उसे अपने दोष पर कभी लज्जा आयगी यह सोचा ही नहीं जा सकता। निर्लज्ज मनुष्य वेश्या सेवन, परधनापहरण, अभक्ष्य भक्षण, अपवित्र वस्तु सेवन, यहाँ तक कि स्वमातासे भी विषय सेवन जैसे निन्द्य कर्मोंको करनेमें आगा पीछा नहीं देखता। व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी संगति कर उनमें ही सन्तान उत्पन्न करता है और इस तरह अपनी जाति और कुलको कलंकित कर उसे अपवित्र बनाता है। आचार नामक वस्तु उसके लिए कुछ है ही नहीं। वह स्वैराचारी हो जाता है।

स्वैराचारी मनुष्यकी धर्मभावना नष्ट हो जाती है। क्रूर और हिंसक भावनाएं जागृत हो जाती हैं। उसकी मानसिक इच्छाएँ सदा दूषित रहती हैं। इच्छा न रहने पर भी वह अकृत्यको करता है असेवनको सेवन करता है। अगम्यमें गमन करता है। वह अपनी सदिच्छाओंको पूरा करनेके लिए स्वयं असमर्थ है। वह अपने आपमें पराधीनताका अनुभव करता है। दुखी होता है और उस पराधीनतासे छूटनेकी बार बार इच्छा करता हुआ भी उससे अपनेको छुड़ा नहीं पाता। जैसे पानीमें बहने वाले व्यक्तिको रीछ पकड़ ले तो उसे उससे पिण्ड छुड़ाना असम्भव सा जान पड़ता है। ऐसे ही नशेमें बहनेवाले इस मद्यपको भी कहीं बचनेका ठिकाना नहीं मालूम होता। वह दिन दिन घुलता है। परेशान होता है। इस दुःखसे छूटना चाहता है पर अपनी असावधानी देख फिर आत्मविस्मृतिके लिए मद्य ही पी लेता है। और इस दुर्दशासे अन्तमें मरणको प्राप्त हो दुर्गतिका पात्र बनता है। ऐसा जानकर इस व्यसनका परिहार कर और स्वात्मानन्द रसका पान कर सुखी बनना चाहिए। ८२। ८३।

प्रश्नः—**खेटक्रीडाफलं लोके किमस्तीति गुरो वद।**

हे गुरो ! खेटक्रीड़ा अर्थात् शिकार व्यसनका क्या फल है कृपाकर कहिए :—

(अनुष्टुप्)

खेटक्रीडादिलुब्धानां क्रूरता मूढताऽगतिः।
वर्द्धते पशुता दुष्टा सन्मार्गनाशिनी स्पृहा ॥ ८४ ॥

खेटक्रीडां भयाक्रान्तां ज्ञात्वेति दुःखदां सदा।
त्यक्त्वा स्वात्मपदे नित्यं रमन्तां स्वात्मशोधकाः ॥ ८५ ॥ युग्मम् ॥

खेटक्रीडेत्यादिः—तात्पर्यमेतत्, आखेटकं नाम व्यसनितया कौतुकार्थं वने वनं गत्वा पशूनां पक्षिणां वा वधः। एष व्यसनी खलु मांससेवनादिप्रयोजनतः हरिणादीन् पशून् पक्षिणश्च खड्गादिना बाणादिना अन्यायुधेन च मारयति। स्वशौर्यप्रकाशनार्थं सिंहादिक्रूरजन्तूनामपि वधं करोति तथा लोके कीर्तिसंपादनार्थं च स एतान् विनाशयति। एतदतिरिक्तं केवलं कौतुकार्थं परदुःखदायिनीं दुरिच्छां पूरयितुमपि परप्राणानपहरति। अस्मात्कुकृत्यतस्तु तस्य मनसि सन्मार्गलोपिनी असन्मार्गप्रवर्द्धिनी इच्छा वर्द्धते। पशूनां सम्पर्कात् पशुवदुष्टकार्यकरणात् तद्वदविवेकित्वेन च दुष्टा पशुता तस्य आयाति। क्रूरता वर्द्धते। कषायाणामतिमात्रतया मूढता प्रसरति। अगतिश्च भवति स तद्विना। एतत्फलमपि महद्दुःखदमस्ति। अस्मिन्नेव जन्मनि स वनजन्तूनामाहारो भवति। मृत्वा च नरके पतति। अथवा तिर्यग्गतौ द्वीन्द्रियादिषु कीटयोनिषु गत्वा सोऽन्यैर्भक्ष्यते। इत्यनेन प्रकारेण अनेकानेकदुःखदां भयाक्रान्तां एनां वधक्रीडां ज्ञात्वा त्यजेयुरेतद्व्यसनम्। तथा स्वात्मशोधनतत्परास्सन्तः नित्यं स्वात्मपदे एव रमन्ताम्। ८४। ८५।

मांसादि सेवन करनेका व्यसन जिन्हें पड़ गया है वे शिकार खेलनेकी आदत बना लेते हैं। कोई अपने शौर्य प्रकाशनकी इच्छासे, कोई अपनी समाजमें कीर्ति सम्पादनकी इच्छासे और केवल अपना शौक पूरा करनेके इरादेसे अपनी कुत्सित इच्छाओंको पूरा करनेके इरादेसे दूसरे प्राणियोंका वध करते हैं। इस कुकृत्यको करते हुए उनमें दयाके स्थानमें कौतूहल जागृत होता है। क्रूरता जागती है। एक तड़पते हुए प्राणीको देखकर सज्जनको जहाँ करुणा उत्पन्न होती है वहाँ व्यसनीको आनन्द आता है। यह आसुरी आनन्द ही क्रूरता है। यही सन्मार्गसे भ्रष्ट करानेवाली महा मूढ़ता है। हिंसक जन्तुओंकी तरह यह पशुता उसकी दिन दिन बढ़ती जाती है। प्रकारान्तरसे वह कुछ समयमें नरतनधारी होने पर भी अपने परिणामोंकी जाति द्वारा पशुसे भी भयंकर हिंसक और अविवेकी बन जाता है। इस कुकृत्यका फल परलोकमें नरकादि गतिकी प्राप्ति है। ऐसे कुमानुषका मरण इस लोकमें भी बहुधा वन जन्तुओं द्वारा ही होता है। यदि वह तिर्यग्गतिमें भी उत्पन्न हुआ तो स्वयं निर्बल होता है और दूसरे सबल प्राणियोंका भोग्य बनता है जिनको उसने पूर्वजन्ममें सताया था। द्वीन्द्रियादि जन्ममें कीटादि होकर भी वह पक्षियोंका आहार बनता है। इस प्रकार महान् भय और दुखको देनेवाले इस कुव्यसनका त्यागकर आत्मशोधकोंको स्वात्मामें ही रमण करना चाहिए। ८४। ८५।

प्रश्नः—**वेश्यासङ्गफलं किं मे वदास्ति सिद्धये गुरो।**

हे गुरुदेव ! वेश्यासङ्गका क्या फल है वह मेरे आत्महितकी दृष्टिसे कहिए—

(वसन्ततिलका)

वेश्यारतस्य शुचिता सुखदा न शान्तिः ।
बुद्धेर्बलं सुजनता नरताऽपि नश्येत् ॥
ज्ञात्वेति धर्मरसिकैर्न हि तत्प्रसङ्गः ।
कार्यो यतः खलु भवेत् विमलः किलात्मा ॥ ८६ ॥

वेश्येत्यादि :—कामातुरो पुरुषः स्त्री च परस्त्रीं परपुरुषं च सेवते । या तु व्यभिचारिणी स्त्री अभर्तृका अपि पुरीषालयवत् नगरनिवासिभिर्विटपुरुषैः सेव्यते तथा यस्या जीवनमपि अनेनैव दुष्कर्मणा संपद्यते सा वेश्या-शब्देन लोके प्रसिद्धाऽस्ति । वेश्यारतस्य शुचिता नश्यत्येव । सुखदायिनी शान्तिस्तु तत्र पदं न धत्ते । तद्व्यसनेन नरस्य बुद्धेर्बलमपि नश्यति । तस्य मानवताऽपि लुप्यते पशुता चायाति । इति ज्ञात्वा धर्मरसास्वादकैः कदापि तत्प्रसङ्गः न कार्यः । यतः तत्परित्यागेन आत्मा विमलः पापविरहितो भवेत् । ८६ ।

व्यभिचारिणी स्त्रियां जो व्यभिचार द्वारा ही अपना उदर निर्वाह करती हैं, जो बिना पतिकी होते हुए नगरके अनेक विटपुरुषों द्वारा नगरपालिकाके पुरीषालयों की भांति सेवित होती हैं वे वेश्या शब्दके द्वारा व्यवहृत होती हैं । वेश्याव्यसनी मनुष्य बहुत दुःखी होता है । सबसे प्रथम तो वेश्या अपने ग्राहकसे किञ्चिन्मात्र स्नेह न होते हुए भी अत्यन्त स्नेहका प्रदर्शन करती है जिससे वह व्यसनी जालमें मछलीकी तरह उसके जालमें फंस जाता है । वह उस जालसे अपने को फिर मुक्त नहीं कर पाता । वह अपना सर्वस्व धन, धर्म, वैभव, ज्ञान, विवेक, कीर्ति, दया, सद्व्यवहार और नागरिकता उस कुटिलाके चरणोंमें चढ़ा देता है ।

चारुदत्तकी कथा तो शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । परन्तु वेश्याव्यसनीकी बरबादीके अनेक लौकिक उदाहरण प्रत्यक्ष भी देखे जाते हैं । वेश्या अपने ग्राहकको मद्यपानके व्यसनमें फंसाए बिना नहीं रहती । मद्यपानसे उसे यह लाभ होता है कि मद्यप उसके नशेमें अपना होशहवाश खो बैठता है । चित्तभ्रम होनेसे कभी अपने भलेकी बात सोच ही नहीं पाता । यदि वह मद्यपान न करे तो अधिक संभव है कि वह कभी अपनी बरबादी, अपकीर्ति और धनकी लूट आदि हानियोंको देखकर सतर्क हो जाय और वेश्या की संगति छोड़दे । इस भयसे वेश्या उसे शराब पीनेकी बुरी आदत जरूर डाल देती है । जब वह मनुष्य शराबकी बेहोशीमें अनवरत व्यभिचार करते करते शरीरसे भी बेकाम हो जाता है, निर्धन हो जाता है तथा समाज, सज्जन गोष्ठी, परिवार और मित्र आदि सबसे वञ्चित हो दर-दरकी भीख मांगने योग्य हो जाता है तब वह वेश्या उसे घरसे इस प्रकार निकाल देती है जैसे किल्ली मृत पशुको रक्त विहीन देखकर छोड़ देती है ।

घरके लोग हिस्सा बाँट कर पहिलेसे ही उसे अलग कर देते हैं ताकि वह अपने हिस्सेका ही धन बरबाद करे सब घरका धन व आजीविका नष्ट न कर सके । वेश्या द्वारा परित्यक्त निर्धन व्यक्तिको कोई कुटुंबी आश्रय देनेको तयार नहीं होता । इतना ही नहीं, उस व्यभिचारी हीनाचारी मद्यपायीको समाजका भी कोई व्यक्ति पास बैठानेको तयार नहीं होता । उससे लोग ऐसे बचते हैं जैसे छूतकी बीमारीसे बचा जाता है । कोई धनी उससे लेन-देन व्यापारका व्यवहार नहीं करना चहता, क्योंकि वह जानता है कि इसके पास पैसा तो है ही नहीं साथ ही दुर्गुणी होनेसे यह विश्वासका पात्र भी नहीं रहा । व्यसनी होनेसे यह अधिक संभव है जो यह हमारे द्वारा प्रदत्त धनका उपयोग अपनी आजीविकार्थ न करके मद्यपानमें ही करे या फिर किसी वेश्याको दे दे ।

आजीविकाके अभावमें या तो वह लज्जाविहीन हो दर-दर भिक्षाटन करता है या फिर चोरी या द्यूत द्वारा अपना कष्ट दूर करनेका प्रयत्न करता है। वेश्या व्यसनी यदि चोरी या द्यूत क्रीड़ा द्वारा धनोपार्जन कर भी ले तो वह उसे वेश्याको ही देगा या मद्यपान करेगा। वेश्याओंके पास ऐसे ही अनेक चोर उचक्के, डाकू, शराबी और मांसभक्षी पुरुष आते जाते रहते हैं जो उसकी दुःसंगतिको छोड़नेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं।

वेश्या, कंचन और मद्य ये तीन यदि एक एक भी हों तो मनुष्यको सर्वथा अविवेकी, निर्दय, निर्लज्ज और पराधीन बना देते हैं। कदाचित् तीनोंका योग हो जाय तब तो विनाशके लिए परम औषधि, जिसे महाविष भी कहा जा सकता है, तयार हो गई ऐसा मान लेना चाहिए। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, सुख और शान्तिका अभिलाषी है उसे परिवार चाहिए, समाज चाहिए और सत्संगति चाहिए। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रहना चाहता। वह साधु भी हो जाय तो भी उसे वही समाज अपने सुख शान्तिके लिए चाहिए। फिर संसारी गृहस्थकी तो बात ही क्या है? वह तो सबसे अलग अकेला रह ही नहीं सकता। पर यह वेश्याव्यसन ऐसा है जो यह उस प्राणीको संसारमें इस जीवित अवस्थामें ही सबसे विमुक्त कराकर अकेला कर देता है। मनुष्य परिवार मित्र व समाजसे परित्यक्त हो बहुत त्रास पाता है और अन्तमें चलते चलते ऐसे मनुष्योंके संपर्कमें पहुँच जाता है जो ऐसे ही त्रस्त हो सबसे विमुक्त हैं और अनेक पापों द्वारा अपना जीवन यापन करते हैं। ऐसी संगति ही सर्वनाशकी निशानी है। किन्तु आत्मकल्याणकी कामना करनेवाले मनुष्योंको इस विनाशक व्यसनसे सदा बचना चाहिए। और जिन कार्योंमें अपना हित हो उनमें सावधान रहना चाहिए। व्यसनी मनुष्यका आत्मा दुर्गुणोंका पात्र बन जाता है अतः अपने आत्माकी पवित्रताकी रक्षाके हेतु इस महा व्यसनका दूरसे ही परित्याग करना चाहिए। ८६।

प्रश्नः—**स्तेयफलं गुरो किं वदास्ति शान्तये मुदा।**

हे गुरुदेव! चोरी करनेका क्या फल है कृपाकर शान्ति प्राप्तिके लिए मुझसे कहें—

(अनुष्टुप्)

स्ववित्तमपि मे नास्ति पुण्यलब्धं कथं परम्।
ज्ञात्वेति तत्त्वतः स्तेयं न कुर्वन्त्यात्मवेदिनः॥ ८७॥
स्वपरज्ञानशून्या हि स्तेयं कुर्वन्ति पापिनः।
ततः स्वानन्दतृप्तः सन् वसतु स्वात्ममन्दिरे॥ ८८॥

स्ववित्तमित्यादि :—यल्लोके स्ववित्तमित्युच्यते तदपि यथार्थतः पुण्याल्लब्धमस्ति। तथापि तत्परमेव। स्वात्मस्वभावबहिर्भूतं न किञ्चन अपि मम। संपत्तिः विपत्तिश्च पुण्यपापयोः फलम्। तत्तत्सामग्री कर्मसंयोगजा। कर्म एव आत्मनः शत्रुः। तेनैव भ्रमति जीवः। इत्यात्मतत्त्ववेदिनः पुरुषाः स्वीयार्जितमपि पुण्यलब्धं धनं परित्यज्य धर्मसेवामङ्गीकुर्वन्ति कथं तैः परधनापहरणरूपं स्तेयं स्यात्। स्वपरविवेकरहिताः खलु पुमांसः पापिनः स्तेयं कुर्वन्ति ततः स्तेयादिकं विहाय स्वात्मानन्दभोगेषु तृप्तः सन् स्वात्मरूपे परमविश्रामस्थले मन्दिरे वसतु। ८७। ८८।

लोकमें जो धन माना जाता है वह भी पुण्य कर्मोदयसे प्राप्त होता है। बिना पुण्य के सातोत्पादक सामग्रीका संयोग प्राप्त नहीं होता। धन यदि लौकिक सुखको उत्पन्न करता है तो पुण्यका फल है। यदि वह असाता और आकुलता प्राप्त कराता है तो पापका फल है। एकान्त नहीं है जो यह धन-संपत्ति

राज्य, परिवार, पुत्र, कलत्र सब पुण्य के फल हैं। यदि इनसे संसारी प्राणी साताका अनुभव करे तो ही ये पुण्य सामग्री हैं, अन्यथा आसाता की उत्पादक हों तो ये सब पापोदयकी सामग्री हैं। और इनसे विलग होना ही पुण्यका उदय है। सर्व साधारण मनुष्य धनादिसे अपनेको सुखी अनुभव करता है इस दृष्टिको लक्ष्यमें रखकर ही श्री आचार्य महाराजने इसे पुण्यसे प्राप्त होनेवाली सामग्री लिखा है। जंगलमें जब डाकू शस्त्र लेकर धन लूटने आते हैं उस समय यदि कोई धनी सामने आ जाता है तो वह शस्त्राघातसे पीड़ित किया जाता है पर साथमें जो निर्धन है वह छोड़ दिया जाता है। ऐसे अवसर पर धन विपत्ति लानेवाला होनेसे पापोदयकी निशानी हुई और निर्धनता पुण्यकी सामग्री हुई। नगरमें आग लग जाय तो धनीका धन महान् दुःखोत्पादक होनेसे पापकी सामग्री है और निर्धनता सुखोत्पादक होनेसे पुण्य की सामग्री है। मोक्षमार्ग साधनके लिए बाधक अनेक विकल्प जालोंमें फंसानेवाली अनिष्ट कारक विभव सामग्री पापरूप है और शीघ्र ही गार्हस्थिक जालसे विमुक्त करा देनेवाली इष्ट कारक निर्धनता पुण्य रूप है।

सारांश यह है कि कोई भी सामग्री एकान्त रूपसे पुण्य या पाप रूप नहीं है। जो संसारी प्राणीको इष्टकारक सुखसाधन हो जाय वह सब पुण्यका फल है और जो भी सामग्री अनिष्टकारक दुख साधन रूप हो वह पाप का फल है। पुण्यसे प्राप्त सामग्रीको भी सम्यग्दृष्टि अपनी वस्तु नहीं मानता। वह जानता है कि यह सब स्वात्म स्वरूप व्यतिरिक्त पर पदार्थ हैं। मेरा तो केवल आत्मा है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्रात्मक रत्नत्रयस्वरूप धर्म ही मेरा वैभव है। ऐसे विवेकी मनुष्यके द्वारा परधानापहरण रूप निन्द्य स्तेयकर्म कैसे हो सकता है।

जिन मिथ्यामतियोंको स्वपरका विवेक नहीं जागृत हुआ और जिन्होंने अभी तक आत्मतत्त्वको ही नहीं जाना वे अपने मनुष्यके जन्मको ही अपना जन्म मानते हैं, शरीरको ही अपना स्वरूप समझते हैं और कुटुम्ब परिजनको अपना स्नेहभाजन जानते हैं। उन्हें हितैषी समझकर उनसे मोह करते हैं। उनके संयोगमें सुखी और वियोगमें दुखी होते हैं। धन, संपत्ति, मकान और राज विभव आदि जो जो सामग्री उन्हें उनके कर्मोदयसे प्राप्त है उस सबमें राग द्वेषमय प्रवृत्ति करते हैं। यह अज्ञान भाव जिसके हृदयमें जमा है वे अविवेकी ही धनादिका सम्पूर्ण सुखका साधन मान उसमें मूर्च्छित होते हैं। वे उन पर पदार्थोंमें ऐसे तन्मय हैं जो उनके लाभमें अपना परम लाभ और उनकी हानिमें अपनी परम हानि समझकर महान् दुखी होते हैं। ऐसे ही मोही जीव उसकी प्राप्तिके लिए परधनापहरणरूप स्तेय पापको अंगीकार कर लेते हैं। एक बार इस पापको करनेवाला उसे बार बार करता है। चोरी उसकी आदतमें आ जाती है। बड़े से बड़ा भी वैभवशाली यदि इस व्यसनका शिकार हुआ तो वह सदा परधनपर गृद्धकी तरह दृष्टि रखता है। छटाक भर भी सौदा बेचेगा तो ४॥ तोला देगा, सेर भर देगा तो १५॥ छटाक तौलकर देगा। छटाक भर लेगा तो ५॥ तोला तौल लेगा, और सेर भर लेगा तो १६॥ छटाक तौल लेगा। उस आधे तोला सामानको, चाहे वह कौड़ी कीमतका हो, पर उसे बिना लिए नहीं रह सकता। यह इस व्यसन की महिमा है। लाखों रुपयोंका व्यवसाय करनेवाले धनी मानी इज्जतदार व्यक्ति भी एक पैसे की भाजी खरीदनेमें तौलसे ज्यादा चार पत्ते भाजी चोरीसे उठाकर अपने पल्लेमें रखते हुए देखे जाते हैं। वे भले ही दस बीस हजार रुपया दान दे देते हैं, खर्च करते हैं, किन्तु चोरीका व्यसन (बुरी लत) होनेसे वे भाजी के चार पत्तों की चोरी छोड़नेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं।

आत्मस्वरूपके बोधसे विमुख व स्व-परका भेद न जानने वाले मिथ्यादृष्टियोंकी ऐसी ही दशा है। वे बिना चोरीके जीवन निर्वाह नहीं करते। किन्तु स्व-परविवेकी सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा देन-लेन व व्यापार-व्यवहारमें यह चिन्ता रखता है कि मेरे पास अन्यायसे कोई पर वस्तु न आजाय, किसीकी एक कौड़ी भी मेरे पास न रह जाय। वह विवेकी कभी स्तेयको स्वप्नमें भी पास नहीं आने देता। वह स्वात्मानन्दके भोगमें तृप्त होकर ही जीवन यापन करता है। यही कारण है कि वह शीघ्र ही भवभ्रमणका विच्छेद कर शाश्वत मुक्ति सुखका पात्र हो जाता है। ८७।८८।

प्रश्नः—परस्त्रीसेवनस्यास्ति किं फलं मे गुरो वद।

हे गुरुदेव! परस्त्रीसेवनका क्या फल है कृपाकर मुझसे कहें—

(इन्द्रवज्रा)

रक्तोऽस्ति यः कोऽपि किलान्यनार्यां तस्यापमानोऽपि पदे पदे स्यात्।
दुःखप्रदा वैरविरोधवृद्धिः ज्ञात्वेति कार्यो न च तत्प्रसङ्गः॥ ८९॥

रक्तोऽस्तीत्यादिः—यः खलु नरकीटकः परस्त्रीषु रमते तस्य पदे पदेऽपकीर्तिःस्यात्। स लोके अपमानपदमाप्नोति उपानद्भिश्च निहन्यते। स खलु पापी स्वयं चारित्रहीनो भवति परांश्चापि पापपङ्के निपातयति। परस्त्रीसङ्गमात् वैरञ्च भवति। तस्यानादिपरम्परया प्रवाहरूपेण समायातं कुलपावित्र्यं नश्यति। अनाचारपरम्परायाः प्रवर्तको भूत्वा स नरके निपतति। आचारविरहितास्तु ये जनास्तेषां भाविनी कुलसन्ततिश्च धर्ममार्गपराङ्मुखी भूत्वा संसाराटव्यामेव भ्रमति चिरकालमिति ज्ञात्वा कदापि तत्प्रसंगः न कार्यः। स्वस्त्रीषु संतुष्य कुलाचारपावित्र्यं रक्षणीयम्॥ ८९॥

जो मनुष्य परस्त्रीमें रमण करता है या जो स्त्री पर पुरुषकी इच्छा करती है उनका पतन अवश्यंभावी है। लोकमें ये अपकीर्तिके भाजन बनते हैं। पद-पद पर उनका अपमान होता है। अनाचारकी वृद्धि होती है। कुल और आचारकी पवित्रता नष्ट होती है। यह पापी स्वयं तो गिरता ही है साथ ही परस्त्रियोंको तथा अपनी संतान परम्पराको भी पापपंकमें गिरा जाता है। व्यभिचारी माता पिताकी सन्तान हजारों वर्ष तक उनके नामका स्मरण कर रोती है तथा उनके उस दुष्कृतपर थूकती है। वह इस जन्ममें सर्वथा निरपराध और सदाचारिणी होते हुए भी पूर्व जन्मके पापोदयसे ऐसे हीन पुरुषोंकी सन्तान होकर पदपद पर दुखी और अपमानित होती है। उस अनर्थपरम्पराके उत्पादक होनेसे वह व्यक्ति अवश्य नरकका पात्र होता है।

जैसे हिंसा आदि अन्य पापोंका संबन्ध उस व्यक्तिको ही हानि पहुँचानेवाला होता है वैसे व्यभिचार केवल उस व्यक्तिको ही हानिपहुँचानेवाला नहीं है। बल्कि उसकी सन्तान परम्पराको भी उससे हानि उठानी पड़ती है। कुलका पावित्र्य संतानकी पवित्रतासे है और संतानकी पवित्रता माता-पिताके सदाचार पर है। असदाचारी माता-पिता अपने भावी कुलकी अवनति और अपवित्रताके हेतु होते हैं।

तथा व्यभिचारसे परस्पर वैर भी बढ़ता है और विरोध भी होता है। सामाजिक पवित्रता और आत्मशान्ति नष्ट होती है। वेश्याव्यसनीकी अपेक्षा यह परस्त्रीव्यसनी घोर पापी है। इसका कारण है कि यद्यपि वेश्याव्यसनीका पतन पर स्त्री व्यसनीकी अपेक्षा अत्यधिक होता है तथापि उसका पतन

उसके आत्मातक ही सीमित है। वह समाजको गंदा नहीं करता। व्यक्तिगत हानि कर स्वयंको जरूर मिटा लेता है, किन्तु परस्त्री गमन करने वाला समाजका कोढ़ है जो उसे भी मिटा करके रहता है।

सारांश यह है कि वेश्याव्यसनी अपना व्यक्तिगत पूर्ण विनाश करता है और परस्त्री व्यसन वाला अपना विनाश तो करता ही है साथ ही अपने कुलपर कलंक लगाता है। अपनी संतानको व्यभिचार जात संतान बनाता है। समाजमें अनाचार फैलानेका हेतु बनता है अतः वह अत्यधिक पातक का भाजन होता है। उक्त व्यसनका परिपूर्ण स्वरूप विचार कर विवेकी पुरुषोंको इससे सदा ही दूर रहना चाहिए। ८९।

उपसंहार

(उपजाति)

प्रोक्तं व्यथादं भवदं सदैवाविश्वासपात्रं व्यसनस्वरूपम्।
त्याज्यानि बुद्ध्वा व्यसनानि सप्त यतो भवेत्ते हृदये प्रशान्तिः॥ ९०॥

प्रोक्तमित्यादि :—इत्येवंप्रकारेण अनेकदुःखोत्पादकं सप्तव्यसनस्वरूपं नातिविस्तरेणात्र निरूपितम्। एतानि व्यसनानि अविश्वासस्य परमस्थानानि सन्ति। न कोऽपि प्रत्येति व्यसनिनः तस्मात्तत् स्वरूपं विचार्य व्यसनानां परित्याग एव कर्त्तव्यः। व्यसनपरित्यागादेव ते हृदये शान्तिर्भविष्यतीति आचार्याणामुपदेशोऽस्ति। ९०।

उक्त प्रकारसे सप्त व्यसनोंके स्वरूपका संक्षेपमें कथन किया। व्यसन कोई भी हो मनुष्यको कल्याणमार्गसे दूर फेंक देता है। लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे भी व्यसनी मनुष्य समाजका सदस्य बनने योग्य नहीं होता। वह स्वयं पतनशील होता है और उसकी दुःसंगति भी दूसरोंको पतनशील बनाती है। ऐसा विचार करके ही समाज व्यसनी मनुष्योंको जातिसे बहिर्मुख कर उसके साथ अपना खान-पान व लौकिक-धार्मिक व्यवहार आदि छोड़ देती है। यह परम्परा आज भी चालू है।

आजकल सुधारकी दृष्टिसे जाति बहिष्कार तथा धार्मिक स्थानोंका बहिष्कार अनुचित माना जाता है। कहा जाता है कि इससे व्यक्तिकी बहुत बड़ी हानि होती है। वह उठ नहीं सकता, उसका उत्थान नहीं हो सकता। यद्यपि उक्त तर्क संगत है, तदनुसार व्यक्तिके उत्थानके लिये नियमोंमें परिवर्तन करना आवश्यक है। तथापि यह ध्यान सदा रखना चाहिए कि व्यक्तिको ध्यानमें रखकर समाजके चरित्रकी चिन्ता न करना भी बहुत बड़ी हानि है। समाज व बहुमत व्यक्तिको अपनानेके लिए प्रस्तुत है पर व्यक्तिके लाभके लिए, वह भी केवल समाजमें समान हक प्राप्त हो जाय इतने मात्रके लिए, समाजकी पवित्रताका बलिदान करना लाभप्रद नहीं है। इस प्रकार स्वयंके लिये व समाजके लिए अनेक व्यथाओंके पैदा करनेवाले व्यसनोंका सब प्रकारसे त्याग करना ही श्रेष्ठतम कल्याणका मार्ग है। ९०।

इति व्यसनसप्तकनिरूपणम्।

—पाँच पापोंका स्वरूप वर्णन—

प्रश्नः—**पञ्चपापस्वरूपं मे विद्यते कीदृशं वद।**

पांच पाप कौन हैं और उनका स्वरूप क्या है, कृपया कहिए—

(६१ इन्द्रवज्रा, ६२ उपजातिः)

लोभाभिमानात्परपीडनं स्याद्धिंसैव दुष्टाऽखिलविश्वहन्त्री ।
दुःखस्य मूलं किल सर्वजन्तोर्हिंसा न कस्यापि कदापि कार्या ॥ ६१ ॥
पूर्वोक्तहिंसा किल सर्वतः स्यात् त्याज्या मुनीनां गृहिणां च देशात् ।
भव्यैर्हिंसा हि यथोक्तरीत्या निजात्मशान्त्यै सुखदा सुपाल्या ॥ ६२ ॥

लोभाभिमानादित्यादिः "परप्राणपीडनं हिंसा" हिंसायाः स्वरूपं विश्रुतम् । सा च सांसारिकस्वार्थसिद्ध्यर्थं लोभावेशात् क्रियते जनैः पंचेन्द्रियाणां विषयसंप्राप्त्यै प्रयतमानस्य कस्यचित् कार्ये यदि कश्चिद्बाधकः स्यात् तदा स लोभात् बाधकस्य प्राणिनो वधं करोति पीडयति वा । मानी वा कश्चित् स्वस्याहंकारसंरक्षणार्थं च परान् पीडयति । तद्विषयक्रोधाद्यावेशादपि प्राणिनां महती हिंसा भवति इति दृश्यते पदे पदे । सा हिंसा दुःखस्य मूलमस्ति सर्वप्राणिनाम् । यदि जगति हिंसायाः औचित्यं स्वीकृतं स्यात् तदा सा अखिलमपि विश्वं स्वरूपेण व्याप्नोति अतएव अखिलविश्वहन्त्री सा हिंसा कस्यापि प्राणिन. न कदापि कार्या । अहिंसायाः परिपालनं द्विविधं भवति सर्वतो हिंसापरित्यागरूपं मुनीनां व्रतम् । एकदेशहिंसापरित्यागरूपं तु गृहिणाम् । आत्महितैषिभिर्भव्यैः यथोक्तरीत्या स्वस्वपदानुसारेण पालनीयं तद्व्रतम् यतो निजात्मनि सुखदायिनी शान्तिः सदा स्यात् । ६१ । ६२ ।

राग और द्वेष दोनों हिंसाके पर्यायवाची नाम हैं । लोभके कारण सांसारिक स्वार्थके लिए अर्थात् पचेन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेवाले किसी व्यक्तिके मार्गमें यदि कोई बाधक सिद्ध होता हो तो वह उसे विषय लोभके कारण मार देता है,पीड़ित करता है या अनेक प्रकारसे त्रास देता है । तथा अनेक मानी पुरुष अपने अहंकारके वश होकर हिंसा करते हुए देखे जाते हैं और क्रोधादि कषायोंके कारण तो पद-पदमें हिंसा होती है यह स्पष्ट ही है ।

हिंसा दुःखका मूल है । यदि हिंसा उचित मान ली जाय तो वनमें लगी हुई अग्निकी कणिकाकी तरह वह सम्पूर्ण जगत्‌का विनाश करनेमें समर्थ है । वह सम्पूर्ण विश्वके लिए प्रलयकालका दृश्य दिखा सकती है अतः उसका औचित्य बिलकुल ही स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

अहिंसाका पालन दो प्रकारसे होता है । सम्पूर्ण हिंसाका त्याग और अल्प हिंसाका त्याग । हिंसाका जो सम्पूर्ण त्याग कर सकते हैं वे साधु या मुनि हैं और जो केवल त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग कर सकते हैं वे गृहस्थ हैं । अपनी अपनी शक्तिके अनुसार और पदके अनुसार प्रत्येक आत्म-हितैषीको अहिंसाका पालन करना चाहिए जिससे संसारमें सुख और शान्तिकी वृद्धि हो ।६१।६२।

प्रश्न :—**हिंसायाः कति भेदाः के सन्ति मे भो गुरो ! वद ।**
सर्वेषां सुखसिद्ध्यर्थं कथ्यन्ते क्रमतोऽद्य भोः ।

हिंसाके कितने भेद हैं ? हे गुरो ! कृपा कर कहें । इस प्रश्नके उत्तरमें श्री गुरु कहते हैं—हे भव्य ! सबके सुख पूर्वक ज्ञानके लिए मैं क्रमशः कहता हूँ सुनो—

(उपजातिः)

कृष्यादिवृत्तौ विहिता प्रवृत्तिरुद्योगिहिंसा कथितात्महन्त्री ।
आरम्भिहिंसाऽखिलपञ्चसूनकार्ये प्रवृत्तिर्गृहिणां व्यथादा ॥ ६३ ॥

स्वर्मोक्षमार्गादिकरक्षणार्थं नरत्वधर्मादिकशिक्षणार्थं ।
जगद्धितार्थं क्रियते गृहस्थैर्विरोधिहिंसा कथिता मुनीन्द्रैः ॥ ९४ ॥
रागादिभावादथवा प्रमादाच्चित्ताक्षतृप्त्यै क्रियते जनैर्या।
त्रसादिहिंसाखिलदुःखदात्री संकल्पिहिंसा भवबन्धिनी सा ॥ ९५ ॥
आदौ प्रगीता त्रिविधाऽपि हिंसाऽत्याज्याभवेन्मध्यमश्रावकैर्हि ।
रोगादिशान्त्यै कटुकौषधीव संकल्पिहिंसा न कदापि कार्या ॥ ९६ ॥

कृष्यादीत्यादि :—तात्पर्यमेतत् चतुर्विधा सा हिंसा भवति—(१) उद्योगिहिंसा (२) आरम्भिहिंसा (३) विरोधिहिंसा (४) सङ्कल्पिहिंसा च। स्वरूपञ्चासाम्–कृष्यादिना सेवया शिल्पेन वाणिज्येन लेखनादिकलया प्रजासंरक्षार्थं शस्त्रेण वा स्वाजीविकासम्पादनं उद्योगः स्यात्। उद्योगकारणे तु हिंसा भवत्येव। सा हिंसा गृहस्थधर्माराधकैः परिहर्तुमशक्या भवति सा **उद्योगिहिंसेति**। द्वितीया हिंसा किल गृहस्थारंभेषु कार्येषु भवति । भोजनार्थं अग्निप्रज्वालने जलादीनां संग्रहे वनस्पतिच्छेदने गृहसम्प्रमार्जने अन्नादिशोधने वस्त्रप्रक्षालने स्नानादिकर्मणि रोगादीनामुपचारे बालानां परिपालने देवादिसत्कृतौ दानादिकार्ये दीनानामुद्धरणे गृहनिर्माणादिषु अवश्यंभाविषु गार्हस्थिककार्येषु जीवसंरक्षणोद्योगेऽपि हिंसा सञ्जायते सा **आरम्भिहिंसेति**। तृतीया तु विरोधिहिंसा कथ्यते, तत्स्वरूपञ्चैतत्–स्वर्मोक्षप्रदायकेषु धर्मकार्येषु विघ्नकारकाणामेव रक्षा यदि धर्मः स्यात्तदा धर्मस्यैव लोपः स्यात्। अतस्तद्रक्षणार्थं दुर्जनानां मानवधर्मशिक्षणार्थं तथा जगद्धिताय शान्तिवर्धनार्थं या हिंसा भवति सा मुनीन्द्रैः **विरोधिहिंसा** कथिता। चतुर्थी हिंसा तु सर्वथा सर्वप्रयत्नेन परिहार्या। सा च स्यात् **सङ्कल्पिहिंसा**। तत्स्वरूपं यथा—चित्ताक्षतृप्त्यै मनोरञ्जनाय रागादिभावादथवा प्रमादात् मांसादिना रसनादीन्द्रियपरितृप्त्यर्थं च जैनैर्या त्रसादिहिंसा क्रियते सा **संकल्पिहिंसा** कथ्यते। सा हिंसा संसारदुःखपरम्परायाः हेतुः। एषा कदापि न कार्या श्रावकैरपि किं पुनरन्यैः। एतदतिरिक्तास्तिस्रः रोगादिसम्पन्ने कटुकौषधीप्रयोगवत् त्याज्या अप्यपरिहार्याः सन्ति ।९३ । ९४ । ९५ । ९६ ।

हिंसा चार प्रकारसे विभाजित की गई है—उद्योगी, आरम्भी, विरोधी और सङ्कल्पी। इन चारों का क्रमशः स्वरूप कहते हैं—१ उद्योगीहिंसा—खेती, सेवा, शिल्प कार्य, व्यापार और लेखनादि कलाके करनेमें तथा धर्म, देश व प्रजाके संरक्षणार्थ शस्त्र ग्रहण आदिके द्वारा अपनी आजीविका करनेमें जो हिंसा होती है वह सब उद्योगी हिंसा है। गृहस्थ इसे त्यागनेमें असमर्थ रहते हैं, क्योंकि गृहस्थोंके लिए आजीविका मुख्य प्रश्न है। गृहस्थका धर्म सृष्टिका पालन, संरक्षण और धर्मात्माओंकी सेवा करना है। यदि गृहस्थ निरुद्योगी हो जाय तो उक्त सभी कार्य नहीं हो सकते। गृहसम्बन्धी उद्यम न करनेवाला व्यक्ति या तो साधु हो सकता है, या दर-दरका भिखारी। सारांश यह है कि इस हिंसाका त्याग गृहस्थ नहीं कर सकता। २ आरम्भी हिंसा—गृहस्थीके कार्योंमें जैसे रसोई बनाना, पानी भरना, घर बनाना, घरकी स्वच्छता, वस्त्रोंकी स्वच्छता, शरीरकी स्वच्छता, साग सब्जी बनाना, जमीन खोदना, रोगीकी परिचर्या करना, देवपूजा, गुरुका सम्मान, आहारादि दान, पशुपालन, गरीबोंकी रक्षा और बच्चोंका परिपालन इत्यादि कार्योंमें भी हिंसा होती है, किन्तु यह हिंसा गृहस्थके लिए अपरिहार्य है। वह उसका परित्याग करनेमें असमर्थ है। यद्यपि व्यापार और आरंभके कार्य गृहस्थ दयवान् होकर जीवोंकी हिंसाका बचाव करते हुए देखभाल करही करेगा, क्योंकि ऐसा करना उसका कर्त्तव्य है तो भी कुछ ऐसे जीव हैं जिनकी हिंसा बचाते बचाते भी हो जाती है।

गृहस्थका यह साधारण कर्त्तव्य है कि प्रत्येक कार्य करते समय जीव दयाका ध्यान रखे। मार्गमें चले तो मार्गको देखता हुआ चले और यह ध्यान रखे कि किसी जीवधारी पर मेरा पैर न पड़ जाय। किसी वस्तुको उठावे या रखे तब भी यह ध्यान रखे कि इनके नीचे कोई जन्तु न आजाय। सोना बैठना, मल-मूत्रका त्याग करना, थूकना, वस्त्र प्रक्षालन और शरीर प्रक्षालन आदि जितने गार्हस्थिक आरंभके कार्य बताए हैं उन सबमें वह जीव रक्षाका सतत ध्यान रखता है।

आजीविकाके साधनभूत उद्योग-धंधोंमें भी वह यह ध्यान रखता है तथा ऐसे धंधोंको छोड़कर वह अल्प सावद्यवाले धंधोंको तलाश कर उन्हें स्वीकार करता है। भले ही उनमें आर्थिक लाभ न्यून हो पर वह अपनी लोभ वृत्तिको कमकर सन्तोषवृत्तिको स्वीकार करके अपना कर्त्तव्य परम धर्म "जीवदया" का पालन करता है।

असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन षट् कर्मो द्वारा आजीविका करनेका उपदेश भगवान् श्री ऋषभ देवने युगके प्रारंभमें दिया था और जिन जिन लोगोंकी जैसे कर्मोंके करनेमें प्रवृत्ति थी उनका वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंमें विभाग किया था। जिन लोगोंने इन षट् कर्मों को छोड़कर पापोपहत वृत्तियां स्वीकार कर लीं। जैसे मछली मारना,पशु पक्षियोंका घात कर मांस बेचना, मांस खाना, मद्य बनाना, मद्य बेचना और उसका पान करना आदिके विषयमें भगवान् मौन रहे और उनको शूद्रोंकी सबसे निम्न श्रेणीमें सम्मिलित किया और इनका 'अकारु' नाम रखा। इनको किसी भी धार्मिक या सामाजिक व्यवहारके योग्य उन्होंने नहीं माना। इस सबका उल्लेख श्री आदिपुराणमें हैं। सारांश यह निकला कि प्रत्यक्ष हिंसा स्वरूप कार्योंसे या असदाचारके कार्योंसे आजीविका करना अत्यन्त निन्द्य है। वह ऐसे उद्योगमें या आरंभमें सम्मिलित नहीं है जिसे श्रावक स्वीकार कर सके। जिन कार्योंमें वह अपने प्रिय धर्म 'जीवदया" का पालन कर सकता है, उन कार्योंको ही आजीविकाके लिए स्वीकार करता है और उनमें जो हिंसा बचाव करते हुए भी हो जाती है उसे वह त्याग नहीं सकता किन्तु इसके लिए वह दुःखी होता है और उसका प्रतिक्रमण द्वारा पाप विशोधन करता है। ३ तीसरी हिंसा विरोधी हिंसा है। यह हिंसा भी गृहस्थ द्वारा अपरिहार्य है। पूर्वोक्त दोनों हिंसाओंकी तरह इसे भी गृहस्थ त्यागनेमें असमर्थ है। जिस तरह उद्योग और आरंभमें जीवदयाका ध्यान रखते हुए भी हिंसा हो जाती है, ऐसे ही धर्म पालनके कार्यमें, गृहस्थीके परिपालनमें, बालबच्चोंके संरक्षणमें और गार्हस्थिक कार्योंके लिए सञ्चित द्रव्योंके रक्षणमें हिंसा हो जाती है, क्योंकि किसीको भी सताने या कष्ट देने की इच्छा न रखते हुए भी क्वचित् कोई दुष्ट विघ्न उपस्थित कर देवे तो उससे बचना और विघ्नको दूर करना उसका कर्त्तव्य है। ऐसा करते हुए संभव है विरोधीको पीड़ा हो जाय, उसका अंगभंग हो जाय या बाधा उपस्थित हो जाय तो गृहस्थ इसके लिए भी लाचार है। ऐसी हिंसा विरोधी हिंसा है।

विरोधीहिंसा यद्यपि बहुत बड़ी हिंसा है तथापि वह गृहस्थके लिए अपरिहार्य है। सर्व साधारण प्रजाजन यद्यपि अपने ऊपर आनेवाली विपत्तिको दूर करनेके लिए राज्याश्रय ग्रहण करता है और न्यायालयमें उस अपराधीके लिए कारागृहमें बन्द कराने या अन्य प्रकारका दण्ड दिलानेका प्रयत्न करता है तभी उक्त प्रकारसे वह निर्विघ्न होकर अपना धर्म पालन कर सकता है। ऐसा होनेपर भी जो सब साधारण प्रजाजनोंके संरक्षक हैं, राजा हैं, या राज्याधिकारी हैं और सैनिक हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे प्रजाका संरक्षण करें। शिष्ट अर्थात् सज्जन की सहायता और दुष्ट अर्थात् दुर्जनको दण्ड इन दोनों

कार्योंके बिना कभी राज्य सञ्चालन नहीं हो सकता। राजाका यही एक प्रधान कर्त्तव्य है। दुष्ट लोग प्रजामें अशान्ति उत्पन्न करें, उनकी खेती नष्ट करें, उनके पशु चुरा लें, उनका द्रव्य (धन) चुरा लें, उनकी स्त्री बच्चोंका अपहरण करें, उनके धर्मस्थान ध्वंस करें, धर्मात्माको सतावें, अहिंसकों पर अत्याचार करें सदाचारी शान्त प्रजा को उद्विग्न करें तो राजाका और राज्याधिकारियोंका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उन दुष्ट आततायी लुटेरोंका तथा ऐसा अन्याय करनेवाले दूसरे राष्ट्रों का सामना करें और उन्हें हर प्रकार से रोकें ताकि वे उक्त उपद्रव कर अशान्ति न पैदा कर सकें। इस रोक थाममें अनेक उपाय काममें लाए जाते हैं पर उनमें जब सफलता नहीं मिलती और दुष्ट अपने मार्ग पर बढ़ते जाते हैं तब उनके रोध करनेमें उनकी हिंसा भी हो जाती है। यह हिंसा विरोधी हिंसा है। इसका परित्याग भी गृहस्थ कभी नहीं कर सकता। यह हिंसा सङ्कल्पी हिंसा कदापि नहीं है। सङ्कल्पी हिंसामें निरपराध जीवोंका घात होता है जब कि विरोधी हिंसावाला एक चींटीको भी संकल्प पूर्वक नहीं मारता। जो निरपराध एक चींटीको भी नहीं मारता वह निरपराध अन्य प्राणियोंको क्यों सतायगा? पर सापराधको वह दण्ड देता है और शान्त धर्मात्माओंकी रक्षा करता है। ऐसा करने में यदि सापराधकी मृत्यु भी हो जाय तो वह उसकी चिन्ता नहीं करता।

विरोधीहिंसावाले जीवका लक्ष्य हिंसा नहीं है। बल्कि अन्य आततायियों द्वारा फैलाई जाने-वाली महान् हिंसाका प्रतिरोध उसका लक्ष्य है। यदि गृहस्थ विरोधी हिंसा से परहेज करे तो वह शान्तिसे धर्मका परिपालन नहीं कर सकता। जिन दुष्टोंको धर्म-कर्मका न्यायान्यायका और कर्त्तव्याकर्त्तव्यका कुछ भी विचार नहीं है। दूसरोंको सताकर उनका स्वत्वापहरण ही जिनका एकमात्र उद्देश्य है और जो दूसरोंका घात करके भी अपनी विषयवासनाओं और जघन्य स्वार्थोंको सिद्ध करना चाहते हैं वे न्यायवान् शान्त और धार्मिक प्रजाको पनपने नहीं देसकते। उनकी प्रमुखता में सर्वत्र अशान्ति, कलह, लूट, फूट, मारपीट, अन्याय, असदाचार, तथा हिंसाका ही प्रसार होगा और सर्वप्रजाजन दुःखी होंगे। इस महान् उपसर्गको दूर करनेके लिए, सुखशान्तिकी वृद्धिके लिए, धर्ममार्गको अक्षुण्ण रखनेके लिए, अहिंसकोंको प्रोत्साहित करनेके लिए और सदाचारकी वृद्धिके लिए दुष्टोंका निग्रह करना गृहस्थका धर्म हो जाता है। उत्तम उद्देश्यकी पूर्तिका साधन होनेसे विरोधी-हिंसा गृहस्थके लिये कर्त्तव्य होजाती है।

यदि गृहस्थ अपने पदानुकूल उक्त कर्तव्यको पूरा न कर सके तो उसे समस्त विषय वासनाओंका परित्याग कर देना चाहिए। वह न स्त्री परिग्रहका अधिकारी है और न संतानोत्पत्तिका अधिकारी है। उसे समस्त आरंभ उद्योग छोड़कर वीतराग हो साधुपना स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि वह अपनी वासनाओंका त्याग नहीं कर सकता और दुष्टके निग्रहमें भी हाथ नहीं बटाता तो वह स्वयं अशान्तिका मूल है। उसे कोई भी लौकिक या पारलौकिक सिद्धि नहीं हो सकती। वह राष्ट्रके लिए भार है। प्रजाकी अशान्तिका कारण है। देशकी पराधीनता और भ्रष्टताका बीज है। वह स्वयं भ्रष्टाचारी है और भ्रष्टाचार का पोषक है। ऐसे लोग समय पड़ने पर शिष्टका साथ न देकर दुष्टके ही साथी बन जाते हैं, अतः ऐसे लोगोंको भी सन्मार्ग पर लगानेका प्रयत्न करना राज्यका व राज्याधिकारीका कर्त्तव्य हो जाता है। उक्त कार्योंमें हिंसा होना अनिवार्य है और वह ही विरोधी हिंसा है जिसका त्यागी गृहस्थ नहीं हो सकता।

गृहस्थ चौथी सङ्कल्पी हिंसाका अवश्य त्यागी होता है। मारनेकी इच्छासे ही किसी भी प्राणीको मारना सङ्कल्पी हिंसा है। इस सङ्कल्पी हिंसाकी सीमा बहुत बड़ी है। संकल्पी हिंसासे जीविका करना

उद्योग या आरंभ नहीं है। पूर्वोक्त सभी कार्योंमें हिंसा हो जाना एक बात है जो गृहस्थके लिए क्षम्य है, इसाके द्वारा उक्त कार्योंको साधना बिलकुल दूसरी बात है जो गृहस्थधर्ममें अक्षम्य है। इसका खुलासा यह है कि मछली मारनेका व्यवसाय, मद्य बनाने व वेचनेका व्यवसाय, मांस बेचना, हड्डी व चमड़ेका व्यवसाय, अंडे बेचना, मेंढ़क और केचुओंका अचार बनाकर बेचना, वेश्यवृत्ति द्वारा धन पैदा करना, या अन्य प्रकारकी व्यभिचार प्रवृत्ति द्वारा धन पैदा करना, डाका डालनेका व्यवसाय, धोखा, विश्वासघात दूसरोंको जाल में फसाकर धनोपार्जन करना ये सब पापोपहत वृत्तियाँ हैं जो त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसा हैं, या उनके कारण हैं, अथवा उसके कार्य हैं। अतः सर्वथा परित्याज्य हैं।

अपनी विषयवासनाओंकी पूर्तिके लिए दूसरोंको सताना, न्यायमार्गका उलंघन कर द्रव्य कमाना, ये सब संकल्पी हिंसाके रूपान्तर हैं। जब कि दूसरोंकी रक्षाके लिए, शान्तिके बढ़ानेके लिए, धर्मात्माओंकी रक्षाके लिए और अहिंसा और सत्यको जीवित रखनेके लिए हिंसाका हो जाना अपरित्याज्य है, कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यकी पूर्तिमें जो हिंसा हो जाती है वह गृहस्थधर्मके प्रतिकूल नहीं है, किन्तु त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसा गृहस्थधर्मके लिए सर्वथा प्रतिकूल है।

संकल्पी हिंसा वह है जो हिंसाकी जाती है, तथा विरोधी, उद्योगी और आरंभी हिंसा वह है जो हिंसा उक्त कार्योंमें गृहस्थसे हो जाती है, की नहीं जाती। जो की जाती है उसका त्याग शक्य है और जो हो जाती है उसका त्याग शक्य नहीं है। उसके भी त्यागकी इच्छा रखनेवाले महापुरुषको गृहस्थ पदका त्याग करना होगा। और अपनी विषय वासनाओंका परित्याग करना होगा। तब वह गृहस्थ मार्गसे दूर महापुरुष होगा और जगतका उद्धारक होगा। ऐसे ही महापुरुषोंने गृहस्थोंके लिए, जो सम्पूर्ण हिंसाका त्याग नहीं कर सकते, उक्त प्रकारसे धर्मका और कर्तव्यका निर्देश किया है।

जैसे रोगी कड़वी औषधि पीना नहीं चाहता पर उसे रोगसे बचनेके लिए पीना पड़ती है, वैसे ही गृहस्थ आदिमें वर्णित तीनों हिंसाओंसे बचना चाहता है पर वह अपने पदस्थयोग्य निर्वाहके लिए उनसे बच नहीं पाता, फिर भी सतत बचनेके प्रयत्नमें रहता है और यथाशक्ति सोचसमझकर और देख सुनकर ही प्रत्येक कार्य करता है। ९३। ९४। ९५। ९६।

(उपसंहार)

समस्तविश्वस्य विबोधनार्थं हिंसाप्रभेदाः कथिताः क्रमेण।
पूर्वोक्तभेदान् स्वपदानुसारं श्राम्यंति भक्त्या परिपालयन्तु ॥ ९७॥

समस्तेत्यादि :—इत्येवमुक्तप्रकारेण हिंसाप्रभेदा हिंसायाः भेदाः श्रीमदाचार्येण समस्तविश्वस्य विबोधनार्थं विश्वकल्याणकामनया क्रमेण कथिता वर्णिताः। पूर्वोक्तभेदान् तेषां हिंसाभेदानां स्वरूपं ज्ञात्वा स्पष्टतया परिज्ञाय अहिंसाव्रतं स्वपदानुसारं स्वस्वपदानुसारेण भक्त्या परिपालयन्तु निरतिचारं यथा स्यात् तथा स्वपरकल्याण-मिति। ९७।

पूर्वोक्त श्लोकों द्वारा हिंसाका विस्तृत स्वरूप तथा उसके भेद प्रभेदोंका प्रतिपादन श्रीमदाचार्य कुन्थुसागर महाराजने श्रीभगवान् महावीर स्वामी द्वारा सदुपदिष्ट और आगम परम्परा द्वारा प्राप्त संक्षेपमें किया है। इन हिंसा भेदोंका स्वरूप समझ करके अहिंसा व्रतका परिपालन अपने अपने पदानुसार साधु, ऐलक, क्षुल्लक, प्रतिमाधारी व साधारण गृहस्थ श्रावकोंको करना चाहिए। निरतिचार, निर्दोष व्रतका परिपालन स्वपर कल्याणकारक है। ९७।

प्रश्न :—सत्यव्रतस्वरूपं मे विद्यते किं गुरो वद ।

हे गुरुदेव ! अहिंसाव्रतके परिपालनके लिए हिंसाका स्वरूप और उसके भेदोंका स्वरूप समझ लिया । अब सत्यव्रतके स्वरूपका प्रतिपादन कीजिए —

(वसन्ततिलका)

सत्यं मितं हितकरं सुखदं सुवाच्यं ।
श्रीदं वचः प्रियकरं मदमानमुक्तम् ॥
वाच्यं न वैरजनकं हि मिथो व्यथादं ।
भ्रान्तिप्रदं विपदि वाऽपि तदेव सत्यम् ॥ ६८ ॥

सत्यमित्यादिः—अहिंसाव्रतपालकस्य वचनमपि परहितकारकं सत्यं भवितव्यम् । किंतत्सत्यमिति प्रश्ने सत्याह—यत् वचनं सर्वजीवानां सुखदं भवति कल्याणकारकं भवति, यच्च श्रवणे सति प्रियकरं स्यात् तत्सत्यम् । यच्च मदमात्सर्याविश्वासघातादिदोषपरिमुक्तं तत्स्यात्सत्यम् । यच्छ्रोतुः हितकरं स्यात् तत्सत्यमस्ति । यत्किल भ्रान्तिरहितं निर्भ्रान्तरूपेण तत्त्वस्वरूपप्रतिपादकं वचनमस्ति त सत्यमिति । यच्छ्रुत्वा श्रोतुः परस्परं वैरं कलहो वा न स्यात् तत्सत्यमिति । यन्न स्यात् कस्यचिदपि व्यथाकारकं तत्स्यात्सत्यमिति । सत्याभिलाषिणा परिमितमेव वाच्यम्, अतिमौखर्येण वक्तव्ये तद्वचनमसत्यं भवति । यदि परिमितं हितकरं वचनमपि कस्यचित् अहितकरं स्यात् विपदे वा स्यात् तर्हि तस्य हिताय विपन्निवारणार्थं तद्विपरीतमपि वचनं सत्यमेव इति सत्यस्वरूपं परिज्ञाय तदेव सुवाच्यम् । ६८ ।

अहिंसा व्रतको परिपालन करनेवाला जिस प्रकार अपने मनको पवित्र रखकर अपने कर्तव्यको पालन करनेके लिए निर्दोष कार्योंको ही करता है वैसे ही उसे सत्यभाषी होना चाहिए । सत्य क्या है ? यह एक बड़ा प्रश्न है । इसकी अनेक व्याख्याएँ की जाती हैं । दर्शन शास्त्रकी दृष्टिसे तो जैसाका तैसा कहना सत्य है । पर यह सत्य व्यवहारके लिए सर्वथा अनुकूल नहीं पड़ता । क्वचित् कदाचित् वह निन्द्य और कलह कारक हो जाता है । जैसे, किसी एक आंखवाले मनुष्यको काना, एक खराब पैरवालेको लंगड़ा, झगड़ा करनेवालेको झगड़ालु, और असद् व्यवहार करनेवालेको बदमाश इत्यादि शब्दोंका प्रयोग दार्शनिक दृष्टिसे ज्योंका त्यों वर्णन है अतः सत्य है, तथापि श्रोताको दुःखदायक व्यथा उत्पन्न करनेवाला होनेसे वह कथन कलह या वैर करा देता है । लोकमें भी ऐसा माना जाता है कि यह व्यक्ति जो ऐसा बोलता है बड़ा मूर्ख और उद्धत है । उसे बोलनेकी भी सभ्यता नहीं है ।

धार्मिक दृष्टिसे ज्योंका त्यों बोलना भी सत्य है और कहीं पर वह सत्य नहीं भी है । सत्यकी व्याख्या धर्मशास्त्रमें इस प्रकार की है । जो वचन जीवोंको सुनने पर सुखदायक हो वह सत्य है । जो परिणाम में कल्याण कारक अर्थात् हितकर हो वह सत्य है । जो श्रोताको श्रवण करने पर प्रिय हो अप्रिय न हो वह सत्य है । जो वचन विनयपूर्वक दूसरेके सम्मान की रक्षा करनेवाला हो वह सत्य है । जो वचन अपने अहंकारका पूरक न हो वह सत्य है । जो वचन सुननेवालोंमें वैर या कलहको पैदा न करे वह साथ है । जिस वचन से श्रोताओंके हृदयको खेद न हो वह सत्य है । जिस वचनसे श्रोता भ्रममें न पड़ जाय वह सत्य है । जो वचन निरर्थक अति प्रलापसे रहित परिमित शब्दोंमें हो वह सत्य है । जो वचन किसीको पापमें प्रवृत्त न कराकर धर्म मार्गमें लगावे वह सत्य है । जो वचन आगम परम्पराके अनुकूल हो वह सत्य है । जो वचन हिंसा कारक या हिंसोत्पादक न हो वह सत्य है । जो वचन किसीको मिथ्यामार्ग या कुमार्गमें न ले जाय वह सत्य है । जो वचन श्रोताको सद्धर्ममें स्थापित करे वह सत्य है ।

उक्त प्रकारसे सत्यके अनेक रूप बनाए गए हैं। इतना होनेपर भी जिस वचनसे किसीको विपत्ति आ जाय, अकल्याणकारक हो, भ्रांति दायक हो और कलह उत्पन्न करा दे तो वह ज्यों का त्यों होकर भी सत्य वचन न होकर अप्रशस्त और निन्द्य वचन है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है। अतः सत्यासत्यका स्वरूप जानकर असत् वचनका त्यागकर सत्य वचनका प्रयोग करना चाहिए। ९८।

प्रश्न :—**अचौर्यव्रतचिह्नं किं वर्त्तते मे गुरो वद।**

हे गुरो! अचौर्य व्रत क्या है? कृपया उसका स्वरूप कहिए—

(इन्द्रवज्रा)

त्यक्तं वने वा पतितं श्मशाने क्वौ स्थापितं स्वात्मन एव बाह्यम्॥
ग्राह्यं ह्यदत्तं भवदं न वस्त्वचौर्यव्रतं तत्सुखदं सदा स्यात्॥ ९९॥

त्यक्तमित्यादि :—परद्रव्यपरिग्रह एव चौर्यमिति चौर्यस्य सुनिश्चितं लक्षणमस्ति। ये साधवस्तु एतल्लक्षणानुसारेण गृहादिकं परिवारवर्गं धनादिकं च परित्यज्य निर्वस्त्रं निःसंगमेन देहस्नेहरहितं वने वसन्तः स्वात्मनो निधिं परिशीलयन्ति ते खलु परिपूर्णरूपेणैव अचौर्यव्रतपालकास्सन्ति। ये तु श्रावकास्तथाकर्तुमशक्तास्ते गृहवासनिरता अपि लौकिकव्यवहारदृष्ट्या यद्द्रव्यम् अपरस्य कस्याप्यधिकारे वर्त्तते न तद् गृह्णन्ति। तत्कस्यापि द्रव्यम् स्वल्पमूल्यं महार्घं वा स्यात् अदत्तं न कदापि गृह्णन्ति। यः क्वौ पृथिव्यां वने श्मशाने वा पतितं केनचित् स्थापितं वा स्वात्मनो बाह्यं आत्मसम्बन्धगन्धशून्यं वस्तु धनादिकं सुवर्णादिकं वस्त्रादिकं वा द्रव्यं न हरति न च अदत्तं परेभ्यः न ददाति सोऽचौर्याणुव्रती भवति। यत्किल प्रत्यक्षरूपेण चौर्यं नास्ति तदपि परद्रव्यापहरण-लक्षणाक्रान्तत्वाच्चौर्यमेव। यथा—अकृत्रिमेषु वस्तुषु कृत्रिमवस्तुमिश्रणात् तथा आकृत्रिमाणि चैतानि इति ज्ञाप-यित्वा तेषाममहार्घेण अकृत्रिमवस्तुनस्समानमूल्येन विक्रयणं क्रयार्थं मानोन्मानप्रमाणमधिकं विक्रयार्थञ्च हीन-प्रमाणम्मानोन्मानादिकं च चौर्यमेव। राज्याधिकारिणां दृष्टिवञ्चनेन क्रयकरादीनां चौर्यमपि चौर्यमेव। आयकरा-दीनां राज्यकराणां लोपनं अथवा करद्रव्यस्याप्रदानभावेन मिथ्याभाषणं सदपि असदिव असदपि सदिव लेखनं इत्यादि सर्वमपि मिथ्याप्रवञ्चनेन वञ्चनम् चौर्यमेव। तत्सर्वमपि चौर्यं त्याज्यमेव व्रतिना इत्येवं प्रकारेणाचौर्यव्रत ग्रहणं सदा सुखदम्भवति। चौर्यं च सदा भवपरम्पराकारकम्भवतीति ज्ञातव्यम्। ९९।

जैन सिद्धान्तमें पर द्रव्यका ग्रहण ही चौर्य है ऐसा चोरीका बहुव्यापक लक्षण है। इस लक्षणके अनुसार अचौर्य व्रतका परिपूर्ण पालन करनेवाले साधुजन घर, कुटुम्ब व धनादि द्रव्य इन सबका परित्याग कर नग्न देह ही वनमें देहके स्नेहसे रहित होकर विचरते हैं। वे सब पर द्रव्योंसे अपनेको पृथक् अनुभव करते हुए एकान्त वनमें केवल आत्मनिधिको, जिसे उनकी आत्मा अनादिसे भूली हुई थी, खोजनेका प्रयत्न करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मेरा आत्मा ही मेरा द्रव्य है, मेरे आत्माके असंख्यप्रदेश ही मेरा निवासस्थल है। आत्मासे विभिन्न कोई दूसरा आत्मा या दूसरे निर्जीव पदार्थ मेरे नहीं हैं। मेरा मैं ही हूँ, दूसरा पदार्थ दूसरा है, वह मेरा कदापि नहीं हो सकता। यह पृथिवी या आसमान मेरा निवास स्थल है यह उपचार है, क्योंकि मेरे साथ न पृथिवी जाती है और न आसमान मेरे साथ चलता है। मेरे आत्माके असंख्य प्रदेश ही सदा मेरे पास हैं, और उनमें ही रहता हूँ, वे ही मेरे निवासस्थान हैं। मेरे ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, शक्ति, आनन्द, क्षमा, सरलता, विनयशीलता, सत्यता, पवित्रता और अकिञ्चनता ये मेरे गुण हैं, वे ही मेरी निधियाँ हैं। इनमें ही मेरे सब सुखोंका भण्डार भरा है। ये सब मेरे भाव हैं। इनपर किसीका स्वत्व नहीं है। गृहादिक,

सुवर्णादिक, भूमि आदिक व अन्न, वस्त्र, सोना, चांदी, मणि, माणिक्य, दासी और दास आदि सर्व पर हैं, मेरे नहीं। ये सब मेरे स्वरूप से और मेरी सत्ता से सर्वथा भिन्न हैं। अतएव इनका किञ्चिन्-मात्र भी ग्रहण चोरी है, महान् पाप है। मेरी आत्मपरणतियोंका सुन्दर परिवर्तन ही मेरी उन्नति है और उनका पर पदार्थोन्मुखी परिवर्तन ही मेरी अवनति है। परपदार्थ अर्थात् धनादिक या गृहादिक या कुटुम्बादिककी दृष्टिसे मेरी उन्नति और उनकी न्यूनता मेरी अवनति नहीं है, क्योंकि वे पदार्थ पर हैं, मेरे नहीं हैं। मेरी सत्तासे विभिन्न पदार्थोंकी उन्नति ही मेरी उन्नति है। ऐसा मानना मिथ्यात्व है तथा चोरी है। इस प्रकारसे आत्मनिधिकी खोज करनेवाले और उसमें ही तल्लीन रहनेवाले देहके स्नेहसे रहित निःसंग साधु परम अचौर्य व्रतके परिपालक हैं।

जो गृहस्थ हैं, ऊपर लिखे सत्यार्थ विचारों और तन्निहित सत्य तत्त्वों पर जिनकी परिपूर्ण श्रद्धा है, किन्तु अपनी कमजोरीके कारण जो परिगृहीत परपदार्थोंको अपना पदार्थ न मानते हुए भी परित्याग करनेमें अशक्त हैं, परमुखापेक्षी हैं, वे इस महान् अचौर्य व्रतका परिपालन यथार्थतया नहीं कर सकते। तथापि लौकिक व्यवहारदृष्टिसे स्वोपार्जित द्रव्यको अपना अधिकृत द्रव्य मानकर उससे ही अपना निर्वाह करते हैं और परकीय द्रव्यको विषतुल्य मानकर सर्वथा अग्राह्य समझते हैं। वे गृहस्थ एकदेश अचौर्यव्रतके आराधक हैं। गृहस्थ लौकिक नीतिके विरुद्ध परकीय स्वल्प या महार्घ द्रव्यको अत्यन्त कष्टकी अवस्थामें भी बिना स्वीकृतिके नहीं लेगा। यदि वह विपद्ग्रस्त होगा और स्वोपार्जित द्रव्यसे काम चलता नहीं देखेगा तो अन्यसे भिक्षा लेकर, अपना स्वाभिमान खोकर व अपमान सहकर भी निर्वाह कर लेगा, पर परद्रव्यका अपहरण कदापि स्वीकार नहीं करेगा। क्योंकि यह महान् अपराध है।

परकीय द्रव्य या जो स्वकीय नहीं है, वह उसके लिए कितना ही उपयोगी क्यों न हो। यदि वह मार्गमें पड़ा हुआ दिख जाय, उसका कोई स्वामी दृष्टिगोचर न हो, या कोई भी वहाँ देखनेवाला न हो तो भी उसे श्रावक ग्रहण नहीं करेगा। यदि किसी विशेषस्थल जैसे नदीका घाट, बाग-बगीचा, कूपका पनघट, धर्मशाला, मन्दिर या अन्य कोई विश्रामस्थल क्लब आदिमें कोई अपनी वस्तु भूल जाय तो उसे भी अचौर्यव्रती ग्रहण नहीं करेगा। यदि किसी स्थान पर कोई स्वद्रव्य स्थापित कर अन्यत्र चला गया है तो उसे भी अचौर्यव्रती ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकारसे वे सब कार्य जो प्रत्यक्षमें चोरी नहीं कहे जासकते पर जिनमें परद्रव्यापहरणकी भावना व तदनुकूल कृति विद्यमान है चौर्य लक्षण सहित होनेसे चौर्य ही हैं जैसे—

अल्पमूल्यके कृत्रिम पदार्थ बहुमूल्यके अकृत्रिम पदार्थोंमें मिलाकर बहुमूल्य लेकर बेचदेना चोरी ही है। खरीदनेके लिए बड़े बड़े नाप तोलके मापक रखना और बेचनेके लिए थोड़े नाप तौलके मापक (सेर, तखरिया, मन, पंसेरी, और गज आदि) रखना। ताकि बेचनेमें थोड़ी वस्तु देकर भी पराया बहुत सा माल आजाय। राज्याधिकारियोंकी दृष्टि बचाकर मालका चुंगी कर या अन्य प्रकारका सरकारी कर बिक्रीकर, आयकर, और यातायात कर बचालेने का प्रयत्न करना, बिना टिकट यात्रा करना, बिना कर चुकाए सामान रेलवे मोटर आदिसे लेजाना, यह सब चोरी ही है। अथवा उक्त अभिप्रायोंकी सिद्धिके लिए मिथ्याभाषण करना, मिथ्या गवाही देना तथा झूठे कागज बहीखाता, नकल, बीजक व बिल्टी आदि बनाना यह सब जाल करना चोरी ही है।

अन्य पुरुषोंकी दृष्टि बचाकर द्रव्य लेना जैसे चोरी है वैसे ही जबरदस्ती-ज्यादतीसे, दबावसे व प्रभावसे भी परद्रव्यापहरण चोरी है। त्रास देनेका भय, अधिकार प्रयोगका भय, अधिकार छीननेका

भय, जीविका नष्ट कर देनेका भय, कार्य बिगाड़ देनेका भय, उचित और न्यायसंगत होने पर भी सहायता न देनेका भय, शस्त्राघातका भय, गुप्त बात प्रकट कर देनेका भय, पाप या चोरी प्रकाशन कर देनेका भय इत्यादि भय दिखाकर भी किसी महाजनका, नौकरी करने वालेका, पापीका, चोरका, निर्बलका, दीनका और दरिद्रका धन लेलेना भी चोरी ही है।

इस प्रकारसे किसी भी आड़ी टेढ़ी क्रियाओंसे दूसरेको सताकर उसके परिश्रमके द्वारा कमाए हुए धनको नैतिक उपायोंको छोड़कर अन्य उपायों द्वारा ले लेना चोरी है। बल्कि यह कहना अधिक ठीक होगा कि यह न केवल चोरी है बल्कि डाका है। चोरी तो जिसका द्रव्य है उसकी अज्ञानकारीमें छिपकर की जाती है पर ऐसा करने पर भी चोरी करनेवाला भयभीत होता है और समझता है कि मैं चोरी कर रहा हूँ। पर अनैतिक तरीकोंसे उसे दबाकर या भय दिखाकर जो धन ग्रहण किया जाता है वह चोरीका सरताज डाका है।

साहूकार, राज्याधिकारी, पूँजीपति, रईस, जमीनदार, राजा और महाराजा तथा इनके सब सहायक अमात्य, सेनापति और सैनिक इत्यादि यदि नैतिक धर्मसम्मत उपायोंको उपयोगमें ला तो ही वे उक्त पदके अधिकारी हैं। यदि वे भी अनैतिक और धर्मबाह्य उपायों द्वारा अपनी प्रजासे, मजदूरोंसे और गरीबोंसे धन लेलेते हैं तो वे भी अत्यन्त शक्तिशाली डाकू ही हैं। वे कभी चौर्यके पापसे नहीं बच सकते। सबसे बड़ी चोरी यही है या ऐसा कहा जा सकता है कि चोरीकी यह अन्तिम सीमा है। अतएव अत्यन्त पापदायक है। वह नरक निगोदवासका निश्चित कारण है।

इस प्रकार चौर्यका स्वरूप समझकर जो उससे दूर रहते हैं उनकी भव परम्परा नष्ट हो जाती है अर्थात् वे दुःख परम्परासे मुक्त हो जाते हैं। और यही उनका सुखदायक अचौर्यव्रत है।९९।

प्रश्नः—**ब्रह्मचर्यव्रतचिह्नं किं मे वदास्ति भो गुरो।**

हे गुरुदेव ? ब्रह्मचर्य व्रतका क्या स्वरूप है, कृपाकर कहें।

(उपजातिः)

त्याज्या स्वकीया ललना यदि स्यात् कथापरासां वद काऽस्ति लोके।
पूर्वोक्तिरीतिर्यदिवास्त्यसाध्या त्याज्या परस्त्री स्वपरात्मशान्त्यै ॥ १०० ॥

त्याज्येत्यादि :—तात्पर्यमेतत्—स्त्रीपरिग्रहः रागपरिणामेनैव भवति ? रागादयस्तु स्वात्मविकारा एव। यतः स्वात्मस्वरूपविरोधिनश्चैते रागादयः। एतैरेव संसारस्य परम्परा प्रवर्तते, दुःखपरम्परा चोत्पद्यते। शुना कृत-मस्थिचर्वणं यथा तस्य मुखादेव रक्तस्रावणमुत्पाद्य रक्तास्वादं जनयति, तथैव स्त्रीपरिग्रहणेऽपि पुंसः पुरुषग्रहणमपि स्त्रियः स्वकीयरजः प्रस्रवणाभ्यां स्वस्वशारीरिकशक्तिनाशकाभ्यां स्वात्मपवित्र्यरोधकाभ्यां सङ्गमस्वादं जनयति। इत्येवं प्रकारेण स्वशरीरनाशमेव सङ्गमसुखमन्यमानास्तु मोहिनस्स्वात्महिताद् दूरतरमेव प्रयान्ति। न तेषां कल्याण-म्भवति। कामवेदनया एवं स्त्रीपुमांसौ परस्परम् इच्छतः। वेदना तु मोहकर्मोदया। कर्मोदयात् क्रियमाणा क्रिया नियमादेव बन्धस्य कारणम्भवति कर्मबन्धस्तु संसारदुःखस्य मूलमिति। लौकिकदृष्ट्याऽपि कामक्रिया निर्लज्जताया एव लक्षणं प्रोच्यते न हि कश्चित् लौकिकोऽपि सन्नागरिकलोकः प्रत्यक्षपूर्वकमेव कामक्रियां कर्तुं समर्थोऽस्ति। यत्करणे खलु साधारणजनानामपि लज्जा वर्तते तत्खलु पापमेवेति सुनिश्चितम्। कामवेदनां जेतुमसमर्था अपि लौकिकजनाः परिगृह्यापि पत्नीं लज्जापूर्वकमेव प्रच्छन्नरूपेणेच्छन्ति। जानन्ति ते सर्वेऽपि सन्तानोत्पत्त्या यदेतानि

कामफलानि, तथापि न तत्क्रियां प्रकटरूपेण कर्तुं समर्था भवन्ति। कुर्वन्तोपि परस्त्रीपरिग्रहं वेश्यासङ्गमञ्च केचित् मोहिनो न निर्लज्जाः सेवन्ते किन्तु लज्जयैव प्रच्छन्नरूपेण सेवन्ते। सिद्धमेतेन यत् कामस्य कथाऽपि पापमेव। तत्कथा कारकाणामपि लोके भर्त्सना भवति यल्लज्जारहिताश्चैते विटाः। कामनासनया एव सन्तानपरम्परा प्रवर्तते, सन्तानपरम्परा च संसारः, संसारस्तु दुःखस्यहेतुर्भवति प्राणिनां, इतिस्त्री परिग्रह एव पापमितिसिद्धम्। एतज्ज्ञात्वा स्वस्त्रीमपि परित्यज्य स्वात्मन्येव रमन्ते योगिनस्त एव धन्याः निष्पापास्ते सद्य एव निर्वान्ति दुःखैर्मुच्यन्ते ते। ये किल हतबलाः मानसिकदौर्बल्येन कामाग्निना दग्धास्तैरपि विचार्य स्वस्त्रीपरिग्रह एव कार्यः। कदाचित् स्वप्नेपि परवनितासङ्गमेच्छा न कर्त्तव्या। वेश्यासङ्गस्तु दूरत एव परिहरणीयः। परस्त्रीसङ्गमेन स्वयमपि चौर इव अशान्तो भवति निन्द्यो भवति, दण्डनीयो भवति राज्यापराधी च गण्यतेऽसौ, व्यभिचारिणः सन्तानोत्पत्तिर्भवति। इत्येतैरपराधैर्महद्दुःखोत्पादकं तत्। स्वस्याप्यशान्तेः कारणं परस्यापि। इत्येवंप्रकारेण स्वपरात्मशान्त्यै परस्त्री-सङ्गमं परित्यज्य स्वस्त्रीमात्रसन्तुष्टस्य श्रावकस्य चतुर्थं ब्रह्मचर्याणुव्रतम्भवति।१००।

स्त्रीका ग्रहण रागपरिणामोंसे होता है। रागादि परिणाम आत्माके विकार भाव हैं। आत्म-स्वभावकी प्राप्तिके ये विघ्नकारक हैं। इनसे संसारकी और दुःखकी परम्परा बढ़ती है। काम भोगके द्वारा सुखानुभव करनेवाले मोही स्त्री पुरुष कुत्तोंके द्वारा किए गए हड्डीके चर्वणके तुल्य अपने ही रजवीर्यके प्रस्रवणसे, जो उनके शारीरिक बलका नाशक है और आत्मपावित्र्यका घातक है, अपनेको सुखी मानते हैं। जैसे कुत्तोंको यह ज्ञान नहीं है जो सूखे हाड़ोंसे यह रक्त नहीं आता जिसे चाटकर मैं प्रसन्न हो रहा हूँ, अपि तु यह मेरे ही मुखसे निकलनेवाले रक्तका स्वाद है जो हड्डीके संघर्षसे क्षत विक्षत हो निकलने लगा है, उसी प्रकार कामवेदनासे पीड़ित स्त्री पुरुष परस्परके सङ्गमके सुख स्वादमें यह भूल जाते हैं कि यह क्षणिक सुख हमारे ही शक्ति ह्रासका मूल हेतु है और अपने विनाशमें ही सुखका स्वप्न देख रहे हैं। कालिदास कविकी कथा है कि वह वृक्षकी जिस डाली पर बैठा था उसीको जड़से काट रहा था और प्रसन्न हो रहा था, ऐसे ही ये मोही प्राणी जिस शरीरकी डाल पर बैठे हैं और जिसके आधार पर उनका जीवन है उस शरीरकी जड़ भूत स्ववीर्य और रजका विनाश कर प्रसन्न होते हैं और इतने पर भी कभी अपनी हानिका विचार तक नहीं करते। ऐसे मोही प्राणीके लिए स्वात्महितकी वार्ता बहुत दूर है।

कामकी वेदना ही उन्हें इस मूर्खता पूर्ण कार्यके लिए बाधित करती है। यह वेदना कर्मोदय जनित है। मोह कर्मके उदयसे संसारके प्राणिमात्र इससे पीड़ित हैं। कर्मोदय जनित क्रिया नियमसे कर्मबन्धका हेतु है। कर्मबन्ध ही संसारके दुःखोंका और परम्पराका मूल है। पारमार्थिक दृष्टिसे तो यह वस्तु स्वरूप है जो निःसंदेह है। लौकिकदृष्टिसे भी यदि इस पर विचार किया जाय तो भी यह महा पाप है। कोई भी उत्तम नागरिक इस क्रियाको स्पष्ट रीतिसे लोगोंके प्रत्यक्षमें नहीं कर सकता। ऐसा करना निर्लज्जता होगी। जिस कामको करनेमें साधारण जन भी लज्जाका अनुभव करें वह क्रिया उपादेय कैसे मानी जाय। उत्तम, मध्यम या साधारण जनोंको छोड़ दीजिए, पर स्त्रीसंगम करनेवाले धूर्त और वेश्या संगम करनेवाले महा पापी भी तथा स्वयं व्यभिचारसे पेशा करनेवाली वेश्याएं भी इसे गुप्त रूपसे ही एकान्तमें करते हैं, प्रत्यक्ष रूपेण इसे करनेमें उन्हें भी अत्यन्त लज्जाका अनुभव होता है। सन्तानोत्पत्ति कामके ही फल हैं ऐसा जानते हुए भी सभी जन सन्तानकी इच्छा करते हुए, उसमें सोत्साह होते हुए और संतान होने पर उत्सव मनाते हुए भी काम भोगकी क्रियाको प्रच्छन्न ही करते हैं। जिसे करनेमें लज्जा आवे, जिसकी चर्चा दूसरेसे करनेमें लज्जा आवे वह सुनिश्चित पाप है ऐसा लौकिक जन भी मानते हैं। कामभोग सन्तानका

हेतु है और संतान परम्परा ही संसार है तथा संसार प्राणियोंके लिए दुःखका हेतु है इस प्रकार दुखका हेतुभूत कामभोग ही सर्वथा त्याज्य है। ऐसा जानकर जो ज्ञानी पुरुष स्वस्त्रीका भी परित्याग कर स्वात्मामें ही रमण करते हैं वे जीव धन्य हैं। ऐसे महापुरुष ही परिनिर्वाणको प्राप्त हो स्वात्मोत्थ अनंत सुखको भोगते हैं।

जो निर्बल पुरुष कायरताके कारण अपनी मानसिक दुर्बलता पर विजय नहीं पा सकते और कामाग्नि द्वारा जले हुए स्त्री परिग्रह की इच्छा करते हैं उन्हें परवनिताका सङ्गम स्वप्नमें भी न करना चाहिए और वेश्या सङ्गम की तो कल्पना भी भयानक अनर्थ परम्पराका हेतु है। वे धर्मसाक्षी पूर्वक पाणिगृहीत स्वपत्नीमें ही संतुष्ट हों। स्वस्त्री परिग्रही पुरुष लोकमें प्रामाणिक माना जाता है। वह अनेक अनर्थोंसे बचा रहता है। वह अपने गृहमें सुखी और शान्त रहता है। जब कि परस्त्रीसेवी चोरकी तरह सदा अशान्त रहता है। लोकमें वह निन्दाका पात्र होता है; उसकी अपकीर्ति होती है, राज व पञ्च दण्डको प्राप्त होता है, व्यभिचारी सन्तानोत्पत्तिको बढ़ानेवाला होता है। उक्त प्रकारके दुखोंको प्राप्तकर वह स्वयंके लिए और परजीवोंके लिए भी महान् अशान्तिका कारण हो जाता है।

उक्त दुष्कृतिके कारण रावण विश्वव्यापी महायुद्धका कारण बना। जिसकी शास्त्रोंमें निन्दा गाई है और लौकिक जन तो आज भी उसकी मूर्ति बनाकर उसका अति अपमान करते हैं व बध करते हैं। मद्यके नशेकी तरह परस्त्री सेवी पुरुष भी उस व्यसनके नशेमें फंस जाता है और नशेमें मोहित हो स्वपर कल्याणके मार्गसे सर्वथा दूर हो अपना और पराया अकल्याण इस लोकमें तो करता ही है साथ ही अपने अगले अनेक जन्मोंको भी बिगाड़ लेता है ऐसा विचारकर परस्त्री और वेश्यासङ्गका परित्यागकर स्वस्त्री मात्रमें संतुष्ट होना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। १००।

प्रश्न :— **सङ्गत्यागस्वरूपस्य किं चिह्नं मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव परिग्रह त्याग व्रतका क्या स्वरूप है, कृपाकर मुझसे कहें—

(इन्द्रवज्रा)

बाह्योऽतरङ्गो भवदोऽस्ति संगो ज्ञात्वेति मुक्त्वा द्विविधं ततस्तम्॥
तिष्ठेत्स्वभावे यदि स्वात्मनो वा सङ्गव्रतं तस्य भवेत्पवित्रम्॥१०१॥

बाह्येत्यादि:— स्वात्मव्यतिरिक्तपदार्थासक्तिरेव परिग्रहः। स द्विविधः अन्तरङ्गो बाह्यश्च। स्वात्मनो विकारास्तु मिथ्यात्व क्रोध मान-माया लोभ नवनोकषायरूपाश्चतुर्दशसंख्याकाः अन्तरङ्गसङ्गाः। बाह्यस्तु क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन धान्य-दासी दास-कुप्य भाण्डरूपेण दशविधः। असौ द्विविधोऽपि सङ्गो भवदो भवदुःखकारकः इति ज्ञात्वा यः स्वात्मनः स्वभावे तिष्ठति तस्य पवित्रं सङ्गत्यागव्रतं भवति। यस्तु सम्पूर्णरीत्या उभयसङ्गं परित्यक्तुमसमर्थोऽस्ति सोऽपि यथायोग्यं परिग्रहान् परिमाय परिमितमेव स्वीकृत्य शेषाणां परित्यागं करोति तस्य पञ्चममणुव्रतं स्यात्। १०१।

अपनी आत्मासे भिन्न पदार्थोंका ग्रहण ही परिग्रह ग्रहण हैं। वह परिग्रह दो प्रकारका है—अन्तरङ्ग और बाह्य। आत्माके विकारस्वरूप भाव जैसे—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये १४ अन्तरङ्ग परिग्रह है और खेत, मकान, सोना, चांदी, रुपया, अन्न, नौकर, नौकरानी, वस्त्र, कपड़े ये दश बाह्य परिग्रह हैं। इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंको

पापदायक कुसङ्ग समझकर जो छोड़ देते हैं वे परिग्रह त्याग महाव्रती हैं और जो सम्पूर्ण रीतिसे उभय परिग्रहोंको छोड़नेमें असमर्थ हैं वे यथायोग्य अपनी आवश्यकताओं को कम करते हुए परिग्रहका प्रमाण करते हैं और परिमितमें अपना जीवन निर्वाह करते हुए शेष सब परिग्रह का त्याग करते हैं वे परिग्रह परिमाणाणुव्रती माने गये हैं ॥ १०१ ॥

—उपसंहार—

(अनुष्टुप्)

पञ्चाणुव्रतचिह्नं हि प्रोक्तमेवं शिवप्रदम् ।
पालयन्तु सदा भव्याः स्वान्यात्मशान्तये मुदा ॥ १०२ ।

पञ्चेत्यादिः—एवमुपर्युक्तप्रकारेण पञ्चाणुव्रतचिह्नं पञ्चपापानामेकदेशत्यागरूपमणुव्रतपञ्चकं प्रोक्तमाचार्यश्रीकुन्थुसागरेण । तत्खलु परम्परया शिवप्रदमस्ति । स्वान्यात्मशान्तये स्वात्मानः परेषामपि शान्तिमिच्छन्तो भव्याः सदा तत्पञ्चाणुव्रतं मुदा पालयन्तु ॥ १०२ ॥

ऊपर वर्णित प्रकारसे परम्परासे मोक्षसुख प्रदान करनेवाले पञ्च महापापों के एकदेश परित्यागरूप पञ्चाणुव्रत जो गृहस्थ श्रावकोंके योग्य हैं वर्णन किए गए हैं । जो जीव अपना कल्याण चाहते हैं तथा परोपकारकी इच्छा रखते हैं उन्हें इनका बड़े प्रेमसे परिपालन करना चाहिए ।

पाप करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने लिए दुःखोत्पादक है बल्कि वह परिवार, कुटुम्ब, जाति, समाज, प्रान्त व देश यहां तक कि संसारका शत्रु है । अशान्ति उत्पन्न करनेवाला है अतएव स्व-पर हानिकारक महान अशान्तिके हेतु इन पांचों पापोंका त्यागकर अणुव्रतोंका पालन करना चाहिए ।१०२।

इत्यणुव्रतस्वरूपं वर्णितम् ।

— अष्टमूलगुणनिरूपणम्—

प्रश्नः—**श्राद्धमूलगुणानां तु किं चिह्नं मे गुरो वद ।**

हे गुरुदेव ! जिनेन्द्रोक्त तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा रखने पर भी श्राद्ध (श्रावक) को आत्महितकारक वस्तु तो चारित्र है, अतः चारित्रमें मूल व्रत क्या हैं, कृपया कहें—

(अनुष्टुप्)

मद्यमांसमधूनां हि सेवनं स्पर्शनं तथा ।
न कार्यं दुःखदं निन्द्यं श्रावकैर्धर्मवत्सलैः ॥ १०३ ॥

सदा प्राणिसमाकीर्णं वटादिफलपञ्चकम् ।
न भक्ष्यमिष्टसिद्ध्यै च तन्मूलव्रतमिष्यते ॥ १०४ ॥ युग्मम् ॥

मद्येत्यादिः—श्रद्धावतः श्रावकस्य कल्याणार्थञ्चारित्रमुक्तम् । चारित्रञ्च तत् सर्वदेशपापपरित्यागरूपं एकदेशपापपरित्यागरूपञ्चेति द्विविधम् । प्रथमं तावत् दिगम्बराणाम् । तत्स्वरूपं तु प्रागेव मुनिधर्मप्रदीपे ग्रंथे श्रीमदाचार्येण प्रोक्तम् । यथार्थतया सर्वपापपरित्यागरूपमनगारव्रतमेव चारित्रम् । तदेवोत्सर्गमार्गः । यो लोके राजमार्गः प्रोच्यते । तद्धारणेऽशक्तानां तु एकदेशपापपरित्यागरूपं श्रावकव्रतमस्ति । नासौ उत्सर्गः किन्तु अप-

वादमार्ग एव। अनगारव्रतहेतुत्वात्तस्यापि व्रतत्वमायाति। सागारस्य मूलव्रतानि—यन्मद्यमांसमधूनां वट पिप्पलोदुम्बर-काष्ठोदुम्बर-पाकरफलानाञ्च परित्यागः। एतेषां परित्यागं विना न कोऽपि श्रावकसंज्ञां प्राप्नोति। चारित्र-मन्दिरस्य प्रथमसोपानञ्चैतन्मूलव्रतमस्ति। दयाधर्माराधकाः खलु श्रावकाः मद्यादीनामासेवनन्तु तावद् दूरतरमेवास्ताम् तत्स्पर्शनमपि निन्दनीयमस्ति इति मन्यन्ते। परिपाककाले हिंसाया खलु फलम्महद्‌दुःखमेवास्ति इति ते जानन्ति। वटादिफलपञ्चके बहुजीवास्सन्ति सदा चोत्पद्यन्ते। तद्भक्षणे तेषां हिंसावश्यं संजायते। एतद्विचार्य धर्मवत्सलैः कदापि न सेवनीयं मद्याद्यष्टकम्। अभक्ष्याणि चैतानि सदा दयापरैः।१०३।१०४।

श्रद्धावान् श्रावकका कल्याण केवल श्रद्धामात्रसे न होगा अपने कल्याणके लिए उसे जिनोक्त उस सन्मार्ग पर जिसकी उसने श्रद्धा की है चलना भी होगा, इसे ही चारित्र कहते हैं।

यह चारित्र पञ्च पाप परित्याग रूप है। सम्पूर्णतया पञ्च पाप परित्याग रूप व्रत महाव्रत है। यह दिगम्बरत्वको स्वीकार करनेवाले परम निस्पृही वीतराग निःसङ्ग साधु पुरुषों द्वारा ही साध्य है। यह विधेय मार्ग है जिसे राजमार्ग भी कहते हैं। जो हीन पुरुषार्थी पुरुष इस परम कल्याणकारक मार्गको पालन करनेमें असमर्थ हैं उनके लिए एकदेश पाप परित्याग रूप यह श्रावकोंका अणुव्रत है। यह अपवाद मार्ग है। मुनिमार्गका निरूपण मुनिमार्गप्रदीप नामा ग्रंथमें आचार्य श्री कुन्थुसागर महाराजने किया है। श्रावकधर्मका वर्णन इस ग्रन्थमें किया जा रहा है।

श्रावकके चारित्रमें मूलव्रत ८ हैं।—मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग तथा बड़, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर इन पांच क्षीर फलोंका त्याग ये आठ मूलव्रत हैं। इन आठ मूलगुणोंको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टिको श्रावक संज्ञा प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। मूलके अभावमें जैसे वृक्षमें शाखाएँ, फल-पत्र-निरर्थक है, ऐसे ही मूलव्रतके अभावमें उत्तरव्रतोंकी कल्पना भी निरर्थक है। चारित्ररूपी मन्दिरकी यह पहली सीढ़ी है। इस पर चढ़े विना कोई चारित्रमन्दिरमें प्रवेश नहीं कर सकता।

दया धर्मके आराधक श्रावक इन मद्यादि पदार्थोंका सेवन तो बहुत दूर की बात है स्पर्शन करना भी पाप समझते हैं। मांसका भक्षण महान् क्रूर कर्म है। मद्य चित्तभ्रमको उत्पन्न कर अनेक पापोंको प्रोत्साहित करता है। मधु मधुमक्खियोंका मक्षिन खाद्य है, जिसके खानमें उन मधुमक्खियोंके साथ ही उस खाद्य रूप मधुमें उत्पन्न होनेवाले मक्षिका जातीय असंख्य निकोत जीवोंकी हिंसा अनिवार्य है। इस प्रकार महान् हिंसा पापके उत्पादक इन मकारत्रयका स्पर्शन भी दया धर्माराधक श्रावकके लिए निन्द्य है। उत्तर कालमें इसके सेवनका फल अत्यन्त दुःखप्रद है।

बड़ आदि फल भी बहुतसे जीवित जीवोंके स्थान हैं। वे प्रत्यक्ष भी दीखनेमें आते हैं और असंख्य-जीव ऐसे हैं जो दीखनेमें नहीं आते। इनको खानेमें इनकी हिंसा सुनिश्चित है। यह भी अत्यन्त क्रूर कर्म है। ऐसा विचार कर धर्मके इच्छुक इनका कदापि सेवन नहीं करते। इन आठोंका त्याग ही आठ मूल गुण या आठ मूल व्रत कहलाता है। ये आठों सर्वथा अभक्ष्य हैं।१०३।१०४।

प्रश्न :—**अभक्ष्य वस्तुत्यागस्य हेतुः को विद्यते वद।**

आठ पदार्थों को ऊपर अभक्ष्य कहा गया है। सो हे गुरुदेव! अभक्ष्य क्या है? उनके त्यागका क्या हेतु है? उनका त्याग क्यों करना चाहिए। इनके सिवाय भी अभक्ष्य और होते हैं क्या? हैं तो कौन कौन हैं? कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

तुच्छफलाद्यभक्ष्याणां दयाधर्मप्रणाशिनाम् ॥
भक्षणं स्पर्शनञ्चापि न कार्यं भवभीरुभिः ॥ १०५ ॥
तच्चलितरसं वस्तु न भक्ष्यं व्याधिवर्धकम् ॥
पूर्वोक्तविधिसाध्यात्स्याद्धि लोके शान्तिदा मतिः ॥ १०६ ॥ युग्मम् ॥

तुच्छेत्यादि :—यन्न भक्षणीयं स्यात्तदेवाभक्ष्यम् । यद्भक्षणे त्रसजीवानां घातः स्यात् तदभक्ष्यमित्येकम् । यद्भक्षणे बहूनां स्थावरजीवानां घातः स्यात्तद्द्वितीयं भक्ष्यम् । यत्किल मोहञ्जनयति चित्तं भ्रामयति तच्छेवसनमपि न करणीयम् । तत्करणं तु तृतीयमभक्ष्यम् । यद् भक्ष्यमपि उच्चकुलीनैर्धर्माधिरूढैर्महापुरुषैर्नभक्ष्यते तद्भक्षणमपि चतुर्थमभक्ष्यम् । यच्च भक्ष्यमपि स्वशरीरप्रकृतिविरुद्धं रोगोत्पादकं रोगाद्यवस्थायामपथ्यकारकमस्ति तद्भक्षणमपि दोषास्पदमेव व्रतिनामस्ति इति पञ्चविधमस्ति । ग्रन्थान्तरे प्रसिद्धानि द्वाविंशतिसंख्यकानि तु अभक्ष्याणि पूर्वोक्त-कारणैरेव त्याज्यानि सन्ति । यदि द्वाविंशतिसंख्यातो बहिर्भूतानि अपि वस्तूनि अभक्ष्यलक्षणैर्लक्षितानि स्युस्तदा तान्यपि अभक्ष्याणि इति निश्चेतव्यम् । तुच्छफलेषु सप्रतिष्ठतत्वं वर्तते तस्मादनन्तस्थावरप्राणिविघातो भवति तद्भक्षणे । बदरीफलादिषु च तुच्छफलेषु त्रसजीवानामपि स्थानानि सन्ति न तु अतितुच्छफलानां शोधनम्भवितुमर्हति तस्मात् कारणात् दयाधर्मविनाशकाना तेषां भक्षणं स्पर्शनञ्च भवदुखभीरुभिः श्रावकं न कर्त्तव्यमिति । स्वप्राकृतिक-स्वादतः चलितस्वादानामपि वस्तूनां भक्षणं न कर्त्तव्यम् । तदपि नानात्रसजीवानाम् योनिः । अतः भक्ष्यमपि वस्तु यदा स्वादतः विचलितं स्यान्न तदा भक्षणीयं तत् । इति पूर्वोक्तविधिना अभक्ष्यभक्षणत्यागात् दयाधर्मसंरक्षणात् शान्तिप्रदायिनी बुद्धिरुत्पद्यते । १०५ । १०६ ।

जो पदार्थ खानेके अयोग्य है वह अभक्ष्य है । खानेके अयोग्य पदार्थ पांच कारणोंसे होते हैं । (१) जिनके खानेमें त्रस जीवोंका घात हो । जैसे—पञ्चोदुम्बरफल, रात्रिमें निष्पन्न भोजन, मक्खन, (मर्यादा बाहिर) मधु, बरफ, द्विदल, बेंगन, अचार इत्यादि ।

(२) जिनके खानेमें बहुतसे स्थावर जीवोंका घात होता हो जैसे—कन्दमूल, बहुबीजा, कोंपल, बालअवस्थावाले फल इत्यादि सप्रतिष्ठित वनस्पतियाँ ।

(३) जिनके खानेसे चित्तमें भ्रम पैदा हो, नशा चढ़े, उन्मत्तता बढ़ जाय, पागलपन आ जाय । जैसे—मदिरा, गांजा, भांग, तम्बाखू, अफीम आदि ।

(४) जो उच्च कुलीन धर्मात्मा व्रती पुरुषों द्वारा सेवन नहीं किए जाते हैं वे पदार्थ चौथे प्रकारके अभक्ष्य हैं । लोकविरुद्ध पदार्थका भक्षण लोकनिन्द्य होता है । जैसे—लहसुन, प्याज आदि । यद्यपि ये जमीकन्द होनेके कारण भी अभक्ष्य हैं तथापि लोकविरुद्ध भी हैं । जो जमीकन्दका त्याग नहीं किए वे भी उनका भक्षण कुलीन होनेके नाते नहीं करते हैं । देश भेदसे इसमें भेद पड़ जाता है । जिस प्रान्तमें जो पदार्थ शुद्ध होने पर भी लोकनिन्द्य हो वह व्रतीको सेवन नहीं करना चाहिए । अजानफली भी इसी श्रेणीमें है ।

(५) जो पदार्थ शुद्ध होने पर भी रोगोत्पादक हो या रोगावस्थामें अपथ्यकारी हो या सहज ही प्रकृतिके विरुद्ध पड़ता हो वह पदार्थ भी अभक्ष्य है । इसके भक्षण करनेसे मनुष्य रोगी होने पर धर्म कर्मसे विहीन हो जाता है । संक्लेश परिणाम होते हैं, अतः हेय है । दूसरी बात यह है कि शरीरमें

रोग होने पर अनेक रोगोंके कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। शरीरमें कभी भी विकार हो जीवाणु अर्थात् सूक्ष्म जीव अनन्त उत्पन्न हो जाते हैं और उनका मरण भी अवश्यंभावी है। अतएव ऊपरके ४ कारणोंसे रहित शुद्ध भी पदार्थ अहितकर, अपथ्य और रोगोत्पादक होनेके कारण हिंसाका हेतु है अतः अभक्ष्य है।

जिन २२ अभक्ष्योंको ग्रन्थान्तरोंमें वर्णित किया है वे सब इन पांच कारणोंमेंसे किसी कारण से ही अभक्ष्य हैं। जो पदार्थ अपने सहज परिणमनसे भ्रष्ट होकर सड़ने लगता है वह स्वादसे विचलित हो जाता है। ऐसे **स्वाद चलित** पदार्थमें असंख्य त्रस राशि उत्पन्न हो जाती है, अतः वह कदापि **भक्ष्य नहीं हो सकता**। भले ही वह उक्त पांचों कारणोंको बचाकर अत्यन्त शुद्ध रीतिसे ही क्यों न निष्पन्न किया गया हो। **विष आदि पदार्थ** भी इसी तरह **हेय** हैं जब कि मारक हों। अर्थात् उनसे जीवन रक्षा न होकर जीवननाश हो। जो उक्त पांच अभक्ष्यके कारणोंसे रहित हैं और मारक शक्तिसे रहित होकर जीवनप्रदायिनी शक्तिको प्राप्त होकर औषधि रूप हो गए हैं वे अभक्ष्य नहीं हो सकते हैं।

जो पदार्थ अशोधित हों वे भक्ष्य होने पर भी उस अवस्थामें अभक्ष्य हैं; कारण सचित्तत्व होनेकी अर्थात् त्रस सहित होने की उनमें संभावना है। बेरका फल, मकोय आदि छोटे छोटे फल जो फोड़कर नहीं खाए जा सकते या ऐसी वनस्पति या साग जिसे फोड़कर शोध नहीं सकते वे भी अभक्ष्य की श्रेणीमें गर्भित हैं। जो पदार्थ देखनेमें जीव जन्तुके आकारके हैं, अर्थात् त्रस जीवके विशिष्ट आकारके हैं, जिनके खानेमें खानेवालेके चित्तमें ऐसी ग्लानि पैदा हो जाती है कि इसका खाना अमुक प्राणी को खाने जैसा लगता है या मांस समान दीखता है। इस प्रकार उसमें यदि अभक्ष्यका संकल्प आ जाय तो वह भी पदार्थ अभक्ष्य है।

अभक्ष्य भक्षणसे बुद्धि भ्रष्ट होती है। दयाधर्म नष्ट हो जाता है। क्रूरता उत्पन्न हो जाती है। लोभादि कषायोंका प्राबल्य हो जाता है अतः शान्तिके इच्छुक धर्मात्माओंको अभक्ष्यके भक्षणका त्याग करना चाहिए। इस तरह श्रावकके आठ मूलगुण बताए गए हैं। १०५। १०६।

मूलव्रतातिचारवर्णनम्

प्रश्न :—व्रतातिचारकाः पञ्चोदुम्बरस्य के ते प्रभो।

हे प्रभो! पांच उदम्बर फल त्याग रूप व्रतको पालनेवाला जिस प्रकारसे अपने व्रतको निर्दोष पालन कर सके, इसके लिए उस व्रतके अतिचारोंका वर्णन करिए। वे कितने और कौन कौन हैं—

(अनुष्टुप्)

यावद्येषां फलानां तु गुणधर्मो न ज्ञायते॥
न तावद् भक्षणं तेषां कार्यं तत्त्वार्थवेदिभिः॥ १०७॥
फलानामपि चान्येषां कृत्वा चूर्णञ्च छेदनम्॥
ज्ञात्वा जीवांस्ततस्त्यक्त्वा कार्यं पश्चाद्धि भक्षणम्॥ १०८॥
त्रसजीवसमाकीर्णं फलं सेव्यं न तत्त्वतः।
अतीचारविमुक्तं हि श्लाघ्यं तस्य व्रतं भवेत्॥ १०९॥ विशेषकम्॥

यानि फलानि खलु व्रतिनोऽपरिचितानि सन्ति। यावद् येषां भक्ष्यत्वाभक्ष्यत्वविषये निर्णयो न जातस्तावत्तेषां भक्षणं दोषास्पदमेव। स्वस्यापि प्राणातिपातस्तस्मात् संभवति। तस्मादपरिचितं फलं न भक्षणीयम्। अन्येषामपि फलादीनाञ्चूर्णं वटिकाद्यपि औषधं जीवरहितावस्थायामेव भक्ष्यं स्यात् अतः शोधितं भक्षणीयम्। त्रसादिजीव-

समाकीर्णानि अन्यान्यपि फलानि न भक्षणीयानि। बदरीफलादीनां शोधनेऽपि जीवानां संभावना भवति अतः न भक्षणीयम्। एवं विचारपूर्वकं व्रतमेव श्लाघ्यं भवति अतिचारैश्च विमुक्तं भवति। १०७। १०८। १०६।

जिस फलको व्रती पुरुष भक्ष्य है या अभक्ष्य ऐसा निर्णीत नहीं कर सकते वह कभी भक्ष्य नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषको वह कभी नहीं खाना चाहिए। उस प्रमादसे अभक्ष्य भक्षणमें आ सकता है। बिना जाने हुए फलको खानेसे खुदका भी मरण या रोगादिक का होना संभव है।

एवं और भी फल आदि वस्तुएँ जो सुखा ली जाती हैं और जिनके टुकड़े टुकड़े करके रख लिए जाते हैं या चूर्ण या गोली बनाकर औषधिके काममें लाए जाते हैं उन सबको अशोधित खाना दोषास्पद है। शोध कर ही निर्जीवावस्थामें उनका सेवन करना चाहिए। त्रसजीव संयुक्त बेर, मकुइया, जामुन और अचार आदि अभक्ष्य ही हैं। बेर आदि शोधनीय हो भी जाय तो भी उनमें त्रस जीवोंकी संभावना है। अतः अभक्ष्य ही हैं। इस प्रकार विचारपूर्वक भोजन करनेवाले पुरुषका व्रत ही निरतिचार और प्रशंसा योग्य होता है। १०७।१०८।१०६।

प्रश्नः—**मांसातिचारचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव ! मांसके सर्वथा परित्याग रूप व्रतको पालनेवाले व्रतीको भी जिन कारणोंसे मांसभक्षण संबन्धी अतिचार प्राप्त होते हैं उनको बताइए—

(अनुष्टुप्)

चर्मपात्रे धृतं तैलं हिंगु नीरं तथा घृतम्।
त्यक्तमांसाशनैस्त्याज्यमेवमन्यद्यथागमम्॥ ११०॥

चर्मेत्यादिः - चर्मणि धृतं तैलं हिंगु नीरं घृतं वा अन्यिकञ्चदपि भोज्यं पेयं वा तन्मांसदोषापादकमस्ति रोमादिसंयुक्तमपि भोजनं मांसातिचारोत्पादकमास्ते। यस्मिन् वस्तुनि इदं मांसमिति सङ्कल्पो जायते तद्भक्षणेऽपि मांसातिचारो भवति। अतः त्यक्तमांसाशनैः मांसव्रतधारिभिरेते अतिचाराः यथागमं परिहर्तव्याः। ११०।

चमड़ेके वर्तनमें रखी हुई वस्तुका भक्षण मांसातिचारोत्पादक है। जैसे घी, तेल, हींग और जल आदि। ये पदार्थ अनेक प्रान्तोंमें चमड़ेकी मशकमें रखे जाते हैं। चमड़ेकी चालनीसे चाला हुआ, चमड़ेकी तराजूमें तौला हुआ तथा चमड़ेके सूपमें रखा हुआ आटा आदि अभक्ष्य हैं। और जो अनाज धोकर शुद्ध किया जा सकता है उसे धोकर शुद्ध कर ही काममें लाना चाहिए। भोजनमें यदि रोमादिका संपर्क आजाय तो वह नहीं खाना चाहिए। रोम शरीरांश है अतः रोम नख आदि सहित (स्पृष्ट) पदार्थ न खाना चाहिए। इसी प्रकार जिस पदार्थमें यह मांस है ऐसा संकल्प हो जाय उसे खा लेना भी मांसातिचार है। इनका वर्जन व्रतीको अवश्य करना चाहिए। मांसभक्षीके हाथका तथा उसके वर्तनोंमें बना आहार भी सर्वथा त्याज्य है। ११०।

प्रश्नः—**मद्यातिचारचिह्नं किं वर्त्तते मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव मद्यत्याग व्रतके दोष कौन कौन हैं, कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

मद्यपायिकरस्पृष्टं भोजनमपि दोषकृत्।
न सेव्यं निन्दितं वस्तु स्वादतश्चलितं तथा॥ १११॥

मद्यपायीत्यादि:—गुडादिषु मदोत्पादकेष्वन्येषां द्रव्याणां सम्मिश्रणात् कालान्तरे मद्यमुत्पद्यते। तत् खलु ये पिबन्ति ते मद्यपाः। मद्येऽनेके त्रसाः समुत्पद्यन्ते, तत्पाने च म्रियन्ते। स्वचित्तस्योन्मादेच्छया खलु सेवन्ते मद्यम्। तद्वत् स्वस्वादतः विचलित भोज्यमपि सन्धानात् मद्यमिव त्रसजीवसमाकीर्णं भवति, तस्मात्तद्भक्षणे मद्यस्यैवाति चारः स्यात्। मदोत्पादकानामन्येषामपि पदार्थानामासेवनं मद्यस्यैवातिचाराय भवति। मद्यपानां करस्पर्शान्निष्पन्न-मन्नादिकञ्जलादिकञ्च नो ग्राह्यं व्रतिभिः। यतः न खलु चिरभ्रमवतां कश्चित्प्रत्ययः। तद् भक्ष्यं वा स्यात् अभक्ष्यं वा स्यात्, न तस्य तयोर्विवेकोऽस्ति। यः खलु तत्करस्पृष्टमन्नादिकं पानादिकं वा सेवते तस्य न स्यात्भोजनस्य शुद्धिः। तत्प्रसङ्गेन तत्प्रयुक्तानामपि भाजनानामुपयोगः स्यात्। मद्यस्पृष्टे भाजने भोजनमपि तद्दोषाधायकं स्यात्। एवं तत्संसर्गात् मद्यात् विरक्तिश्च नश्यति तस्मिन्ननुरागश्चोत्पद्यते, सत्येवं व्रतं च नश्यति। तस्मादतिचारान् परित्यज्य व्रतं रक्षणीयम्॥ १११॥

गुड़ आदिमें मदोत्पादक अन्य पदार्थोंको गलाकर मद्य बनाया जाता है। उसे पीनेवाले मद्यप कहलाते हैं। मद्यमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न होते हैं, जो मद्यपानसे नष्ट होजाते हैं। उन्माद को उत्पन्न करने के लिये ही लोग मद्यका सेवन करते हैं। इसीप्रकार जो पदार्थ मदोत्पादक हों और जो पदार्थ सड़ जाने से अपने स्वादसे विचलित होगये हैं उनका सेवन मद्य के दोषको ही उत्पन्न करता है। मद्य पीनेवालों की संगति करना, उनसे संबंध बढ़ाना, उनके साथ बैठकर भोजन करना, उनके द्वारा बनाया अन्न व जल गृहण करना, उनके द्वारा उपयुक्त बर्तनोंमें भोजन आदि करना और उनके बालबच्चोंसे अपने बालबच्चोंकी शादी आदि करना ये सब मद्यके अतिचार हैं। इन कार्यों से मद्य के प्रति होने वाली विरक्तता मिट जाती है और मद्य के प्रति अनुराग क्रमशः बढ़ता जाता है। कुछ ही समय बाद ऐसे लोग स्वयं मद्यपायी हो जाते हैं। उनका भक्ष्याभक्ष्य का विवेक उन अविवेकियों की संगतिमें नष्ट होजाता है। अभक्ष्य के प्रति घृणा का भाव उठ जाता है। यह विचार कर मद्य के उक्त अतिचारोंसे दूर रह कर अपने व्रत की रक्षा करनी चाहिये। १११।

प्रश्न :—**मध्वतिचारचिह्नं किं वर्तते मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव! मधुत्यागव्रतमें भी कोई अतिचार होते हैं? यदि होते हैं तो कृपाकर समझाइए—

(अनुष्टुप्)

त्रसजीवसमाकीर्णं कुसुमं चान्यद्वस्तुकम्॥
मधुस्पृष्टं सदाऽभक्ष्यं त्याज्यं तत्त्वार्थवेदिभिः॥ ११२॥

त्रसेत्यादि :—त्रसजीवानां हिंसादोषाधायकत्वाद्यथा मधु त्याज्यं तथा त्रसजीवसमाकीर्णं अन्यदपि वस्तु त्याज्यम्। तद्भक्षणे तद्व्रतातिचारः स्यात्। कुसुमेषु क्षुद्रजन्तुकाः तन्मकरन्दग्रहणेच्छया रसेच्छया च समागच्छन्ति। ते तु तत्रैवानुरक्तास्सन्तः निवसन्ति न परित्यजन्ति तदावासं प्राणान्तेऽपि। सरोजे भ्रमराणां तद्गन्धलोभेन मरणं जगति प्रसिद्धमेव। तज्जातीयानामन्येषामपि जन्तूनां तादृश्येव स्थितिरस्ति। तस्मात् कारणात् प्रायेण पुष्पाणामशनं न कर्त्तव्यम्। कृते च तदशने मध्वतिचारः स्यात्। मधुस्पृष्टे भाजनेऽपि भोजनं न कार्यम्। तथा मधुस्पृष्टं अन्यदपि वस्तु न ग्राह्यं। नेत्राञ्जनादौ दन्तरोगादावपि मधोः प्रयोगः न कर्त्तव्यः। औषधिरूपेणापि लेपादौ तस्य प्रयोगः दोषाधायकोऽतिचार एव स्यात्। ११२।

मधु त्रस जीवोंका कलेवर है और त्रसोत्पादक है अतएव अग्राह्य है। इसी प्रकार उक्त दोषोंसे पूर्ण जो भी पदार्थ हैं उनका सेवन करना मधुव्रतके लिए ही दोषाधायक है। फूलोंमें उसकी गंध और रसके

लोभी छोटे छोटे जन्तु सदा बसते हैं और प्राणान्त हो जानेपर भी उनको नहीं छोड़ना चाहते। कमलमें गंधके लोभमें भ्रमरके मरणको प्राप्त हो जानेकी कथा जगत्में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भ्रमरकी ही जातिके अन्य क्षुद्र कीटाणुओंकी भी यही स्थिति है। उक्त कारणोंसे प्रायः फूलोंका सेवन नहीं करना चाहिए। जो पुष्प शोधे जा सकते हैं—स्पष्टतया त्रस रहित किए जा सकते हैं, आवश्यकता होने पर उनका उपयोग कर भी सकते हैं तो भी ऐसे पुष्प जो शोधे नहीं जा सकते, या शोधे जानेपर भी जिनपर क्षुद्र जन्तु उड़कर बैठ जाते है, या जो सदा जीवसमाकीर्ण ही रहते हैं ऐसे नीलके फूल केतकी पुष्प आदि सर्वथा परिहारके योग्य हैं।

मधुस्पृष्ट भोज्यको ग्रहण करना, मधुस्पृष्ट भाजनमें भोजन करना भी अतिचार है। नेत्रमें, दांतोंमें, और गुदामें, उत्पन्न हुए अनेक रोगोंमें जो मधुका प्रयोग किया जाता है वह भी दोषाधायक है। अर्थात् औषधिके रूपमें लेपादिके लिए भी मधुका प्रयोग मधुव्रतवालेके लिए अतिचार ही है। अतः अतिचारों का परहेज कर व्रतको निर्मल बनाना ही श्रेयस्कर है। ११२।

अथ सप्तव्यसनातिचार

प्रश्न :—द्यूतातिचारचिह्नं किं वर्तते मे गुरो वद।
हे गुरो! द्यूत व्रतके दोषाधायक अतिचारोंका वर्णन कीजिए—

(अनुष्टुप्)

क्रीडनश्च मिथो द्यूतं दृष्ट्वा जीवान् कदापि न।
तुष्येत्पलायनं लोभात् कारयित्वा पशोस्तथा॥ ११३॥

क्रीड श्चेत्यादि:—द्यूतक्रीडां कुर्वतां समर्थनं तथा प्रशंसा द्यूतक्रीडादर्शने समुत्सुकता तद्दर्शनात् संतोषः एते सर्वेऽपि द्यूतातिचाराः। जयपराजयेच्छया पशूनां पलायनं क्रीडाद्यूतमेव। होडादिना मनःप्रसत्यर्थं यत्किञ्चदपि क्रियते तत्सर्वमपि द्यूतक्रीडात्यागव्रतस्यातिचारेषु गर्भितमेव। यथा द्यूतक्रीडा विशिष्टरूपेण रागद्वेषादीनुत्पादयति तद्वत् तत्सर्वमपि। तस्मात्तत्परिवर्तनेन व्रतं रक्षणीयम्। ११३।

जुआ खेलना जैसे विशिष्ट राग द्वेष लोभ और मोहका उत्पादक होनेसे श्रेयोमार्गका विघातक है उसी प्रकार वे सब कार्य जो द्यूत क्रीड़ाके समय ही विशिष्ट राग-द्वेषको उत्पन्न करते हों वे सब द्यूतक्रीड़ा जैसे ही हैं। और उनका सेवन व्रती पुरुषके लिए अतिचार है।

पशुओंका लड़ाना, दौड़ाना, व परस्पर संघर्ष करा देना ये सब राक्षसी प्रकृतिके आनन्ददायक कार्य दोषोत्पादक हैं। ये लोग पशुओंकी पराजयसे अपनी पराजय और उनकी विजयमें अपनी विजय मानकर उनमें मारणान्तिक संघर्ष उत्पन्न करा देते हैं। यह सब महान् दोषाधायक हैं।

होड़ लगाकर जीत हारकी शर्त रखकर जो भी खेल खेले जाते हैं, जिनका अभिप्राय अर्थात् उद्देश्य केवल अपने दुरभिप्राय और दुरिच्छाओंकी पूर्ति है। परपराजय, परनिन्दा, परावनति तथा स्वविजय, स्वप्रशंसा और स्वाहंकार ही जिनका प्रतिफल हैं वे सब कार्य जैसे ताश खेलना, चौपर, सतरंज, घुड़दौड़ आदि द्यूतके समान ही दोषाधायक होनेसे अतिचार हैं।

पर स्वास्थ्यरक्षा, ज्ञानवृद्धि और सदाचारकी उन्नतिके उद्देश्यसे किए जानेवाले और उक्त उद्देश्यकी पूर्ति करनेवाले होड़के कार्य दोषाधायक नहीं है। उससे मनुष्यकी उन्नति होती है विद्या बढ़ती है स्वास्थ्य

अनुकूल होता है। सदाचारकी वृद्धि होती है। जैसे-सदाचारी छात्रको पारितोषिक देनेकी शर्त लगाकर घोषणा करना, अमुक ग्रंथमें अच्छे नंबरोंमें पास होनेपर अमुक पारितोषिक प्राप्त होगा आदिकी घोषणा करना तथा अनुत्तीर्ण होने पर शारीरिक व आर्थिक दण्डकी घोषणा करना इत्यादि ये सब कार्य ग्राह्य हैं; क्योंकि ये बालकोंको द्यूतादिसे दूरकर ज्ञानार्जन और स्वास्थ्य तथा सदाचार वर्द्धनकी प्रेरणा करते हैं।

किसी भी कार्यका गुणदोष उसके उद्देश्यपूर्तिके ऊपरसे ही लिया जाता है। एक ही कार्य दोषोत्पादक होनेसे हेय और गुणोत्पादक होनेसे उपादेय हो जाता है। मुनिपर उपसर्ग करनेवाले सिंह और सिंहसे मुनिकी रक्षा करनेकी इच्छा रखने वाले शूकरमें जब संघर्ष हुआ तब दोनों एक दूसरे पर प्रहार करते थे, मारते काटते थे यहाँ तक कि अन्तमें दोनों मृत्युको प्राप्त हो गए। एक दूसरेको मारने के दोनों दोषी हुए फिर भी शूकर स्वर्ग गया और सिंह नरक गया। दोनोंके कषायें थीं पर दोनोंके उद्देश्य भिन्न थे इसलिए एक ही कार्य करने पर दोनोंके परिणामोंमें महान् भेद था, अतएव उनके फलमें भी भेद हुआ। इसी प्रकार होड़ लगाकर शर्तके साथ भी सदभिप्रायपूरक जो कार्य किए जाँयगे वे दोषोत्पादक नहीं हैं। किन्तु उसी प्रकारकी शर्त लगाकर लोभादि अभिप्राय पूरे करनेकी इच्छासे या दूसरेको नीचा दिखानेके अभिप्रायसे, अपने अहंकारको पोषण करनेके अभिप्रायसे, अपनी प्रशंसा हो अन्यकी निन्दा हो जाय इस अभिप्रायसे जो क्रीड़ाएँ की जाती हैं, रागद्वेषवर्धन ही जिनका एकमात्र फल है वे द्यूत क्रीड़ाके अतिचार हैं।

जुआ खेलनेवाले मनुष्योंके कर्तव्योंका समर्थन करना उनके कार्योंकी प्रशंसा करना, जुआके खेल देखनेकी उत्सुकता होना, उन्हें देखकर संतुष्ट होना, जुआ खेलनेका उपदेश देना, उसके लिए दूसरोंको प्रेरणा करना, जुआरियोंको रुपया वगैरह उधार देकर जुआ खिलवाना, उन्हें स्थानकी सुविधा देना इत्यादि सब कार्य उसी द्यूतव्रतको नष्ट करनेवाले अतिचार हैं जो कालान्तरमें अनाचारके हेतु हैं। अतः इन सबका परिहार कर व्रतको निर्मल बनावे। ११३।

प्रश्नः—**वेश्यात्यागातिचारस्य किं चिह्नं विद्यते वद ॥**

वेश्याव्यसनत्याग व्रतके अतिचार कौन हैं, कृपाकर हे गुरो कहिए—

(अनुष्टुप्)

वार्तालापः तया सार्धं न कार्यो धार्मिकैर्जनैः।
न वेश्यागीतनृत्यादि पश्येद् गच्छेन्न तद्गृहम् ॥ ११४ ॥

वार्तिकम्:—वेश्याव्यसनव्रतिनः वेश्यानृत्यदर्शनं तद्गीतश्रवणं तद्गृहगमनं तया सह वार्तालापः तया सह व्यापारादिकञ्च न करणीयम्। यतस्तत्सर्वं तद्व्रतातिचार एव। ११४।

वेश्याव्यसन त्याग व्रतकी रक्षा करनेवाले को चाहिए कि वह उसके प्रति प्रेरणादायक प्रत्येक कार्यसे बचे। वे सब उस व्रतके अतिचार हैं। जैसे वेश्याका नृत्य देखना, उसका गाना सुनना, उसके घर जाना, उससे वार्तालाप करना, उसके साथ लेनदेन व्यापार आदि करना, उसे अपने गृहमें रहनेको स्थान देना, वेश्याव्यसनियोंकी संगति करना, उन्हें वेश्याके प्रति अनुरागी बनाना, उन्हें आर्थिक सहायता देना ये सब उस व्रतको नाश करनेके हेतु हैं चित्रके द्वारा या सिनेमा आदिके द्वारा भी वेश्यानृत्यदर्शन या वेश्यागीतश्रवण इस व्रतके लिए दोषास्पद है। ११४।

प्रश्न :—स्तेयातिचारचिह्नं किं विद्यते मे गुरो वद।
हे गुरुदेव ! चोरी व्यसन त्यागव्रतके अतिचारोंका प्रतिपादन कीजिए—

(अनुष्टुप्)

धनधान्यादिकमग्राह्यं परस्यान्यायतश्छलात्।
यतो व्रतं भवेत् पूर्णं लोकद्वयसुखावहम् ॥ ११५ ॥

धनेत्यादि :—अन्यायमार्गतः विश्वासघातत् छलव्यवहरात् परेषां धनधान्यादिवस्तूनां यद् ग्रहणं तत्सर्वं चौर्यव्यसनत्यागव्रते दोषास्पदमेव । इत्येवमेतानतिचारान् परित्यज्य विश्वासं समुत्पाद्य नैतिकाचाराविरोधेन सहजसद्व्यवहारेण धनोपार्जनं कर्तव्यं नान्यथा एवं करणे तु उभयलोके सुखावाप्तिः स्यात् व्रतं च पूर्णं भवेत् । १।

चोरीका त्याग करनेवाला व्यक्ति कदाचित् चोरी न करते हुए भी परके धन, धान्य, पशु आदिक पदार्थोंको अथवा राजकीय, व्यापारिक सामाजिक, धार्मिक तथा कौटुम्बिक अधिकारोंको अन्य मार्गसे, विश्वासघात करके और कपट करके छीन लेवे तो यह सब चौर्यत्यागव्रतके ही दोष हैं।११५।

प्रश्नः— आखेटकातिचाराणां किं चिह्नं विद्यते गुरो ।
हे गुरुदेव ! आखेटक व्यसनके कौनसे अतिचार हैं, कहिए—

(अनुष्टुप्)

मह्यां लिखितचित्राणां भित्तिकाष्ठपटादिषु।
छेदनं भेदनञ्चूर्णं न कार्यं धर्मवेदिभिः ॥ ११६ ॥

मह्यामित्यादिः— पृथिव्यामुल्लिखिते तथा भित्त्यादौ काष्ठनिर्मिते पटादिके वस्त्रादौ कर्गले वा चित्रिते चित्रादौ मनुजोऽयं इति संकल्पः जायते । उक्तप्रकारेण संकल्पिते जीवे छेदनादिकमंगभंगादिककरणं कर्त्तनं वा आखेटककर्तृ निर्दयपरिणामहेतुत्वात् त्याज्यं धर्मज्ञैः । यथा मनसा जीवच्छेदनं मारणं वा दोषः तथैव वचसाऽपि तव मस्तकं छेत्स्यामि जिह्वाछेदनं करिष्यामि इत्यादिकं मर्मभिदिवचनमपि आखेटकव्रतेऽतिचारः स्यात् । कायेन हिंसायाः अभिनयः करवालेन मस्तकच्छेदनाभिनयो वा आखेटकत्यागव्रतस्यातिचार एव ततो धर्मवेदिभिः तन्न कार्यम् । ११६ ।

पृथिवीपर, भित्तिपर, काष्टपट पर, कागज या वस्त्रादिक पर उल्लिखित चित्र अथवा मिट्टी, काठ, धातु व काच आदि के बने हुए मनुष्य, हाथी घोड़ा आदि प्राणियों की मूर्तियों में जीवका संकल्प करके उनको मारना, मस्तक छेदना, अंग भंग करना आदि दुष्कर्म आखेटत्यागव्रतके अतिचार हैं । जैसे लोक में रामलीला आदि के अवसर पर रावणादि की मूर्तियाँ बनाकर उनका मस्तक छेदते हैं और जो भी विद्वेष पूर्ण भाव होते हैं वह सब इस व्रत के लिए दोषाधायक है। यद्यपि रावण का दुष्कृत्य निन्द्य है तथापि किसी आश्रयसे अपने परिणामोंमें क्रूरता लाना भी बंध का ही हेतु है।

मनके द्वारा मारण, छेदन, अंगभंगका विचार जैसे दोषास्पद है; क्योंकि ऐसा संकल्प परिणामोंमें निर्दयपना उत्पन्न करता है। इसी प्रकार वचनके द्वारा दुष्ट बातोंका कहना—तेरा मस्तक छेदूँगा इत्यादि हिंसा पूर्वक निर्दयताके वचन और कायके द्वारा हिंसाका अभिनय जैसे किसीके मस्तकके छेदनका अभिनय, शिकारीका वेष रखना, तथा शिकारका स्वांग करना, इत्यादि कायसे क्रूरकर्म करना सब आखेटत्यागव्रतके लिए अतिचार हैं। इन सबसे परिणाम मलिन होते हैं तथा इस व्यसनके लिए प्रोत्साहन मिलता है। ११६।

प्रश्न :—परस्त्रीसेवनस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद ।
हे गुरुदेव ! परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतके अतिचार कौन कौन हैं, कृपया कहिए—

(अनुष्टुप्)

कन्यकादूषणं वापि कन्यकाहरणं हठात् ।
नान्यस्त्रीचिन्तनं कार्यं कदापि भवभीरुभिः ॥ ११७ ॥

कन्यकेत्यादि :—अन्यत्र निश्चितसम्बन्धायाः स्वविवाहार्थमुद्बोधनं तस्यां मिथ्यादूषणारोपणं हठात् कन्यायाः गांधर्वविवाहार्थं हरणं परस्त्रीणां नखशिखशृंगारादीनाञ्चिन्तनं इत्येतत्सर्वं परस्त्रीत्यागव्रतिनो दूषणमेव । परस्त्रीव्यसनपरित्यागेऽपि तद्विषयः कथाप्रसङ्गः व्यभिचारिणीभिः वार्तालापः हास्यादिकं भण्डवचनानां प्रयोगकरणं तद्व्रतातिचाराः एव । स्त्रीणां चित्रसंग्रहो नग्नचित्राणां दुर्भावनयाऽवलोकनं स्वस्त्रियामपि अत्याशक्तिः कामातुरता अनङ्गसेवनं इत्यादीनि तद्विषयरागवर्द्धकानि सर्वाण्यपि कार्याणि अतिचारष्वेव गर्भितानि सन्ति। तस्मात् भवभीरुभिः तत्परिहारः कर्त्तव्यः येन व्रतं निर्मलं स्यात् ॥ ११७ ॥

इति श्री कुन्थुसागराचार्य विरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां च तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

जिस कन्याका किसी दूसरे पुरुषके साथ सम्बन्ध निश्चित हो चुका है उसे अपने विवाहके लिए समझाना, उस पुरुषको उससे विरक्त करानेके लिये कन्याको मिथ्या दूषण लगाना, कन्याको अपने साथ विवाहित करनेके लिए हठात् हरण कर ले जाना, परस्त्रियोंके नख-शिख शृंगार आदिका विचार करना, उनकी सुन्दरताका विचार करना ये सब परस्त्रीव्यसनत्यागीके लिए अतिचार हैं। व्रतको ये दूषित करनेवाले हैं ।

परस्त्रीका त्याग होने पर भी जो परस्त्रियोंकी चर्चा करते हैं; उनके हावभाव, विलास, क्रीड़ा, गमन, हास्य और वेष-भूषा आदि विषयों पर वार्तालाप करते हैं, व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे हंसते बोलते हैं, व्यङ्ग्य वचन कहते हैं, गाली आदि भण्डवचन बोलते हैं, स्त्रियोंके चित्रोंका संग्रह करते हैं, नग्नचित्रोंका दुर्भावनासे अवलोकन करते हैं वे अपने पवित्र व्रतको मलिन करते हैं, अतः उक्त सभी ही दोष त्याज्य हैं ।

स्वस्त्रीमें भी अति आसक्तता, कामसे अतिआतुर होना, विभिन्न अङ्गोंसे क्रीड़ा करना आदि सम्पूर्ण कुचेष्टाएँ रागभाववर्द्धक होनेसे स्वदारसन्तोषी व्यक्तिके भी असन्तोषको उत्पन्न कर उसके व्रत को मलिन कर देती हैं, अतः इन कुचेष्टाओंको व्रतका अतिचार मानकर दूरसे ही त्याग देना चहिए। ११७ ।

उपसंहार

इस प्रकार द्वितीय और तृतीय अध्यायमें दार्शनिक श्रावक (प्रथम प्रतिमा) का स्वरूप निरूपण किया है। प्रथम प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावकमें जघन्य नैष्ठिक है। यद्यपि छह प्रतिमाएँ जघन्य नैष्ठिककी हैं तथापि यह जघन्य नैष्ठिकका प्रारंभिक प्रथम स्थान है। श्रावककी मुख्य श्रेणी यहाँसे प्रारम्भ होती है।

दार्शनिक श्रावक विशुद्ध सम्यग्दृष्टी होता है। सम्यक्त्व संबंधी अतिचारों तथा अन्य दोषोंसे वह दूर रहता है। वह चारित्र भवनकी प्रथम सोपान पर स्थित है। उसकी प्रवृत्ति सम्यक् मार्गकी ओर है। मिथ्यामार्ग और अन्ध-विश्वासोंके लिए वहाँ स्थान नहीं है। वह केवल जिनोपदिष्ट तत्त्वका दृढ़तम श्रद्धानी है। उसे यह भलीभाँति ज्ञात है कि जो यथार्थ है, सत्य है वही जिनेन्द्रने कहा है। जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं हैं; क्योंकि वे निस्पृह, निःस्वार्थ (सांसारिक स्वार्थरहित) सम्यग्ज्ञानी, वीतराग और सर्वहितैषी हैं। वह पद पद में उनके वचनोंकी सत्यता पाता है। जगत्की अस्थिरता, अशरणता, संसरण-शीलता, जीवकी स्थिति, उसका उपयोगात्मक स्वभाव, उसका गुणीस्वरूप, उसका अमूर्त्तत्व, उसका पुद्गलसे वैशिष्ट्य अर्थात् पृथकत्व, अपना एकाकीपन, शरीरकी कृतघ्नता, उसकी अशुचिताका नग्न सत्य, कर्मके आस्त्रव, बंध तथा उदयकी स्थिति, जीवके उपशम भाव, धर्मकी दुर्लभता आदि सत्य तत्त्वोंका उसे अपने जीवनके प्रत्येक कार्यमें अनुभव मिलता है। प्रति समय वह इनका विचार करता है और उसे इनका आभास मिलता है।

अपने इस सत्य पूर्ण विश्वासके कारण वह संसारके मायामय, दुखमय, अनात्मरूप, अशुभरूप, नाशवान् स्वरूपसे विरक्त रहता है तथा अपने सुखमय, शुभरूप, नित्य, अनन्त गुणोंके पिण्ड आत्मरूप में अनुरक्त रहता है। अपने इस रूपको प्राप्त करनेके लिए वह लालायित है, कृत-संकल्प है। अतः उसकी प्रवृत्तियाँ सदा संसारकी क्रियोंसे, शारीरिक मोहसे और विषय-भोगोंसे कटी-कटी-सी रहती हैं। जैसे बहुत समयके दो मित्रोंमें परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो जाय तो वे एक दूसरेके साथ रहते हुए भी, काम करते, आते-जाते, उठते-बैठते, वार्तालाप करते हुए भी आपसमें कटे-कटेसे रहते हैं और सदा सावधान रहते हैं कि कहीं साथी धोखेसे किसी विपत्तिमें न फँसा दे। वे साथीका साथ छोड़ नहीं पा रहे तो भी उस समयकी प्रतीक्षामें हैं जब वे उसे छोड़ सकें। इसी प्रकार दार्शनिक श्रावक संसारके सत्यार्थ स्वरूपसे पूर्ण अवगत होनेके कारण तथा शरीर और विषय-भोगोंकी निःसारताको समझ लेनेके कारण उनसे विरक्त रहता है और संसारमें रहते हुए, उसके सब काम करते हुए भी—अर्थात् व्यापार, व्यवहार, पत्नी, व बाल-बच्चोंका परिपालन, इन्द्रियोंका भोग, उद्योग-धंधे, कुटुम्बी और सम्बन्धियोंसे स्नेह व्यवहार आदि व्यवहार धर्म पालन करते हुए भी वह इनसे यथार्थतया विरक्त है, और उस समयकी घातमें है जब वह अपनेको उनसे छुड़ा सके, तथा आत्महितकारक मोहरहित, वैररहित, कपटरहित, कषायरहित, भोगरहित, सर्वहितकारक और सुखदायक सन्मार्गको पूर्णरीतिसे अपना सके।

वह सदा पञ्चपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा दिगम्बर साधु) भगवान् पर दृढ़ आस्था रखता है, उन्हें ही इस संसार अटवीसे उद्धारके लिए शरणभूत मानता है। अथवा संसार एक महान् अपार और अपरिमित गहरा समुद्र है। अनेक रोग-शोक संतापादि नक्रचक्रसे यह भरा हुआ है। इसमें कोई जीव सछिद्र नावमें बैठकर चला और मध्यसमुद्र तक आकर नाव डूब गई। अब वह अकेला ही उसमें तैर रहा है। चारों तरफ जल ही जल है। कहीं तीर नजर नहीं आता। आठों दिशाएँ निराशापूर्ण हैं। जल भी अतल है अर्थात् नीचे भी गहराई अपार है, असंख्य खतरोंसे यह समुद्र भरा हुआ है। ऊर्ध्व दिशामें देखा तो केवल शून्य आकाश है। भुजाओंमें वह सामर्थ्य नहीं कि समुद्रको तैरकर तीरकी खोज कर सके। उसकी उत्ताल तरंगे क्षण-क्षणमें उसे आत्मसात् करनेको भुजाएँ फैलाए हैं। उनकी चपेटकी ठोकरसे उसका जीवन क्षणक्षणमें निराश होता है। ऐसे समय यदि आकाश मार्गसे कोई विमान आकर उसे हस्तावलंबन देकर उठा ले और विमानमें बैठा ले तो वह क्षण भरमें

निराशाके गर्त्तसे उठ सकता है और अपनेको अभयरूप अनुभव कर सकता है। दार्शनिक श्रावक यह अनुभव करता है कि मेरे लिए इस संसाररूपी महान् समुद्रसे उद्धार करनेवाले वे आकाशचारी विमान-वासी समुद्रके तलसे दूर रहनेवाले महान् उपकारक पञ्चपरमेष्ठी भगवान् ही हैं, वे ही एकमात्र शरण हैं, अन्य शरण नहीं। उनका आश्रय लेनेसे मैं अनायास ही इस दुःखमय बन्धनसे शीघ्र मुक्त हो सकता हूँ।

जैसे नाना विपत्तियोंसे घिरे हुए मनुष्यके जो अपनी दरिद्रता, रोग, बेकारीके तथा छोटे-छोटे बच्चोंकी रक्षाके भारके कारण परेशान है और मित्र, कुटुम्बी, साथी, समाज आदि सबके द्वारा परित्यक्त है, पास कोई भी नहीं आता, मौखिक सान्त्वना तक भी नहीं देता, बल्कि लोग तानाकसी करते हैं, व्यंग्य कसते हैं, चिढ़ाते हैं, नाना नई विपत्तियाँ लाकर खड़ी कर देते हैं। ऐसे समय यदि कोई सहानुभूति-पूर्ण वाक्य कहकर उसे उसकी गलती सुझावे तो वह उसे अमृतोपम मानकर नवजीवन-सा पाता है, और किसी भी हालतमें उसकी बात टालनेको तयार नहीं है। उसे विश्वास है कि मेरे उद्धारका मार्ग यही व्यक्ति बतावेगा। डूबते हुएको तृणका सहारा भी बहुत हो जाता है। वह जानता है कि तृण बहता आ रहा है तो यहाँ पासमें घास-फूसवाली जमीन भी होगी। इसी तरह वह विपद्ग्रस्त पुरुष भी यह आशा करता है कि जिसने मुझपर दया-दृष्टि कर सहानुभूतिके दो शब्द कहे हैं और मेरी भूल बताई है, वह उस भूलका प्रतीकार भी बता सकता है। ऐसा विश्वास कर वह उसकी शरण पकड़ लेता है। ऐसे ही नाना व्यसनोंसे भरे हुए अनन्यशरण इस संसारमें अपने स्वरूपका भान न होनेसे जो उस विपद्ग्रस्त पुरुषकी तरह अपनेको एकाकी और असहाय अनुभव करने लगा है वह अपनी भूल बतानेवाले दयामय पञ्चपरमेष्ठी भगवानको ही एकमात्र अपना त्राता मानता है। वह जानता है, जो अन्य सब संसारके मोही व्यक्ति उसे अपने साथ ले डूबेंगे, ये ही वीतराग उद्धारक हैं जो मोहके फंदेसे छूट चुके हैं।

दार्शनिक प्रत्येक क्षणमें सत्यमार्ग पर ही चलता है। वह सत्यान्वेषी है। वह प्रत्येक पदार्थमें उसके रहस्यका खोजी है। वह उसके ऊपरी मनोमोहक रूपसे प्रभावित नहीं होता, किन्तु उसके आन्तरिक रहस्यको जाननेमें सदा प्रयत्नशील रहता है। यदि कोई उसे दुर्वचन कहे, या उसकी हानि करे, तो वह बदलेमें दुर्वचन नहीं कहता और न विपक्षीको हानि पहुँचानेका प्रयत्न करता है। वह यह सोचेगा कि इसकी उत्तेजनाका कारण क्या है? दुर्वचन किसीका स्वभाव तो होता नहीं है, फिर उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया? मेरी अवश्य कोई भूल है, या मैंने अवश्य इसे कोई हानि पहुँचाई है। अथवा यह मुझे ही दुर्वचन क्यों कहता है या मुझे ही हानि क्यों पहुँचाता है? अन्यको क्यों न कहता और उनको हानि क्यों नहीं पहुँचाता? ऐसा विचार करने पर उसे अवश्य उसका रहस्य मिल जाता है। उसके मूल कारणको जानकर वह उसे ही नष्ट करता है, ताकि भविष्यमें दोनों अनिष्ट उसके सामने न आवें। मिथ्यादृष्टी मनुष्य ठीक इससे विपरीत दुर्वचनीको दूने दुर्वचन सुनाता है और उसकी दूनी हानि करनेको प्रस्तुत रहता है। वह तत्काल बदलेकी भावना क्रोधवश पैदा कर लेता है। कषायावेशमें वह सत्यकी खोज नहीं कर सकता।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्यमें दार्शनिक सत्यकी खोज करता है, उसके रहस्यको खोलता है और उसके मूलको सम्हालनेका प्रयत्न करता है। वह कषायावेशमें आकर अपनेको सत्यान्वेषणके सम्पर्कसे दूर नहीं फेंक देता।

सत्यान्वेषण करना सत्यमार्ग पर चलना यही सम्यक्त्व है। यह मिथ्यात्वका प्रतिपक्षी है। विशुद्ध सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यभक्षण इन तीन बातोंसे सदा परहेज रखता है। वह सप्त व्यसनों का त्यागी पञ्च पापोंसे अपनी योग्यतानुसार विरक्त, अष्ट मूल गुणोंका पालक तथा मिथ्या आयतनों और मूढ़ताओंसे विमुक्त होनेके कारण न्यायमार्गसे विरुद्ध मार्गका कभी अवलम्बन नहीं कर सकता। वह सदा मर्यादामें रहता है। मर्यादाका उल्लंघन ही अन्याय है। सम्यक्त्वी अन्याय पर न चलता है और न अन्याय व्यवहार कभी सहता है। अन्याय अनेक प्रकारसे होता है। जैसे किसीके अधिकार छीनना, किसीके प्राप्त अधिकारको स्वीकार न करना, व्यापारमें लोक और राज्यके विरुद्ध मुनाफा उठाना, प्रमाण से अधिक भोजन करना, दूसरोंके हकोंको मारना, जरूरतसे ज्यादा भोगोपभोग करना, अत्यधिक विला-सिता, शृंगार रचना करना, धर्मके समय भोग भोगना, किसीको दुर्वचन कहना, अति संग्रह करना, अति लोभ करना, अति क्रोध करना, विश्वासघात करना, अहंकार करना, धर्मात्मा और सज्जनका यथायोग्य सम्मान न करना, लोक विरुद्ध नीति विरुद्ध और धर्म विरुद्ध वचन बोलना ये सब न्यायमार्ग के विपरीत अन्यायपूर्ण कार्य हैं। इनसे दार्शनिक (प्रथम प्रतिमाधारी) बचता है।

जिन अभक्ष्योंका ऊपर विवेचन किया गया है उन सबका तथा इनके सिवाय और जो अभक्ष्य हो सकते हैं उन्हें वह कभी नहीं खाता। चोरीका द्रव्य अर्थात् चोरीसे लाया गया द्रव्य, देवद्रव्य, धर्मादाका द्रव्य, हिंसा करके उत्पादन किया गया द्रव्य, व्यभिचारसे पैदा किया हुआ वेश्यादिका धन, दूसरेको सताकर लाया गया धन, भाई आदि कुटुम्बियोंके हकका धन तथा किसी पर जोर जुल्म करके छीनकर लाया गया धन इत्यादि धनका उपभोग करना दार्शनिक अभक्ष्य सेवन तुल्य मानता है।

उक्त प्रकार कहे गये दार्शनिकके स्वरूपको जो भाग्यवान् विचार पूर्वक अपने जीवनमें अपनाता है वह धन्य है। वही मोक्षमार्गका सच्चा अधिकारी है। यह दार्शनिक अपनेको सदा इससे भी उच्चतम बनानेके प्रयत्नमें रहता है। दूसरी तीसरी आदि प्रतिमाओं पर आरूढ़ होनेकी उसकी सदा इच्छा रहती है। ऐसा उन्नतिशील धर्मात्मा दार्शनिक है। ११७।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी

सिद्धान्तशास्त्रीकृत प्रभानामक व्याख्यामें तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः

प्रश्नः—**प्रातरुत्थाय किं कार्यं वद मे शान्तये गुरो ।**

हे गुरुदेव ! दार्शनिक श्रावकके आचारका वर्णन किया किन्तु उसके योग्य दिनचर्या कैसी होनी चाहिए, कृपाकर शान्तिकी प्राप्तिके लिए कहिए—

(अनुष्टुप्)

नमोऽस्तु वीतरागाय भक्त्यैवमुच्चरन् वचः ।
उत्तिष्ठतु सदा प्रातर्देहः स्यादशुचिर्यदि ॥ ११८ ॥
मौनेनैवोच्चरन्मन्त्रं ध्यायतु स्वात्मनः पदम् ।
आधिर्व्याधिर्यतो भीतिः स्वयं नश्येत् समूलतः ॥ ११६ ॥ युग्मम्

नम इत्यादिः—प्रातः प्रथमं तावत् निद्रायाः परिसमाप्तौ भक्त्या "श्री वीतरागाय नमः श्रीजिनाय नमः णमो अरिहन्ताणं" एवं नमस्कारात्मकं परमाराध्यपरमपूज्यपरमेष्ठिपरमात्मानः स्मरणात्मकं वचः वाक्यमुच्चरन्नेव सदोत्तिष्ठेत् । यदि कदाचित् संभोगादिकारणेन रोगादिना वा देहोऽशुचिर्भवेत् तर्हि मौनेनैव मन्त्रोच्चारणं कार्यम् । देहस्याशुचित्वभावनां च भावयित्वा स्वात्मनः शुद्धस्वरूपं ध्यायतु । यतः एवं कृते सति तस्य आधिः व्याधिः भीतिश्च मूलतः स्वयं नश्येत् ।११८ ११६ ।

सर्वप्रथम जब प्रातःकाल निद्रापूर्ण हो जाय तब "श्रीवीतरागाय नमः" या "श्रीजिनाय नमः" अथवा 'णमो अरिहन्ताणं" इत्यादि नमस्कारात्मक वाक्य जो कि परम आराध्य मंगलदायक और सर्वअनिष्ट निवारक परमात्माके मंगलमयस्मरण स्वरूप हैं उनका उच्चारण करते हुए ही शय्याका परित्याग करे ।

यदि कभी ऐसा प्रसंग आवे जो उठते ही यह अनुभवमें आवे कि मेरी देह तो अशुद्ध है । रोगादिके कारण मैं पवित्रतासे नहीं रह पाता हूँ या स्त्री संभोगादि गार्हस्थिक कार्योंके करण वह अशुद्ध है अथवा छोटे छोटे बालबच्चोंके मलमूत्रादिके संपर्कसे देह वस्त्रादि अशुद्ध हैं तो शब्दों द्वारा मंत्रपाठका उच्चारण न करे, क्योंकि अशुद्धावस्थामें मंत्रपाठ करना, स्वाध्याय करना, सामायिक करना, देव वन्दना करना और दान देना आदि पुण्य कार्य करना निषिद्ध है । पवित्रताके साथ ही उक्त कार्योंको निष्पन्न करना चाहिए । अतएव ऐसी स्थितिमें मौनपूर्वक ही पञ्चनमस्कार मंत्रका स्मरण करे । स्मरण करनेका त्रिकालमें भी निषेध नहीं है । अशुद्ध मनुष्य भी परमात्माके स्मरणसे पवित्र हृदय बन जाता है । इसलिए परमपूज्य पञ्च परमेष्ठीका स्मरण करके शरीरादिकी अपवित्रता और उस निमित्तसे अपनी आत्माकी पराधीनताको विचार कर अन्यत्वभावना द्वारा आत्माको शरीरादिसे पृथक् चिन्तवन कर शुद्ध स्वरूपका ध्यान करे । ऐसा करनेवाले महापुरुषकी आधि, व्याधि, विघ्न, अनिष्ट और भय सब जड़ सहित नाशको प्राप्त हो जाते हैं ।११८।११६।

(अनुष्टुप्)

ततः प्रातर्विधिं कृत्वा पूजां दानं तथैव च ।
स्वर्मोक्षदं मुदा स्तोत्रं स्वाध्यायं स्वात्मदर्शकम् ॥१२०॥
पश्चाद्धि भोजनं कुर्यात् तथान्यां शान्तिदां कृतिम् ।
यतः स्यात्सफलं जन्म भवबन्धनभेदनम् ॥ १२१ ॥ युग्मम् ॥

तत इत्यादि :—तदनन्तरं प्रातर्विधिं दन्तधावनं तैलमर्दनं स्नानं च कृत्वा सामायिकं कुर्यात् । ततः स्वगृहाज्जलगन्धाक्षतादिद्रव्यमादाय ईर्यापथसंशुद्धया जिनालयं गच्छेत् । तत्र श्रीजिनालस्य शिखरं दृष्ट्वा प्रहृष्टमना. स्वजीवनस्य साफल्यं विचार्य निःसही इति त्रिवारमुच्चरन् जिनालये प्रविशेत् । मार्गस्पर्शात् समलं पादादिकं जलादिना पवित्रीकृत्य श्री परमपुरुषस्य स्वर्मोक्षदं स्तोत्रं मुदा पठन् दर्शनं कुर्यात् । ततः अष्टविधार्चनया जिनं संपूज्य शान्तिमाधाय इष्टं प्रार्थ्य स्वजन्मनस्साफल्यम्मन्यमानस्तत्र स्वात्मदर्शकं स्वाध्यायं कुर्यात् । यदि तत्र भाग्योदयात् परमगुरुण उपदेशलाभस्य संयोगः स्यात् तदावश्यमेव तद्वचनानि समाकर्ण्य प्रमादादिना कृतान् स्वदोषान् तत्र निवेद्य प्रायश्चित्तस्वरूपं तत्प्रदत्तं प्रायश्चित्तं च स्वीकृत्य प्रणामं कुर्यात् । तत्र स्वधार्मिकानवलोक्य प्रफुल्लितवदनः तैः सह प्रेमालापेन कञ्चितकालं यापयित्वा अर्थिभ्यो यथायोग्यं साहाय्यं प्रदाय गृहमागच्छेत् । ततो नानाविधैरुपायैः हिंसादिमहापापविरहितैराजीविकां संपाद्य द्वारप्रेक्षणं कुर्यात् । पात्रलाभे सति भक्त्या विनयपूर्वकमाहारदानं दद्यात् । तदलाभे मध्यमपात्राय जघन्यपात्राय वा तदलाभे दरिद्राय हीनपुण्याय दयापात्राय आहारादि द्रव्यं प्रदाय स्वगृहेऽपि स्वाश्रितान् भोजयित्वा मौनेन भुञ्जीत । दिवसमध्ये यथायोग्य व्यापारादिकं विधाय सन्ध्यातः पूर्वमेव भोजनादिकञ्च विधाय सन्ध्यायां सामायिकं कुर्यात् । धार्मिकैः सह धर्मवार्ता जिनदर्शनपूर्वकं यथायोग्यानां शास्त्राणाञ्च वाचनं कुर्यात् । एतत्सर्वं विधाय यथासमयं पञ्चपरमेष्ठानां स्मरणपूर्वक शयीत । इत्येव—प्रकारेण साधारणी दिनचर्या प्ररूपिता । विशेषरूपेण तु यथा धर्मपरिपालनं स्यात् तथा अन्यान्यपि शान्तिदायकानि स्वपरोन्नतिशीलानि कार्याणि कुर्यात् यतः भवबन्धनं शिथिलं संजायेत तथा मानवजन्मनोऽपि साफल्यं स्यात् । १२० । १२१ ।

तदनन्तर शौच क्रियाके पश्चात् दन्तधावन, तैलमर्दन तथा स्नान आदि नित्यक्रिया करके पवित्र वस्त्रोंको धारण कर अपने गृहसे जल, अक्षत आदि अष्ट द्रव्य लेकर ईर्यापथशुद्धिसे गमन कर जिनालय जावे । दूरसे ही जिनालयकी शिखर तथा कलश और ध्वजको देखकर विचार करे कि मेरा जीवन सफल है, जो मैं परम वीतराग परमात्माके पवित्र मन्दिरका दर्शन कर रहा हूँ । जिनालय जाते समय मार्गमें कोई दूसरा कार्य नहीं करने लगना चाहिये । निःसही शब्दका उच्चारण करते हुए श्री जिनालयमें प्रवेश करे ।

मार्गमें चलनेसे मलीनताको प्राप्त अपने पैर आदिको पवित्र कर परमपुरुषका दिव्य दर्शन करे । श्री भगवानका यह दर्शन नाना योनियोंमें परिभ्रमण करते करते बड़े कष्टसे प्राप्त हुए इस मानव जन्ममें बहुत ही सुयोगसे प्राप्त हुआ है । ऐसा विचार करते हुए भक्तिभावपूर्वक अष्ट द्रव्यसे श्रीजिनकी अभिषेक पूर्वक पूजन करे । पूजनके अनन्तर शान्तिकी अभिलाषासे शान्तिपाठ पढ़े, इष्ट प्रार्थना करे, विश्वकी शान्तिके लिए तथा देश, राष्ट्र और समाजकी शान्तिके लिए प्रार्थना करे । तदनन्तर जिन वाणीका स्वाध्याय करे । यदि भाग्योदयसे परम दिगम्बर गुरुका संयोग मिल जाय तो उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम कर उनके श्रीमुखसे अपना कल्याणकारक उपदेश श्रवण करे । अपने प्रमादसे या कषायसे या इन्द्रिय परवशतासे

कोई अपराध बन गया हो तो श्री गुरुके समीप आलोचना करे तथा उनकी आज्ञानुसार प्रायश्चित स्वरूप दण्डको अङ्गीकार करके अपने जीवनको पवित्र बनावे।

जिन मन्दिरमें अपने अनेक साधर्मी भाई आते हैं, उनको देखकर प्रसन्न वदन होकर उनके साथ धर्म कुशल पूछते हुए अपना कुछ समय धर्मालापमें व्यतीत करे और यह देखे कि इनमें कौन भाई ऐसा है जो किसी प्रकारके कष्टमें है। उनकी यथायोग्य सहायताकर अपने गृह लौटे। गृहमें नाना प्रकारके सदुपायों से अपनी आजीविका सम्पादन करे। उसके बाद यथासमय द्वाराप्रेक्षण करे। सौभाग्यसे यदि कोई उत्तम सत्पात्रका लाभ मिल जाय तो श्रद्धा और भक्तिपूर्वक उन्हें विधिपूर्वक आहार आदि दान देवे। यदि उत्तम पात्रका लाभ न हो तो मध्यम पात्र श्रावकोंको या जघन्य पात्र जैनमात्रको दान देवे। उनका भी लाभ न हो तो दयाबुद्धिसे दयापात्र जो त्रस्त हैं उनको आवश्यकतानुकूल आहारिक दान देवे। तदनन्तर अपने घरमें अपने आश्रित जनोंको तथा पशुओंको आहारादिकी व्यवस्थाकर मौनपूर्वक भोजन करे।

भोजनके अनन्तर दिवस सम्बन्धी अन्य आजीविका आदि कार्योंका यथायोग्य सम्पादन कर सन्ध्या से पूर्व ही भोजनादिसे निवृत्त हो सन्ध्याकालकी सामायिक करे। तदनन्तर श्री जिनेन्द्रका दर्शन तथा आरती और धूप आदिसे पूजन कर साधर्मी भाइयोंके साथ बैठकर शास्त्रश्रवण करे तथा धर्मवार्ता करे। रात्रिमें यथासमय प्रमाद आने पर पञ्च परमेष्ठीका स्मरण करके निद्राको अंगीकार करे। यह श्रावककी सामान्य दिनचर्या है। विशेष रूपसे अपनी अपनी प्रतिमाके व्रतोंके अनुरूप कार्योंको करे तथा शान्तिदायक स्वपरोन्नतिकारक अन्य अन्य भी कार्य करना श्रावकका कर्त्तव्य है। इस प्रकार सुयोग्य रीतिसे धर्मपालन करते हुए जो श्रावक अपना समय व्यतीत करता है उसका संसार परिभ्रमण छूट जाता है और मानवजन्म सफल होता है ॥ १२० । १२१ ।

प्रश्नः—**गर्भाधानक्रियादीनां किंरूपं कति ताः वद।**

हेगुरु। गर्भाधानादि क्रियाएँ कितनी हैं और उनका क्या स्वरूप है, कृपाकर कहें-

(अनुष्टुप्)

गर्भाधानक्रियादीनां संस्काराणां यथायथम्।
काले काले विधिः कार्यः श्रावकैर्धार्मिकैर्मुदा ॥ १२२ ॥
येनाशुभक्रियायाः स्यान्निवृत्तिः सुखदे शुभे।
प्रवृत्तिः प्राणिनां श्रीदा सदा भूमण्डलेऽखिले ॥ १२३ ॥

गर्भाधानेत्यादिः—गर्भाधानादयः षोडशसंस्कारा भवन्ति श्रावकाणाम्। यथा घृतसंस्कारात् मृन्निर्मितोऽपि घटः चिक्कणो भवति तथा उत्तमसंस्कारात् बालका अपि धर्मात्मानः साहसिकाश्च भवन्ति। तदभावात् कुसंस्कारात् त एव पापिनः कातराश्च संजायन्ते। तस्मात् कारणात् समये समये गर्भाधानक्रियादीनां संस्काराणां विधिः धार्मिकैः श्रावकैः यथायथं सदा कार्यः। धार्मिकक्रियाप्रभावात् प्राणिनां अखिले भूमंडले सदा शुभे कार्ये श्रीदा प्रवृत्तिः सञ्जायते तथा अशुभक्रियातो निवृत्तिः। शुभप्रवृत्तिस्तु परम्परया मोक्षप्राप्तेरपि कारणं भवति। तस्मात् सर्वप्रयत्नतः बालकानां संस्कारः अवश्यमेव करणीयः १२२। १२३।

गर्भाधान आदि सोलह संस्कार हैं जो श्रावकोंको अवश्य करने चाहिये। जैसे घी के संस्कार से मिट्टीका घड़ा भी सचिक्कण होजाता है ऐसे ही उत्तम संस्कारों से बालक भी धर्मात्मा और साहसी बन जाते हैं। यदि बालकों को उत्तम संस्कार न हो तो बुरे संस्कारों के प्रभाव से वे ही बालक पापी और कायर बनते हैं। कुसंस्कारों के दुष्प्रभाव के अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष में देखे जाते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति यदि गुणी न भी हो तो वह दुर्गुणी नहीं बन सकता, इतना लाभ भी थोड़ा नहीं है।

जब बालक गर्भ में आता है उसी समय से माता के विचारों का प्रभाव उसपर पड़ता है, ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। अभिमन्यु जब माताके गर्भमें था तब चक्रव्यूहमें प्रवेश करनेकी तथा उसे तोड़नेकी कथा अर्जुन द्रौपदीसे कह रहे थे। वह कथा द्रौपदीके श्रवणके साथ साथ बालक पर भी असर कर रही थी। जब बालक जन्मा और १६ सालका हुआ तो कौरव पाण्डवोंके युद्धमें अर्जुनकी अनुपस्थिति में अभिमन्युने चक्रव्यूहमें प्रवेश किया। जब कि उसने इस विषयकी शिक्षा कहीं पाई नहीं थी, केवल गर्भस्थ अवस्थामें ही माताने सुनी थी, उतनेसे ही इसे ज्ञात था। यह कथा पुराणोंमें है। माताके गरम शीत आहारका बालकके शरीर पर असर पड़ता है यह सब लोग जानते हैं। इसीसे गर्भवती स्त्री को बालककी रक्षाके अभिप्रायसे बहुत सम्हाल कर रखते हैं। इससे यह सहज सिद्ध है कि गर्भसे लेकर ही यदि बालकको सुसंस्कृत किया जाय तो उसकी प्रवृत्ति धार्मिक होगी और वह पाप क्रियाओं से निवृत्त होगा। शुभप्रवृत्ति मोक्षका भी कारण बन जाती है। यह बात जगत्में प्रसिद्ध है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक बालकोंके संस्कार अवश्य करने चाहिये। १२२। १२३।

प्रश्न :—**कस्मै देयं गुरो ! दानं तत्फलं वा मुदा वद।**

हे गुरुदेव ! गृहस्थका धर्म—दान, पूजा, शील और तपके भेदसे सामान्यतः चार प्रकारका बताया गया है। उसमें यह जानना है कि दान किसे देना चाहिए और उसका क्या फल है। कृपा कर कहें—

(अनुष्टुप्)

यथायोग्यं क्षमाकर्त्रे नवधाभक्तिपूर्वकम्॥
अन्येभ्यश्च सुपात्रेभ्यो दानं देयं चतुर्विधम्॥ १२४॥
तद्दानाच्चक्रवर्त्यादेः सुखं लब्ध्वा यथाक्रमम्॥
दातारः शान्तिदं नित्यं प्रयान्ति मोक्षपत्तनम्॥ १२५॥ युग्मम्॥

क्षमायाः मूर्तिः परमदिगम्बरः निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रः निष्परिग्रहः निर्लोभः वांछाविरहितः वनवासकः परमब्रह्मचारी सर्वहितवांछकः सम्यग्दृष्टिः इत्युच्यते। एतल्लक्षणैः खलु साधुं परिज्ञाय तस्मै क्षमाकर्त्रे उत्तमपात्राय नवधाभक्तिपूर्वकं चतुर्विधं दानं देयम्। तदलाभे तु अन्येभ्यः सुपात्रेभ्यः मध्यमपात्राय धर्मात्मने सम्यक्त्ववते दानं देयं। तस्य फलं किमिति प्रश्ने उत्तरयति—यत् सुपात्राय ये दानं प्रयच्छन्ति ते भोगभूमौ उत्तमसुखमवाप्नुवन्ति। उत्तमपात्रदानस्य फलं उत्तमभोगभूमिः। मध्यमपात्रदानस्य फलं मध्यमभोगभूमिः। जघन्यपात्रदानस्य तु फलं जघन्या भोगभूमिः। तदनन्तरं निश्चिता स्वर्गप्राप्तिः। स्वर्गात्प्रच्युत्य उत्तमोत्तमपुरुषेषु ते उत्पद्यन्ते। चक्रवर्त्यादिविभूतिश्चानुभवन्ति। तथा क्रमशः यावत् कर्मनाशः न स्यात् तावत् सांसारिकसुखं लब्ध्वा दातारस्ते क्रमशः शान्तिदं शान्तिप्रदायकं मोक्षपत्तनं प्रयान्ति। १२४। १२५।

क्षमा की मूर्ति—परमदिगम्बर, इच्छारहित, समभावी, अपने हाथमें ही आहार करनेवाले, परिग्रह-रहित, लोभरहित, इन्द्रियविजयी किसी से याचना न करनेवाले, वन के एकान्त प्रदेशमें निवास करनेवाले, परम ब्रह्मचारी, सर्व जीवों के हितवाञ्छक, सम्यग्दृष्टि महापुरुष कहे जाते हैं। सच्चे साधुओं के ये ही लक्षण हैं। इनको दान देना परम पुण्यदायक है। ये सुपात्रों में उत्तम सुपात्र हैं। इनको अत्यन्त श्रद्धा भक्ति और विनय के साथ शास्त्रोक्त नवधा भक्तिपूर्वक विधवत् शुद्ध आहारादि देना उचित है। इनके लाभ न होने पर व्रती श्रावक मध्यमपात्रको और उसका भी लाभ न मिले तो धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि जघन्य सुपात्रको दान देना चाहिए।

उत्तमपात्रमें दानका फल उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न होना है, मध्यमपात्रके दानका मध्यम-भोगभूमि और जघन्य पात्रमें दानका फल जघन्य भोगभूमि है। वहांके सुख भोगकर भोगभूमिके जीव निश्चित स्वर्गगति पाते हैं। स्वर्ग सुखोंको अपनी आयुप्रमाण भोगकर उत्तम मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्तीकी भी विभूतिको प्राप्त करते हैं और अन्तमें सर्व कर्मोंका नाशकर परम शान्ति और सुखका स्थान जो मोक्षरूपी नगर है उसे सदाके लिए प्राप्त करते हैं, यह दान का फल है। ऐसा जानकर गृहस्थोंको प्रयत्न पूर्वक सत्पात्रोंमें प्रतिदिन दान देना चाहिए। १२४। १२५।

प्रश्नः—न ददाति धनाढ्योऽपि दानं स कीदृशो वद।

जो धनी होकर भी लोभादिके कारण दान नहीं करता वह कैसा है, कहिए—

(उपजातिः)

दानं धनाढ्योऽपि ददाति यो न।
गृही स मूर्खः सुखशान्तिबीजम्॥
आगामिकालस्य भिनत्त्यवश्यं।
नास्त्यत्र शङ्का तिलमात्रतोऽपि॥ १२६॥

दानमित्यादिः—धनाढ्योऽपि पुराकृतपुण्यकर्मोदयेन सर्वविभवसम्पन्नोऽपि यः मोही गृही विवेकरहितो भोगान् भुंक्ते किन्तु सुखशान्तिबीजं उत्तमदानं न ददाति। स आगामिकालस्य आगामिनि काले सुखशान्तेः बीजं भिनत्ति भाविजन्मनि अशान्तः दुःखी दरिद्री च भवति। नास्त्यस्मिन् विषये तिलमात्रतोऽपि शङ्का। १२६।

सांसारिक सुख और शान्तिदायक सामग्रीका संयोग इस जीवको अपने पूर्वकृत पुण्योदयसे प्राप्त होता है। यह जीव संसारमें सुख, दुख, संपत्ति, विपत्ति, दारिद्र और ऐश्वर्य, शिष्ट या दुष्ट समागम, कीर्ति-अपकीर्ति, मित्र-शत्रु, संयोग-वियोग, भवन-वन आदि साता या असातादायक सामग्रीकी प्राप्ति अपने पुण्य और पाप कर्मके उदयसे ही प्राप्त करता है। पुण्योदयके अभावमें प्राप्त सुख सामग्री भी क्षणकालमें विलीन हो जाती है।

इस सत्यका ज्ञान जिनको नहीं और जो अहंकार वश सातासामग्री की प्राप्ति का कर्ता स्वयं को मानता है वह अविवेकी गृहस्थ मोहान्ध है। उसे वस्तुतत्त्व का किञ्चित् भी बोध नहीं है। वह भाग्यहीन अपने पैरों पर खुद कुल्हाड़ी पटकता है। उसे यह ज्ञान नहीं है कि उत्तम सत्पात्रोंके दानके फलसे ही उस सातिशय पुण्यका बन्ध होता है जिससे यह साधारण विभव की क्या गणना इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूति भी चरणोंमें लोटती है। वह उस मूर्ख की तरह है जो मूलकी पूंजी खाले और भविष्यके लिये कोई उद्योग न करे। अथवा उस मूर्ख किसान की तरह है जो बीजके योग्य धान्यको

योग्य समय पर योग्य भूमि में वपन नहीं करता और उसे खाकर ही अपने को धन्य मानता है, ऐसा किसान कुछ समय बाद अपनी करनी पर स्वयं पछतायगा।

उत्तम पात्रमें दिया हुआ दान उत्तम भूमि में यथासमय प्राप्त बीज की तरह महान् शान्तिदायक फलवान वृक्षको प्रदान करता है। जो इस सत्यभूत रहस्य को नहीं जानता अथवा मोह या लोभवश जान कर भी भुला देता है और अहंकारके वश हो उत्तम पात्रों का सम्मान नहीं करता वह आगामी जन्ममें भाग्यहीन दरिद्र दुखी होता है इसमें तिलतुप मात्र भी शंका नहीं करनी चाहिए। १२६।

प्रश्नः—**किं पुरुषार्थचिह्नं मे तत्फलं भो गुरो वद।**

हे गुरुवर! धनादिकी प्राप्ति यदि पुराकृत पुण्य से होती है, स्वयंके पुरुषार्थ से नहीं होती तो पुरुषार्थ फिर क्या है और उसका क्या फल है? कृपया कहिए—

(अनुष्टुप्)

अस्ति कार्योत्तमो लोके पुरुषार्थश्चतुर्विधः॥
इन्द्रियातीन्द्रियादीनां सत्सुखानां प्रदायकः॥ १२७॥
कार्यो ज्ञात्वेत्यतो भव्यैर्धर्मार्थादिचतुर्विधः॥
पुरुषार्थो यतः श्रीदोऽभीष्टसिद्धिर्भवेत्तव॥ १२८॥ युग्मम्॥

अस्तीत्यादिः—तात्पर्यमेतत्—धर्मपालनं अर्थोपार्जनं कामभोगः मोक्षोपायश्चेति चतुर्विधः पुरुषार्थः। पुरुषार्थसाधकः खलु वीरः साहसिको भवति। ये पुरुषार्थं न साधयन्ति त एव प्रमादिनः संसारसागरे निमज्जन्ति। संसारेऽपि तेषां ऐन्द्रियमपि सुखं न सञ्जायते। दुःखमेवानुभवन्ति सविभवा अपि। आद्यपुरुषार्थत्रयसाधकाः खलु श्रावकाः मोक्षोपायं कुर्वन्तः खलु साधवश्च भवन्ति। इति नियमानुसारेण श्रावकैः पुरुषार्थत्रयं साध्यम्। सर्वेषामाद्यः पुरुषार्थः खलु धर्मपुरुषार्थोऽस्ति। धर्मेण विना न कश्चित्पुरुषार्थः साध्यः। धर्मस्य फलं मोक्ष एव प्रधानतया भवति। यावन्न स्यान्मोक्षः तावत् सांसारिकसुखावाप्तिः खलु धर्मस्य फलमुच्यते। जैनमार्गे सांसारिकसुखस्य महत्त्वं नास्ति यतस्तत् कर्मफलमस्ति। यत्किल स्वात्मसुखं न तत् कर्मनिमित्तम्। किन्तु कर्माभावे एव यस्योत्पत्तिरस्ति तदेव यथार्थसुखं नित्यं शाश्वतं अविचलितं निरतिशयं परिपूर्णं स्वभावरूपं स्वानुकूलमस्ति। मोक्षे स एव लभ्यते अतो मोक्ष एव सर्वोपरि पुरुषार्थः। धर्ममार्गविरहितमर्थोपार्जनं खलु चौर्यमेव। धर्मेणार्थोपार्जनन्तु गृहिणो धर्मः। अधर्मेणोपार्जितं वित्तं पापकरणाय प्रेरयति नाना पापान्युत्पादयति येभ्यः खलु जीवाः नरकादिषु नानादुःखान्यभवन्ति। तस्मात् दुःखभीतैः कदापि अनैतिकसरण्या नोपार्जनीयं वित्तम्। उद्योगं विना चौर्यादिना विश्वासघातेन परवञ्चनेन परापहरणेन सञ्चितं धनं तृतीयपुरुषार्थमपि विनाशयति। चतुर्थपुरुषार्थस्य कथा तु दूर एव। तृतीयपुरुषार्थः खलु कामभोगः। कामेन स्वेच्छया स्वसंतोषार्थं स्वेच्छारूपव्याकुलतानाशार्थं यत् भुज्यते स कामभोगः। एषोऽपि धर्मार्थपुरुषार्थयोरविरोधेनैव सेव्यः नान्यथा। यः खलु एतत्सर्वमविचार्य भुंक्ते तस्य भोगाधारभूतयोर्धर्मार्थयोरभावे भोगोऽपि नश्यति। अतिमात्रया भोगोपभोगसेवनादर्थो नश्यति धर्मविरहितः सन्नधर्ममपि भजते। अधर्मात् पापसञ्चयो भवति पापोदयाद्दुःखमनुभवति। भोगातिसेवया शरीरमपि जर्जरीभवति रोगाक्रान्तञ्च। सरुक्शरीरेण भोगोपभोगासमर्थेन न किमपि साध्यते लौकिकं पारलौकिकं वा। तस्मादन्यपुरुषार्थाविरोधेनैव स सेवनीयः। इत्येवं प्रकारेण पुरुषार्थत्रयमैन्द्रियसुखसाधनं भवति। परस्परानुकूल्येनाविरोधेन तत् सेव्यम्। पुरुषार्थी एव वित्तवान् प्रहृष्टशरीरः धर्मात्मा न्यायप्रियः देशोद्धारकः विश्वकल्याणकारकः परमसुखी भवति। संसारपरिभ्रमणकारणभूतानां कर्मणां विनाशाय यन्मोक्षार्थिभिः व्रतसमितिगुप्तिधर्मादिकमङ्गीक्रियते तन्मोक्षपुरुषार्थः, अयं स्वोत्थं निरतिशयं

सुखमनुभवति जीवः इन्द्रियसंबंधरहितोऽपि । इति पुरुषार्थचतुष्टयमपि लोके सर्वोत्तमं कार्यमिष्टसिद्धिकारकमस्ति तस्मात् स्वहितैषिभिर्न कदाचिदपि पुरुषार्थहीनं जीवनं यापनीयमिति ।१२७।१२८।

धर्मका पालन, अर्थका उपार्जन करना, प्राप्त भोगोपभोगोंका सेवन और मोक्षप्राप्तिका प्रयत्न ये चार पुरुषार्थ हैं। इसका दूसरा नाम है उद्यम, उद्योग और उन्नति। जो इसे साधते हैं वे वीर और साहसी होते हैं तथा लौकिक और पारलौकिक सुखको भोगते हैं। और जो लोग पुरुषार्थको अङ्गीकार नहीं करते वे प्रमादी होकर पारलौकिक सुखकी बात तो दूर रही इस लोकमें भी दुखी रहते हैं और पशुतुल्य जीवन व्यतीत करते हैं। उक्त चारों पुरुषार्थोंमें से आदिके तीन पुरुषार्थोंको साधनेवाले श्रावक या गृहस्थ होते हैं, और आत्मीय पुरुषार्थका साधनेवाले साधु कहलाते हैं।

सब पुरुषार्थोंका मूल धर्मपुरुषार्थ है। उसके साथ रहने पर शेष तीन पुरुषार्थ संज्ञाको प्राप्त होते हैं, अन्यथा वे भी पुरुषार्थ नहीं कहलाते। प्रत्येक गतिमें लोभादि कषायोंके उदयसे जीव कुछ न कुछ संग्रह का प्रयत्न करता है पर वह अर्थ पुरुषार्थ नहीं हो सकता। जबतक कि वह धर्म और नीतिसे संयुक्त न हो और उसका उद्देश्य अपना, अपने कुटुंबका, अपनी जाति व देशके भाइयोंका तथा दीन और दुखी भाइयों का परिपालन न हो। यह पुरुषार्थी ही जिनालय निर्माण करा सकता है, पापनाशक उत्तमोत्तम श्रद्धा और भक्तिसे परिपूर्ण पूजा विधानादि कार्य कर सकता है। दीन दुखियोंका उद्धार कर सकता है। उक्त पात्रोंको दान देकर अपना जन्म सफल कर सकता है। जो उक्त प्रकारके पुरुषार्थहीन हैं वे केवल अपने उत्तरकी पूर्ति ही येन केन प्रकारेण कर सकते हैं पर अन्य धर्मके और परोपकारके काम उनसे नहीं हो सकते।

इसी प्रकार जो न्यायनीतिपूर्वक प्राप्त भोगोपभोगोंका सेवन नहीं करता तथा चोरी आदिसे, परवञ्चनासे, विश्वासघातसे छीनकर धनसंग्रह करता है वह कभी काम पुरुषार्थका साधन नहीं कर सकता। धर्मका यथासमय साधन करते हुए अपनी न्यायपूर्वक बनाई हुई आर्थिक स्थितिके अनुसार जो भोगोपभोग सेवन करता है वही तृतीय पुरुषार्थवाला है। अन्यथा यथाप्राप्त भोगोंको पशु भी भोगते हैं। देव भी भोगते हैं। नारकी तो पापसामग्रीका भोग है। पर यह सब काम पुरुषार्थ नहीं है। भोग पुरुषार्थी केवल शारीरिक तृष्णाकी शान्तिके लिए अपने मनका संयम रखते हुए ही भोग करता है। मात्रासे भोजन करता है, मात्रासे वस्त्र पहिनता है, मात्रासे ही चक्षु और श्रोत्रके विषयोंको अंगीकार करता है। मात्रासे ही सुगंधि सेवन करता है। मात्रासे ही स्त्री भोग करता है। अतिमात्रासे सेवित ये सब विषय व्यक्तिको निर्धनी तथा शरीर संपत्ति रहित बना देते हैं। वह अधर्म सेवनमें प्रवृत्त हो जाता है और पापसञ्चय कर इस लोकमें भी निन्द्य जीवन व्यतीत करता है और परलोकमें भी नरकादिकोंमें अनेकानेक दुखोंका भागी होता है।

उक्त प्रकारसे परस्परकी अनुकूलतासे सेवित ये तीनों पुरुषार्थ उद्यम या उद्योग कहलाते हैं। ये गृहस्थ को ऐन्द्रियक सुखसाधनके कारण होते हैं। पुरुषार्थी ही धनवान्, कीर्तिमान्, परिपुष्टशरीर, सुन्दराकृति, यौवन सुखका भोक्ता, धर्मात्मा, न्यायप्रिय दक्ष और विश्वका कल्याणकर्त्ता तथा परम सुखी होता है।

चौथा पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ है। संसार परिभ्रमणका मूल हेतु परम्परा या अनादि कालसे यह कर्म है, उसके नाश करनेके लिए ही मोक्षार्थीका सतत प्रयत्न है। व्रत-समिति-गुप्तिका पालन, भावना और दस धर्मोंका अंगीकार, परीषह और उपसर्ग पर विजय, उत्तमोत्तम ध्यानोंका आराधन ये सब मोक्षार्थीके प्रयत्न हैं। इन प्रयत्नोंमें सर्वत्र धर्म पुरुषार्थका साम्राज्य है। धर्मरहित क्रियायें निवृत्तिके लिए

साधक नहीं होतीं। जैसे कि इष्ट स्थानको जानेके लिए निरुद्देश्य गति या नेत्रहीनकी गति सफलता नहीं प्राप्त करा सकती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान विहीन चारित्र मुक्तिका साधन नहीं है, अतः धर्म पुरुषार्थ युक्त होनेसे ही यह सब तपस्या चारित्रसंज्ञाको प्राप्त होकर मोक्षकी साधन है। शीत, घाम की परिषह, आई हुई अनेक विपत्तियाँ पशु और नारकी भी सहते हैं पर सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान विहीन वे पराधीनतासे स्वीकृत क्रियाएं चारित्र नामको नहीं पा सकतीं, अतः वे मोक्ष पुरुषार्थके प्रयत्नोंमें सम्मिलित नहीं हैं। अतः धर्मसंयुक्त उक्त प्रयत्न ही मोक्षका साधन हैं। साधक उनके द्वारा ही मुक्तिको प्राप्तकर लेता है। जहाँ पर कि यथार्थ इन्द्रियाधीनतासे विमुक्त, निरन्तराय, शाश्वत, अद्विग,परिपूर्ण,स्वभावरूप, अछेद्य, अविनश्वर, सर्व दुखातीत और स्वात्मोत्थ सुख प्राप्त होता है।

मानव गतिमें ही और उसमें भी पूर्णतया पुरुष वर्ग द्वारा ही ये चारों साध्य हैं, अतएव ये पुरुषार्थ कहलाते हैं। इनके पुरुषार्थ नामकरणका यही एकमात्र हेतु है। यदि अन्यत्र भी ये साध्य हो सकते या स्त्री और नपुंसकों द्वारा भी साधे जा सकते तो इनका नाम पुरुषार्थ न होकर और कुछ ही होता। जो मनुष्य गति और पुरुष जन्म पाकर भी इनका साधन न करें तो उन जैसा मूर्ख प्राणी एक पशु क्या कीट पतंग भी नहीं है। अंधा गिरे तो मूर्ख नहीं परन्तु सूझता यदि गिरे तो वह मूर्ख है और सनेत्र होने पर भी अन्धेके ही बराबर है। ऐसा विचारकर बुद्धिमान् पुरुषोंको अपने लौकिक और पारलौकिक इन्द्रियजन्य या स्वात्मोत्थ अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न पूर्वक चारों पुरुषार्थोंका अपने अपने पदानुकूल यथायोग्य रीतिसे पालन करना चाहिए। पुरुषार्थी गृहस्थ ही मोक्ष पुरुषार्थी होता है। पुरुषार्थीका मानव जीवन ही सफल है। अतः स्वपर हितैषीको पुरुषार्थी बनना चाहिए।१२७।१२८।

प्रश्न :—**चातुर्मासेऽन्यकाले वा कथं कार्यं धनार्जनम्।**

वर्षा ऋतुमें या अन्य समयमें धनार्जन किस प्रकार करना चाहिए, कृपाकर कहिये—

(अनुष्टुप्)

मुख्यरीत्याष्टमासे हि कार्यं नीत्या धनार्जनम्॥
वर्षाऋतौ चतुर्मासे मुख्यतो धर्मसाधनम्॥ १२९॥
पूर्वोक्तिविधिरेवं हि विधेयः शान्तिदः सदा॥
यतः स्यादुभये लोके सततं स्वेष्टसङ्गमः॥ १३०॥ युग्मम्॥

मुख्येत्यादिः—तात्पर्यमेतत्—एकस्मिन् संवत्सरे द्वादश मासाः भवन्ति। तेषु आषाढमासस्य आष्टाह्निकमहापर्वतो प्रारभ्य कार्तिकमासाष्टाह्निकमहापर्वपर्यन्तं मासचतुष्के वर्षाऋतुः स्यात्। अस्मिन् काले यतय एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसन्ति। वर्षानिमित्तेन तदा अनन्तजीवराशयः समुत्पद्यन्ते गमनागमनतश्च म्रियन्ते। सर्वा भूमिस्तदा एकेन्द्रियवृक्षादिभिस्तथा द्वीन्द्रियादिसम्मूर्छनजैराकुला भवति तस्मादेव तेषां गमनागमनं तदा शास्त्रे निषिद्धमस्ति। व्यापारादिकार्याण्यपि तदा मन्दंमन्दं प्रचलन्ति। अतएव एष सुयोगः श्रावकैर्न विफलीकर्त्तव्यः। तदा मुख्यतो धर्मसाधनमेव कर्त्तव्यम्। यतस्तेषां परमवीतरागाणां सन्निधानात् सुवर्णे सुगन्धिसंयोगो भवति। यथा शेषं मासाष्टकं मुख्यरीत्या व्यापारादिकार्याणां साधकं तथैव चातुर्मासः धर्मसाधनस्य साधकं वर्तते। मासाष्टकेऽपि नीत्यैव धनार्जनं कर्त्तव्यं धर्मभीरुभिः। व्यापारस्य प्रयोजनं च केवलं येन केनापि प्रकारेण धनार्जनमेव, किन्तु स्वपरिश्रमानुकूल्येन अन्येषामपि लाभमविराधयतो न्यायेन स्वाधिकारप्रमाणं राज्यनियमेन व्यवहारिकजननियमितेन च विधिना सम्मतं वित्तोपार्जनं एव तस्य मुख्यमुद्देश्यम्। तस्माल्लब्धप्रमाणादेव द्रव्यात् संतोषेण निर्वाहः करणीयः। एवं कृते सत्येव अत्र परत्र च स्वेष्टस्य सङ्गमो भवति। १२९। १३०।

वर्षमें १२ मास होते हैं। इनमेंसे आषाढ़ी आष्टान्हिकासे कार्तिकी अष्टान्हिका तकके ४ मास वर्षा ऋतु कहलाती है। जलवृष्टिके कारण इस कालमें सम्पूर्ण भूमि असंख्य त्रस और स्थावर जीवोंसे संकुल हो जाती है और गमनागमन आदिमें मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारणसे यति भी जिनका आठ मास पर्यन्त नियमित विहार होता है इन दिनोंमें एक ही क्षेत्रमें निवास करते हैं। इस समय वर्षाके कारण व्यापारियोंका भी आवागमन बन्द हो जानेसे व्यापार भी मन्थर गतिसे चलता है। अतएव ऐसा सुन्दर सुयोग श्रावकोंको व्यर्थ न खोना चाहिये। इन दिनोंमें मुख्यतासे धर्मसाधन करना चाहिए।

जैसे बाकीके आठ मास व्यापार आदि कार्योंके साधक हैं ऐसे ही ४ मास धनोपार्जनके मुख्य साधक हैं। परम वीतराग गुरुओंका सङ्गम इस समय सोनेमें सुगंधकी कहावतको चरितार्थ करता है। इन आठ महीनोंमें भी नीतिसे धनार्जन करना चाहिये। व्यापारका मूल उद्देश्य जिस किसी प्रकारसे धनसंग्रह नहीं है। उसका उद्देश्य अपने परिश्रमके अनुकूल दूसरोंके लाभके अधिकारको न बिगाड़ते हुए न्याय प्राप्त अपने अधिकार प्रमाण राज्यके नियमानुकूल तथा महाजनों द्वारा नियमित विधिसम्मत उपयुक्त द्रव्यका प्राप्त करना तथा उतनेमें ही संतोषपूर्वक आजीविका निर्वाह करना ही है। ऐसा करने वालोंका ही शान्तिकी प्राप्ति और इष्ट प्राप्ति होती है। १२९। १३०।

प्रश्न :—**अहिंसाधर्मवृद्धयर्थं किं किं कार्यं जनैः सदा ॥**

श्रावकको क्या क्या करना उचित है जिससे अहिंसा परमधर्मकी वृद्धि हो। कृपया बतलाइए—

(अनुष्टुप्)

स्वदेशोद्धारकार्येऽपि यतन्तां श्रावकाः मुदा ॥
धर्मार्थमपि सर्वत्र गच्छन्तु स्वात्मसिद्धये ॥ १३१ ॥
यतः स्याज्जैनधर्मस्य प्रसिद्धिः सर्वभूतले ॥
श्रावकाणां परं जन्म सफलं स्याद्विशेषतः ॥ १३२ ॥ युग्मम् ॥

अहिंसा एव परमो धर्मः सर्वकल्याणकारकः। तन्महत्त्वं खलु लोके यथा यथा विस्तृतं भविष्यति तथा तथा स्याल्लोककल्याणम्। तत् कथं विस्तृतो भविष्यति इति प्रश्ने सति आचार्य आह श्रावकाः मुदा स्वदेशोद्धारकार्ये यतन्ताम्। तथा धर्मार्थमहिंसाधर्मप्रचाराय सर्वत्र भूमण्डले स्वात्मधर्ममविराधयन्तो गच्छन्तु। यतो जैनधर्मस्य जिनोपदिष्टवीतरागधर्मस्य सर्वभूतले प्रसिद्धिः प्रचारश्च स्यात् श्रावकाणां परमुत्कृष्टं जन्म जीवनं विशेषतः सफलं स्यात्। १३१।१३२।

श्रावकोंको अपने देशके उद्धारके लिए भी सदा प्रयत्न करना चाहिए। तथा अहिंसा धर्मके प्रचारके लिए उन्हें सभी जगह जाना चाहिए। इससे विश्वके कोने कोनेमें जैन धर्मकी प्रसिद्धि, प्रभावना और प्रचार होगा और श्रावकोंका उत्कृष्ट मानव जन्म भी सफल होगा।

विशेषार्थ—अहिंसा परम धर्म है। वह विश्वका कल्याणकारक है। उस परम धर्मका जितना विस्तार संसारमें होगा उतना ही लोकका कल्याण होगा। ग्रन्थकार पूज्य आचार्य महाराजने ग्रंथ निर्माणके समयकी आवश्यकताका अनुभवकर यह बताया है कि हिंसा प्रधान जीवनवाले अंग्रेजोंके द्वारा पराधीन किए हुए अपने देशका उद्धारकर अहिंसा धर्मकी रक्षा करना श्रावकोंका परम कर्त्तव्य है। तथा इसी प्रकार हिंसाबहुल देश जैसे ब्रिटेन, अमेरिका रूस और जर्मनी आदिमें जाकर वहाँसे हिंसाका प्रभाव हटाकर अहिंसा धर्मका भाव अंकित करना चाहिए। वहां जाना दोषास्पद नहीं है। दोषोंका उत्पादन तो सर्वत्र प्रत्येक व्यक्तिके आधीन है। विदेशोंमें जाकर भी अपने पवित्र धर्मकी रक्षा करनेवाले अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं और अनेक स्वदेशमें विद्यमान होते हुए भी हिंसा करते हैं।

भारत निवासी अहिंसक हों और उनके बाहिर विदेशोंमें रहनेवाले हिंसक ही हों ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। सब लोग सर्व देशमें धर्म या अधर्म पालनेके लिए स्वेच्छासे समर्थ ही हैं। इसलिए जिन धर्म की प्रभावनाके लिए सम्पूर्ण भूमण्डलमें भी जाना पड़े तो जाना उचित है। अपने परमप्रिय अहिंसा धर्मका परिपालन करते हुए कहीं भी जाना अधर्म नहीं है। धर्म प्रभावनासे ही मानव जन्म सफल है। अतः सर्व प्रकारके प्रयत्नों द्वारा सम्पूर्ण विश्वमें अहिंसाका डंका बजाओ और हिंसाको दूर करो। इस पवित्र कार्यसे तुम्हारी मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति सार्थक होगी और परम्परासे मुक्तिकी प्राप्ति भी सुगम होगी। १३१। १३२।

प्रश्नः—**वात्सल्यभावो ध्रियते किमर्थं गुरो कृपाब्धे वद मे हितार्थम्।**

हे कृपासिन्धु गुरुदेव ! वात्सल्य भाव किसलिए धारण किया जाता है ? कृपाकर मेरे हितके लिए निरूपण कीजिए—

(इन्द्रवज्रा)

मिथ्याप्रपञ्चं प्रविहाय मोहं आद्यैश्चिदानन्दपदाश्रितैर्वा ॥
वात्सल्यभावोऽपि मिथः प्रशान्त्यै सर्वैश्च सार्धं सततं विधेयः ॥ १३३ ॥

मिथ्येत्यादिः—पारस्परिके व्यवहारे य खलु शिष्टाचारः प्रदर्श्यते स उचित एव सज्जनानाम्। तथापि तत्र स व्यवहारः सरलचित्तेनैव करणीयः। केवलं मिथ्याप्रपञ्चेन मात्सर्येण छलेन वा कृतोऽपि सद्व्यवहारो न गुणाय प्रभवति। ये खलु काञ्चनकामिन्यादिषु स्वेन्द्रियभोगेषु च मोहितमतयः स्वार्थसाधनायैव सभ्यतायाः मिथ्याप्रपञ्चं वितन्वन्ति न ते कदाचिदपि लोके कीर्तिं लभन्ते। एतान्मायाविनो न कश्चित्प्रत्येति लोके तस्मात् सम्यग्दृष्टिभिः श्रावकैः स्वचैतन्यसुखास्वादिभिः प्रशान्त्यै परमशान्तिप्राप्त्यर्थं परस्परं निष्कपटचित्तेन धर्मप्रेम्णा वात्सल्यभावो विधेयः। १३३।

परस्परके व्यवहारमें जो शिष्टाचार प्रदर्शन किया जाता है वह शिष्ट पुरुषोंके योग्य ही है, अनुचित नहीं है, किन्तु वह सरलचित्तसे करना चाहिए। केवल मायाचारसे मिथ्या प्रपञ्च करना और झूठे ही सद्व्यवहारका प्रदर्शन करना हानिके लिए ही है, लाभके लिए नहीं। जो अपने इन्द्रिय भोगोंमें तथा इन्द्रिय भोगोंके लिए उपयोगी धन स्त्री आदि पदार्थोंमें मोहित बुद्धिवाले हैं वे केवल अपने स्वार्थ साधन के लिए ही सभ्यताका ढोंग करते हैं, ऐसे मायाचारी पुरुष लोकमें अपकीर्तिके ही भागी होते हैं। लोग उनका कभी विश्वास नहीं करते।

मायावीका नम्र व्यवहार चूहे पकड़नेके लिए शान्त और नम्रतासे बैठी हुई बिल्लीके व्यवहारके समान झूठ स्वार्थोंसे परिपूर्ण होता है। लोकमें उसे बिलैया-दण्डवत कहते हैं। ऐसा असद्व्यवहार या कपटविशिष्ट शिष्ट व्यवहार सम्यग्दृष्टि श्रावक कभी नहीं करता। जिन इन्द्रिय भोगोंके साधनेके लिए यह कपटका वेष रखा जाता है सम्यग्दृष्टि उन इन्द्रिय भोगोंको हेय और क्षणस्थायी मानता है। वह उन्हें आत्महितके प्रतिकूल समझता है तब वह उसे कैसे स्वीकार कर सकता है। अपने परम शुद्ध चैतन्य स्वरूपमें रमण करनेवाला और उस आत्मसुखके स्वादका अनुभवन करनेवाला वह सम्यग्दृष्टी श्रावक सदा ऐसे मिथ्याप्रपञ्चसे दूर रह कर सभी साधर्मी बन्धुओंके साथ उनकी सब प्रकारकी उन्नतिकी कामना रखते हुए प्रेमभाव रखता है, सहानुभूति रखता है। विपत्तिमें उनका साथ देता है, उनकी सब प्रकारसे सहायता करता है। इस प्रकारके पारस्परिक सद्व्यवहारसे वह अपनी पूरी समाजमें शान्तिका स्रोत बहा देता है जो फैलने पर एकसाथ संसार भरकी अशान्तिको हर लेनेमें समर्थ है। १३३।

प्रश्नः—कथं क्षमादयो धर्माः पाल्याः प्रसिद्धये गुरो वद ।
हे गुरुदेव ! क्षमादि धर्मोंका पालन कैसे करना चाहिए, कृपाकर मेरी इष्ट सिद्धिके लिए कहिए—

(अनुष्टुप्)

यथाशक्ति क्षमादीनां धर्माणां पालनं मुदा ।
स्वात्मसिद्धये सदा कार्यं चानुप्रेक्षादिचिन्तनम् ॥ १३४ ॥

यथेत्यादिः—पारस्परिके व्यवहारे वात्सल्यव्यवहारवत् क्षमादीनामपि व्यवहारः तथा तत्पालनं कर्त्तव्यम् । तद्व्यवहारः किल स्वलाभाय परलाभाय च प्रभवति । अनित्यानुप्रेक्षाणामपि चिन्तनं सदा कार्यं यतः स्वात्मसिद्धिः भवति । मोहितबुद्धयस्तु न जानन्ति वस्तुनोऽयथार्थस्वरूपम् । इत्यस्मादेव वस्तुस्वरूपविवेचनं सदा कार्यमेव दुर्बुद्धिदूरीकरणाय, यद्यपि उत्तमक्षमादीनामुपयोगः द्वादशानुप्रेक्षाणामपि चिन्तनं क्रियते साधुभिस्तथापि तदेकदेशः श्रावकैरपि विधेयो यथाशक्ति । १३४ ।

यद्यपि उत्तम क्षमादि धर्मोंका पालन तथा बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन साधुजन करते हैं तथापि उसका एकदेश श्रावकोंको भी पालन करना चाहिए । क्रोधके कारणोंकी उपस्थितिमें भी मन पर संयमन करना उसे विकृत न होने देना **उत्तमक्षमा** है । ऐसी उत्तम क्षमा कायरोंकी क्षमा नहीं है । मन पर विजय पाना बहुत बड़े साहसी और वीर पुरुषका काय है । बदला न लेना या न ले सकना क्षमा नहीं है, वह तो शक्तिके अभावकी पराधीनता है । वहाँ मन तो विकारी है । जहाँ मन विकारी न होकर सामर्थ्यवान है तथा बदला न लेनेकी भावना है वह क्षमावान् है । इस क्षमा गुणसे गृहस्थ भी पारस्परिक वैरको खोकर महानुभूति । पात्र बनकर लोकपूज्य हो जाता है । जबकि क्रोधसे और बदला लेनेसे वैर और अशान्ति ही बढ़ती है । ऐसा होने पर भी गृहस्थ एकान्त क्षमा पालनेके योग्य पात्र नहीं है । गृहस्थ होनेके नाते उसपर स्त्री बालबच्चोंके परिपालन का भार है । देश, धर्म व समाजका भार है, अतः जब कोई दुष्ट अनेक प्रकारसे समझाने पर भी विना कारण दुष्टता करता है, सताता है, धर्म नष्ट करता है, धर्मात्माओंके धर्मपालन करनेमें विघ्न करता है, शान्ति को स्थिर नहीं रहने देना चाहता, तब वह सम्यग्दृष्टी गृहस्थ उसके अशान्तिपूर्ण कार्योंको सभी संभव उपायोंसे रोकता है । धर्मात्माओंकी रक्षा करता है । उसके इस प्रयत्नमें दुष्टके ऊपरसे क्षमाका भाव दूर हो जाता है, उसे दण्ड देना पड़ता है, उसकी मृत्यु हो जाती है । इतना बड़ा अनर्थ भी उस क्षमाशील गृहस्थको अंगीकार कर लेना पड़ता है उससेभी बड़े अनर्थसे बचनेके लिए ।

यदि गृहस्थ ऐसा न करे तो संसारमें शान्तिके इच्छुक क्षमाशील करोड़ों भी सज्जन हों तो एक ही अशान्त दुष्ट अपने असत् कृत्योंसे उनकी शान्तिमें बाधा उपस्थित कर वनमें सिलगनेवाली अग्निकी एक चिनगारीके समान समस्त सज्जन वनको अपनी ज्वालासे अशान्त बना सकता है । अतः उनके प्रति द्वेषसे नहीं किन्तु सज्जनोंकी रक्षाके लिए उनका रोध आवश्यक समझ कर वह अपनी शान्तिको तब तकके लिए तिलाञ्जलि दे देता है जबतक कि वह उसके असत प्रयत्नोंको विफल न करदे । उसकी यह अशान्त क्रिया शान्तिरक्षाके लिए है शान्ति भंगके लिए नहीं । गृहस्थके लिए जितनी आवश्यकता क्षमाकी है उतनी ही आवश्यकता क्षमाशीलोंके संरक्षणकी भी है । उसके बिना सारा विश्व अशान्त हो सकता है अतः क्षमाशीलोंके संरक्षण करते हुए ही गृहस्थको क्षमाशील होना चाहिए ।

क्षमाके साथ ही सद्गृहस्थको उत्तम विनय गुणका भी पालन करना आवश्यक है । इसे **उत्तममार्दव** नामका दूसरा धर्म कहा है । अहंकार अनेक गुणोंको भी दूषित करनेवाला है । ज्ञानका

विनय, ज्ञानवानका विनय, माता पिताका विनय, गुरुजनोंका विनय, वयोवृद्धका विनय, चारित्रधारीका विनय, ये सब विनय उसके हृदयमें सदा विद्यमान रहते हैं। तुच्छसे तुच्छ और हीन तथा दरिद्रका भी कभी निरादर नहीं करता। वचनमें, व्यवहारमें, हृदयमें सर्वत्र नम्रता रखना उसका गुण है। निरहंकारता उसके जीवनमें सदा रहती है और इसीलिए अनेक गुणवानोंकी सङ्गतिसे उसके उस नम्रहृदयमें सद्‌गुणों के अङ्कुर जल्दी उत्पन्न हो जाते हैं।

आर्जव अर्थात् सरलता, विश्वस्त व्यवहार करना तथा किसीके साथ कपटका या विश्वासघातका व्यवहार न करना **उत्तम आर्जव** है। परमप्रिय, हितकारी व मिथ्यात्वसे रहित वचनवालेका **सत्यवचन** नामक धर्म है। लोभादि कषायोंके परित्यागसे होनेवाली हृदयकी पवित्रता **शौचधर्म** है। अनेक लोग तीर्थ स्नानको शौच कहते हैं पर यह धारणा मिथ्या है। आत्मामें पवित्रता आती है हृदयकी शुद्धिसे और हृदयकी शुद्धि होती है उदारतासे, संतोषसे, परोपकारकी भावनासे, अतः केवल तीर्थस्नानमात्र पवित्रताका हेतु नहीं है। अपनी मानसिक पवित्रताकी रक्षाके लिए सब जीवों पर दयाभाव रखकर अपनी इन्द्रियोंको वश करना **उत्तम संयम** है। अपने उक्त गुणों पर अटल रहनेवाले गृहस्थ पर अनेक विपत्तियाँ आती हैं, अनेक कष्ट सहना पड़ते हैं व धर्मरक्षार्थ उन सब कष्टोंको सहना ही गृहस्थका **उत्तम तप** है। पुण्यचरित्र पुरुषोंकी सेवा व परोपकारके लिए स्वार्थका व भोगोपभोगोंका त्याग ही उसका **उत्तम त्याग** है। स्वपर पदार्थमें आत्मबुद्धि और अनात्मबुद्धि होना तथा स्वातिरिक्त स्त्री, पुत्र, कलत्र धन, धरा, आराम व भवनादिको पर पदार्थ समझना-यह जानना कि इनमें कोई भी मेरा नहीं है यह **आकिञ्चन्य धर्म** है। आत्मस्वरूपमें लीन रहना व उसे ही ग्राह्य मानना उत्तम **ब्रह्मचर्य** है। ये दश धर्म आत्माके कल्याणकारक उत्तम धर्म हैं। इन सबका यथायोग्य पालन गृहस्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक करता है

वह अनित्यादि द्वादश भावनाओंको भी भाता है। ये भावनाएँ कल्पित भावनाएँ नहीं हैं, किन्तु संसारके वास्तविक स्वरूपकी निरूपक हैं। इनको विस्मृत करनेसे ही हम संसारमें भटक रहे हैं। जगत्‌की विनश्वरताका चिन्तवन **अनित्य भावना** है। जगतके सब पदार्थ स्वतंत्र हैं, किसीका कोई बनाव बिगाड़ नहीं कर सकता अतएव मेरे लिए मेरे सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है, ऐसा विचारना ही **अशरण भावना** है। संसारकी विषमताका चिन्तवन उसके स्वरूपका विचार ही **संसार भावना है**। परपदार्थों से आत्माका पृथक्त्व **अन्यत्व भावना** और आत्माके एकाकीपनका चिन्तवन **एकत्व भावना है**। वैराग्यकी प्राप्तिके लिए शरीरका मोह त्यागकर उसके वास्तविक अपवित्र स्वरूपका चिन्तवन करना **अशुचि भावना** है। अपने किन किन दुरभिप्रायों व दुष्परिणामोंसे कर्मोंका आश्रव होता है। उसका चिन्तवन करना **आस्रव भावना** है। इन दुष्ट कर्मोंका आवागमन कैसे रुके, वे दुष्परिणाम कैसे दूर किए जाँय तथा उनके विरोधी सत्य परिणाम कौन हैं इत्यादि चिन्तवन करना **संवर भावना** है। कर्मोंने मुझे अनादि कालसे जकड़ रखा है, उनसे छुटकारा कैसे हो इस प्रकार कर्म निर्जराके उपाय सोचना विचारना यह **निर्जरा भावना** है। धर्मकी प्राप्ति इस संसारमें कितनी कठिन है। ८४ लाख योनियोंमें स्व-स्व कर्मानुसार परिभ्रमण करनेवाले इस जीवको मानव भव ही बहुत दुर्लभ है. कदाचित् प्राप्त हो जाय तो सज्ज्ञानके अभावमें पशुतुल्य जीवन व्यतीत करता है। यह विचारना **बोधिदुर्लभ भावना है**। लोकके स्वरूपका चिन्तवन करना **लोकभावना** है। लोकमें जैसे सब कुछ सुलभ है वैसे धर्म सुलभ नहीं है। धर्मका

क्या स्वरूप है। धर्मकी मानव जीवनके लिए क्या आवश्यकता है। उससे मानव समाजका क्या लाभ है इत्यादि धर्म स्वभाव का चिन्तवन करना **धर्मानुप्रेक्षा** है।

उक्त प्रकारसे दश धर्मोंका उत्तमरीतिसे परिपालन करना तथा द्वादश सद्भावनाओंका सदाकाल विचार करते रहना ये श्रावकके लिए योग्य कार्य हैं। इनसे स्वपर कल्याण होता है अतः अवश्य ही इन्हें अंगीकार करना चाहिए। १३४।

प्रश्नः—**कार्यं किमर्थं शास्त्राणां पठनं कठिनं विभो।**

हे विभो! शास्त्रों का पठन जो कि अत्यन्त कठिन है किसलिए किया जाता है, उससे क्या लाभ है; कृपा कर कहें—

(अनुष्टुप्)

श्राद्धानां पतनं न स्यात् तदर्थं दृश्यते मया॥
सुस्वाध्यायक्रमस्तेभ्यः संसारेऽपि सुखप्रदः॥१३५॥

श्राद्धानामित्यादिः—शास्त्रस्वाध्यायतः सच्छिक्षा प्राप्यते। शिक्षितः खलु स्वहिताहिते विचारयति। हिताहितविचारकस्य पतनं संसारे न स्यात्। इत्येतस्मात् कारणात् स्वाध्यायस्योपदेशः क्रियते जैनाचार्यैः।१३५।

शास्त्र पठनसे सत्शिक्षा प्राप्त होती है। विद्याका सुसंस्कार ही मानव जीवनको उच्च बनाने का एकमात्र उपाय है। जिन्होंने भी उन्नति की है सम्यग्ज्ञानके द्वारा ही प्राप्त की है। ज्ञानकी बहुत महिमा है। विना परिपूर्ण ज्ञान हुए मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। ज्ञानसे उत्तम विचार बनते हैं, उज्वल हृदय बनता है, वाणीमें मिठास आता है और कर्तव्य ऊंचे होते हैं। अतः श्राद्धोंका अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रद्धावान् गृहस्थोंका सन्मार्गसे कदाचित् पतन न हो जाय इसके लिए सच्चे शास्त्रोंका पठन-पाठन आवश्यक है। स्वाध्याय करनेवाला ज्ञानी इस लोकमें भी परम सुखी और सन्तोषी होता है और परलोक की उज्ज्वलता तो वह साधता ही है। स्वाध्याय सदा उत्तम जिन प्रतिपादित शास्त्रोंका हो। राग-द्वेप वर्द्धक विकथाकथक ग्रन्थोंका पढ़ना स्वाध्याय नहीं है। वह तो कुशिक्षादायक दुःश्रुतिनामा महान् पापदायक अनर्थदण्ड है, अतः उसे त्यागकर सच्चे शास्त्रोंका विधिपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए।१३५।

प्रथमानुयोगपठनम्—

(अनुष्टुप्)

कौ त्रिषष्टिशलाकादिपुरुषाणां सुधर्मिणाम्॥
चरित्रं प्रथमं पाठ्यं शान्तिदं बोधदं सदा॥१३६॥
तच्चरित्रप्रपाठेन यद्यदाचरितं हितैः॥
तत्तज्ज्ञानं भवेत् तस्य तथा स्याच्छुभेऽरतिः॥१३७॥युग्मम्॥

कावित्यादिः—चतुर्ष्वनुयोगेषु मध्ये प्रथमं किं पाठ्यमिति प्रश्ने सति समाधीयते आचार्यैर्यत् त्रिषष्टिसंख्याप्रमाणशलाकापुरुषाणां—चतुर्विंशतितीर्थकराणां द्वादशचक्रवर्त्तिनां नवनवसंख्याप्रमाणनारायणप्रतिनारायणबलदेवानां जिनधर्मानुयायिनां शिक्षाप्रदं पापापहं पुण्यदं चरित्रं सर्वप्रथममेव सुपाठ्यम्। यतः हितैः हितकारकैः यद्यदाचरितं तस्य स्यात् तेन तस्य श्रावकस्य शुभे रतिः सञ्जायतेऽशुभे चारतिश्चेति। तदनन्तरमेवानुयोगान्तरं पाठ्यम्। १३६।१३७।

जैनागम चार अनुयोगोंमें विभाजित किया गया है—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। जैनाचारके प्रतिपालक श्री चौबीसों तीर्थङ्कर भगवान तथा बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण तथा नव बलभद्र इस प्रकार ६३ शलाका पुरुषोंके पुण्य चरित्रका जिनमें वर्णन है वे शास्त्र प्रथमानुयोग हैं।

इनका पठन-पाठन सर्व प्रथम करना चाहिये। जिनागमको गहराईसे न जानने और न समझने वाले लोग भी उक्त पुण्य पुरुषोंके सदाचारपूर्ण चरित्रसे प्रभावित होकर सदाचारी बन जाते हैं, उनसे शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं।

प्रथमानुयोगमें पुण्यात्माओंका पुण्य चरित्र तथा उसका उत्तम फल बताया गया है इतना ही नहीं, बल्कि जो पापात्मा हैं उन्होंने कैसे कैसे कटुक फल भोगे हैं, उनका भी चरित्र उनमें अङ्कित है। अतः दोनों चरित्रोंके उदाहरणोंको देखकर लोग पापसे भयभीत होते हैं तथा धर्मके मार्गमें लगते हैं। अतएव शान्तिका प्रदान करनेवाला, बोधदायक और उत्तम पुरुषोंके चरित्रका प्रतिपादक प्रथमानुयोग अवश्य पढ़ना चाहिए। ऐसा करनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति अशुभ अर्थात् पापके कार्योंसे विरक्त होकर पुण्य अर्थात् धार्मिक शुभ कर्मोंमें स्वयमेव संलग्न होती है, अतः सर्वप्रथम प्रथमानुयोगका ही स्वाध्याय कल्याणप्रद है। १३६। १३७।

करणानुयोगपठनम्

प्रश्नः—**प्रथमानुयोगपठनानन्तरं किं पाठ्यम्।**

प्रथमानुयोग शास्त्र के स्वाध्याय के बाद किस अनुयोग का स्वाध्याय करना चाहिये? आगे उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

(अनुष्टुप्)

सत्करणानुयोगादि शास्त्रं पाठ्यं शिवप्रदम्॥
पश्चाद्योग्यं भवेज्ज्ञानं सर्वसत्त्वहितङ्करम्॥ १३८॥
लोकालोकस्वरूपस्य बोधकं तत्त्वतो नृणाम्॥
शास्त्रेति क्रमतः पाठ्यं जन्म स्यात् सफलं यतः॥ १३९॥ युग्मम्॥

सदित्यादिः—प्रथमानुयोगपठनानन्तरं करणानुयोगशास्त्राणामेव पठनं कर्त्तव्यम्। एतेनानुयोगेन लोकालोकयोः स्वरूपमवगम्यते। जीवानामुत्पत्तिस्थानं कर्मणां कार्यम्, कालस्य परिवर्तनं चतुर्गतीनां स्वरूपं कर्मनिमित्तेन जीवपरिणामभेदाः गुणस्थान-मार्गणास्थान जीवसमासानां स्वरूपं विंशतिप्ररूपणाभेदाश्चेत्यादि पदार्थानां यत्र सम्यङ् निरूपणमस्ति तत् करणानुयोगशास्त्रमित्युच्यते। करणशब्दस्य जीवपरिणामवाचित्वात् करणानुयोगे जीवपरिणामानामेव विशेषतो वर्णनमावश्यकम्। स्वपरिणामभेदमनवगम्य केवलं द्रव्यरूपेण यदाचरणम्भवति तत्केवलं द्रव्यचारित्रवशामेव प्रायः लभते तस्मात्सदाचारैः स्वात्मकल्याणमिच्छता सदाचारस्वीकारणात्पूर्वमवश्यमेव करणानुयोगशास्त्राणां स्वाध्यायः कर्त्तव्यः। एतत्स्वाध्यायतस्सर्वसत्त्वहितङ्करं योग्यं ज्ञानं समुत्पद्यते। ज्ञानसम्पादनत एव मानवजन्मनस्साफल्यमस्ति। १३८। १३९।

प्रथमानुयोग के अन्तर करणानुयोग शास्त्रों का पठन पाठन करना श्रेयस्कर है। इस अनुयोग के स्वाध्याय से हमें लोक और अलोकके स्वरूपका युगोंके परिवर्तनका, जीवके परिणामोंका, कर्मके प्रभावका, जीवोंकी उत्पत्तिस्थानका, चतुर्गतिका, गुणस्थानों, मार्गणास्थानों, जीवसमासों तथा बीस प्ररूपणाओं का स्वरूप भलीभांति ज्ञात होजाता है।

साधारणतया करण शब्दका अर्थ जीवके परिणाम भी है। हमें जीवके परिणामोंके भेदोंका स्वरूप आत्मस्वरूप के परिणाम के लिए जानना अत्यावश्यक है । उनकी यथोचित सम्हाल के बिना धारण किया हुआ चरित्र प्रायः द्रव्यचारित्र ही नाम पाता है। अतः सदाचार पालनसे स्वात्महित वांछक पुरुषों का कर्तव्य है कि सदाचारके नियमोंके साथ ही या उसके पूर्व ही करणानुयोग शास्त्रों का मनन करें। इसके स्वाध्यायसे सर्व प्राणियों के लिए हितकर्त्ता योग्य ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान सम्पादन से ही मनुष्य जन्म की सफलता है। १३८। १३९।

चरणानुयोगपठनम्

अथ चरणानुयोगः पाठ्यः।

इसके बाद चरणानुयोग शास्त्र पठनीय है, यह बताते हैं—

(वसन्ततिलका)

पाठ्यं सदैव सुखदं चरणानुयोग—
शास्त्रं सुसाधुगृहिणां व्रतमण्डितानाम्॥
शीलव्रताचरणबोधकमेव भक्त्या
स्वात्मा भवेद् भुवि यतो व्रतशीलधारी॥ १४०॥

पाठ्यमित्यादिः—प्रथमानुयोगकरणानुयोगशास्त्रयोः स्वाध्यायानन्तरं चरणानुयोगशास्त्रं पठनीयम्। तच्छास्त्रं शीलानां व्रतानाञ्च प्रतिबोधकमस्ति। देशव्रताराधकानां गृहिणां महाव्रतिनां साधूनाञ्च किमस्ति कर्तव्यम्, कानि कानि तेषां व्रतानि, कथं भवति व्रतानां रक्षणम्, के दोषाः सन्ति ये व्रतानि मलिनीकुर्वन्ति इत्यादिप्रकारकं गृहिधर्मः साधुधर्मश्चापि यत्र वर्णितो विस्तरेण तच्छास्त्राध्ययनेनैव आत्मा व्रतशीलधारी भवति अतएव सदैव सुखदायकं चरणानुयोगशास्त्रं पाठ्यम्। १४०।

प्रथमानुयोग और करणानुयोग शास्त्रोंके स्वाध्याय करनेके बाद देशव्रतधारी गृहस्थ और महाव्रती साधुओंके आचार क्रमका प्रतिपादक चरणानुयोग शास्त्र पढ़ना चाहिए। इस शास्त्रका अध्ययन करनेवाला आत्मा शील-व्रतका धारी हो जाता है, कारण इस अनुयोगके शास्त्रोंमें यह विषय बहुत स्पष्टताके साथ बताया गया है कि श्रावकके कितने भेद हैं, कितनी प्रतिमाएँ व्रताचरणकी वृद्धिके लिए हैं, क्या उनका स्वरूप है, साधुके व्रत कौन कौनसे हैं, शील क्या है, उनके भेद कौन कौन हैं, व्रतोंके रक्षार्थ क्या करना चाहिए, कौन कौन सी भावनाएँ व्रतमें गुणवृद्धि कर सकती हैं और किस किस व्रतके कौन कौन अतीचार हैं जो व्रतको मलिन करते हैं।

मानसिक अपवित्रता यदि एक बार हो जाय तो वह अतिक्रम दोष है। यदि बार बार मानसिक अपवित्रता हो जाय तो वह दुःशील होनेसे व्यतिक्रम है। यदि व्रत एकदेश या एक बार प्रमादसे भंग हो जाय तो अतीचार है और यदि सर्वदेश या अनेकबार जानबूझ कर व्रत भंग किया जाय तो अनाचार है। इस प्रकार अतिक्रमादिका स्वरूप तथा दोषमुक्त होनेके लिए दश दोषरहित प्रायश्चितका विधान प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समता, वन्दना, स्तुति, कायोत्सर्ग आदि सम्पूर्ण विधि विधान जहाँ वर्णित है वह सुखदायक चरणानुयोग शास्त्र है जिसका स्वाध्याय आत्महितके लिए सदैव करना चाहिए। १४०।

अथ द्रव्यानुयोगपठनम्—

चरणानुयोग के अनन्तर पठनीय द्रव्यानुयोगका स्वरूप वर्णन व उपदेश—

(अनुष्टुप्)

द्रव्यानुयोगशास्त्रस्य स्वपरबोधकस्य च ॥
पठनं पाठनं कार्यमन्ते सर्वसुखप्रदम् ॥१४१॥
पूर्वोक्तक्रमतः पाठ्यास्तेऽनुयोगा जिनोदिताः ॥
स्वैरवृत्तिर्यतो न स्यात् मोक्षश्रीः शान्तिदा सखी ॥१४२॥युग्मम्॥

द्रव्येत्यादिः—जीवाजीवादिषड्द्रव्याणां नवपदार्थानां पञ्चास्तिकायानां सप्ततत्त्वानां स्वरूपं द्रव्यानुयोग-शास्त्रेषु प्रतिपादितमस्ति । युक्त्यागमाभ्यां अनेकान्तवादाश्रयेण जीवादीनां स्वरूपं तत्तद्गुणपर्यायाणाम्भेदाश्च तत्र विस्तरतो निरूपितास्सन्ति । तस्माद् द्रव्यानुयोगपठनेन स्वात्मनः स्वतंत्रसत्ताकस्य स्वात्मभिन्नानां पुद्गलादीनाञ्च सम्यग्बोधो भवति । स्वपरबोधसम्पन्न एव मुक्तिसुखं लभते । तस्मात्कारणात् सर्वसुखप्रदं द्रव्यानुयोगस्य पठनं पाठनञ्च अन्ते अनुयोगत्रयपठनानन्तरं कार्यम् । एवंप्रकारेण स्वाध्यायकरणेन स्वैरवृत्तेरभावात् शान्तिदायिनी मोक्षश्रीः सखी इव भवति ।१४१।१४२।

द्रव्यानुयोग शास्त्रोंमें जीवाजीवादि छह द्रव्य, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय, और सात तत्त्वादिका उत्तम स्वरूप युक्ति और आगमके आधारसे विविध गहन नय स्वरूप अनेकान्तवादके आश्रयसे वर्णित किया है । साथ ही उन द्रव्यों के अपरिमित गुणों और पर्यायोंका भी विशद विस्तृत वर्णन वहां किया गया है ।

पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, और जीव-कर्म, आदि की सम्यक् व्यवस्था, प्रमाण, नय और निक्षेप का विशद विवेचन, अनेकान्तवाद द्वारा सर्वथैकान्तवादोंका युक्ति और आगमादि प्रमाणों के आधार पर खण्डन आदि इस अनुयोगमें वर्णित हैं । स्वतन्त्र सत्तावाला आत्मा परभावोंसे भिन्न अनंत गुणों का पिंड स्वरूप अपने स्वरूपमें ही रमण करनेवाला है । वह चैतन्य स्वरूप विमुक्त पुद्गलादि जड़ पदार्थों से सर्वथा भिन्न है । इस तरह स्वपरविवेक स्वरूप अध्यात्मविद्याके प्रतिपादक द्रव्यानुयोग शास्त्रका अन्तमें अन्तिम अनुपम सुख प्राप्ति के लिए अवश्य पठन-पाठन करना चाहिये । इस क्रम से चारों अनुयोगोंका सम्यक् स्वाध्याय स्वच्छंद प्रवृत्तिको दूर कर व्रताचरणकी वृद्धि करता है जिससे शान्तिप्रदायिनी मुक्तिरूपी सखी का समागम प्राप्त होता है ।१४१।१४२।

न्यायव्याकरणादिशास्त्राणां पठनम्

प्रश्नः—**न्यायव्याकरणादीनां स्वाध्यायः स्यात्कदा गुरो ?**

यदि चतुरनुयोगानामेव पठनं कार्यं तदा न्यायव्याकरणादिविद्यानां पठनं कदा स्यात् ? हे गुरु ! कथय मे । हे गुरु देव ! यदि चारों अनुयोगोंका पठन पाठन ही श्रेष्ठ है तो न्याय व्याकरण तथा साहित्यादि शास्त्रोंको कब पढ़ना चाहिये, कहिए—

(अनुष्टुप्)

षड्द्रव्यसप्ततत्त्वानां न्यायव्याकरणस्य च ।
पठनं पाठनं भक्त्या यतः स्यात् स्वात्मदर्शनम् ॥ १४३ ॥

पडित्यादिः—न्यायव्याकरदयस्तु चतुरनुयोगशास्त्र तिपादितषड्द्रव्यणां सप्ततत्त्वानां स्वरूपपरिज्ञानार्थ एव भक्त्या पठनीयाः। स्वात्मदर्शने उपयोगिनां अन्येषामपि शास्त्राणां पठनं पाठनमपि न प्रतिषिद्धमस्ति। केवलं स्वपाण्डित्यप्रदर्शनार्थं मात्सर्येण परोत्कर्षपराभवेच्छया व्याजेन वादेन पाण्डित्यप्रदर्शनेन वा यत् न्यायव्याकरणादिशास्त्राणामध्ययनं क्रियते न तत् स्वाध्यायसंज्ञां लभते। अत एव सुनिश्चितमेतत् यत् स्वात्मोपकारकस्य शास्त्रान्तरस्यापि पठने न कश्चिद् दोषोऽस्ति यन्नैव स्यान्मिथ्यात्वपोषकं कषायवर्द्धकं विषयरतिदायकं वा।१४३।

इन चारों अनुयोगोंमें प्रतिपादित छह द्रव्य व नव तत्त्व आदिके ज्ञानको उत्पन्न करानेमें हेतुभूत न्याय, व्याकरण, साहित्य, कोष, अलंकार व छन्द आदि विद्याओंका पठन-पाठन निषिद्ध नहीं है, भक्तिपूर्वक उनका भी यथायोग्य पठन-पाठन करना चाहिए। उपयोगी विद्याओंकी सहायतासे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की जा सकती है। केवल अपना पाण्डित्य प्रदर्शनके लिए शास्त्रोंका पठन-पाठन अनुचित है। अनेक विद्वान् दूसरे विद्वानोंके ज्ञानोत्कर्षको मात्सर्य या ईर्षाके कारण सहन नहीं कर सकते, अतः वे कपट व वाद-विवाद से अपना पाण्डित्य प्रदर्शनमात्र कर अपनी कषायोंका पोषण करते हैं। उनका वह शास्त्र पठन स्वाध्याय के नामको प्राप्त नहीं कर सकता। वह शास्त्रग्रहण शस्त्रग्रहण ही है जो केवल परको नीचा दिखाने मात्रका है।

उपर्युक्त कथनसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि जो मिथ्यात्ववर्द्धक न हों, असदाचारके पोषक न हों, हिंसादि महापापोंके उपदेशक न हों, कलह वितण्डावादको उत्पन्न करने वाले न हों तथा कामादि विकारोंके वर्द्धक न हों उन लौकिक शास्त्रोंका पठन-पाठन निषिद्ध नहीं है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक ग्रन्थान्तरोंका इसके बाद भक्तिपूर्वक पढ़ना भी स्वात्मदर्शनके लिए ही होता है।१४३।

अन्तरायकथनम्

प्रश्न—**श्राद्धानामन्तरायाः मे कति सन्ति गुरो वद।**

श्राद्धानाम् श्रावकाणां भोजने कति अन्तरायाः सन्ति ? हे गुरो ! मे वद।

श्रद्धावान् व्रती श्रावकोंके भोजनसंबंधी अन्तरायोंका विवेचन कृपाकर गुरुवर्य मुझे बतावें—

(अनुष्टुप्)

दर्शनस्य भवन्त्यष्टावन्तराया जिनागमे।
स्पर्शस्य विंशतिः प्रोक्ताः श्रोत्रस्य भयदा दश॥ १४४॥
बाह्यान्तरङ्गशुद्ध्यर्थं धर्मज्ञैः श्रावकैः सदा।
पूर्वोक्ताः त्रिविधाः पाल्या अन्तरायाः प्रयत्नतः॥ १४५॥

दर्शनस्येत्यादिः—व्रतिनः श्रावकस्य दयापरस्य हृदि ग्लानिकारकाः संक्लेशकारकाश्च भोजनसमये दर्शनस्याष्ट अन्तरायाः स्पर्शसंबंधिनो विंशतिरन्तरायाः शब्दश्रवणसंबंधिनश्च किल दश अन्तरायाः सन्ति। मिलित्वा-अष्टत्रिंशदन्तराया भवन्ति। शुद्धाहारभोजिनः श्रावकस्य भोजनसमये यदि परित्यक्तपदार्थानां मदिरामांसादीनां दर्शनं चर्मादिपदार्थानां स्पर्शनं रोदनादिहृदयद्रावकशब्दानां श्रवणं वा स्यात् तदा स अन्तराय इति मत्वा भोजनं परित्यजति। एवं उभयशुद्ध्यर्थं धर्मज्ञैः प्रयत्नतः त्रिविधा भोजनान्तरायाः पालनीयाः॥ १४४॥ १४५॥

दयावान् श्रद्धावान् सदाचारी व्रती श्रावक शुद्ध आहारके द्वारा ही अपनी क्षुधा मेंटता है। यद्वा तद्वा शुद्धाशुद्ध आहारके द्वारा वह अपनी इन्द्रियलिप्साको पूरी नहीं करता। उसका अपनी विषय

वासनाओं पर इतना नियंत्रण है कि वह बुभुक्षित होने पर भी कभी अमर्यादित पदार्थोंका, परित्यक्त पदार्थोंका, अनीतिसे प्राप्त पदार्थोंका तथा हिंसा-चौर्य आदि पापोंसे कमाए हुये पदार्थोंका भक्षण नहीं करता। शुद्ध, शास्त्रानुमोदित, हिंसादि पापोंसे दूर व न्योयोपार्जित पदार्थोंका ही सेवन करता है। इस प्रकारके शुद्धाहारके समय यदि उसे हृदय द्रावक मांसादि पदार्थोंका दर्शन होजाय तो उनके दर्शन मात्रसे वह अपने शुद्धाहारका भी तत्कालके लिए त्याग कर देता है। वह दयापरिणामी उस हिंसा तथा निर्दयक्रिया द्वारा कृत पदार्थको देखनेमात्रसे दुखी होता है। पर दुःख कातरता उसका गुण है। इसी प्रकार मृत पुरुष स्त्री या पशु आदिके शरीरका अथवा मृत शरीरके अंशभूत चर्म नखादिका स्पर्श होने पर प्राप्त अपवित्र दशा में भी वह भोजनका परित्याग करता है।

श्रवण संबंधी भी अन्तराय होता है। जब भोजन करनेवाला व्रती भोजनके समय किसीका करुणा पूर्ण रुदन सुनता है, या मरण सुनता है, अग्निदाह या शस्त्रघात आदिके शब्द सुनता है तब वह भोजन त्याग कर तत्काल अग्नि बुझानेका, शस्त्राघात दूर करनेका व दुखीको सान्त्वना देनेका सत्प्रयत्न करता है। दूसरोंको दुखी अवस्थामें छोड़कर वह चैनमें भोजन करते नहीं बैठता, यह उसका अहिंसा गुण है। अपनी अन्तरङ्ग मानसिक शुद्धिके लिए तथा बाह्यमें शारीरिक शुद्धिके लिए, लोक कल्याणके लिए और दयाधर्म के प्रतिपालनके लिए धर्मात्मा श्रावकोंको प्रेमपूर्वक भोजनके अन्तरायोंका पालनकरना चाहिए।१४४।१४५।

अथान्तरायभेदाः कथ्यन्ते

अब अन्तरायके भेदोंको गिनाते हैं—

मदिरा–मांसास्थि–रक्तधारार्द्रचर्म– मृतपञ्चेन्द्रियजीव–क्षुधाहतपशु–मल मूत्राणि इति दर्शनस्यान्तरायाः ॥ १ ॥

मदिरा महुआ, और द्राक्षा आदि अनेक पदार्थोंको सड़ाकर बनाई जाती है। हजारों लाखों कीड़े उसमें प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उन सबको घोलकर व आग पर औटाकर शराब या मदिरा बनाई जाती है। मदिरा नशा करती है मनुष्यकी सुधि-बुधि भुला देती है,और हितमार्गसे दूरकर अहित मार्गमें लगा देती है। ये सब दुर्गुण तो हैं ही, पर यह उन असंख्य प्राणियोंके रक्तमांसमय पिण्डका निचाड़ हुआ रस है जो सड़नेके समय उसमें पड़ चुके थे और अब भी जिसमें असंख्य कीटाणु पैदा होते व मरते हैं। अतः जिसकी उत्पत्ति भी महान् हिंसासे है तथा जिसका उपयोग भी महान् पापोत्पादक है उस मदिरा को देखने मात्रसे व्रती पुरुष भोजनका त्याग कर देते हैं।

इसी प्रकार जीवोंका निर्दयता पूर्वक संहार कर ही मांस बनाया जाता है। निर्दय पुरुष उस मांससे अपना उदर भरते हैं और उसे श्मशान भूमि बनाते हैं। मांस भी उत्पत्ति रूपसे पापमय है और सदा असंख्य जीवोंकी उत्पत्तिरूप होनेसे उनकी भी हिंसाका हेतु है। दयापर अहिंसक श्रावक उस अपवित्र पदार्थको देखकर भी भोजनका त्याग कर देता है।

दर्शनका तृतीय अपवित्र पदार्थ हड्डी है। यह भी शरीरका अंग है। शरीरके सभी अंग अपवित्र हैं। सप्त धातु और उपधातु अपवित्रताके परमाणुओंसे ही बने हैं। उनका दर्शन भी भोजनका अन्तराय है। बहती हुई रक्तकी धारा, शरीरके ऊपरसे तत्काल निकाला हुआ कच्चा चमड़ा, मरा हुआ पञ्चेन्द्रिय जीवका शरीर और मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थ ये सब भोजनके समय अन्तरायके कारण दर्शनमात्रसे माने गए हैं। इन्हें देखकर व्रतीको भोजनका त्यागकर देना चाहिए। १।

शुष्कचर्म- नख- केश-पक्षि- पक्षासंयमिस्त्रीपुरुष-व्रतभंग—रजस्वलास्त्री-पञ्चेन्द्रियपशु-मल-मूत्रशंका,-शवस्पर्शन,-मृतजीवग्रास,-केशनिर्गमन स्वशरीरप्राणिपीड़नादयः स्पर्शनान्तरायाः ॥ २ ॥

इतने पदार्थोंके स्पर्श होने पर भोजनका अन्तराय मानना चाहिए—सूखा चमड़ा, नख, कम्बल आदि केशवस्त्र, पक्षी, पक्षीके पंख, शीलरहित स्त्री, पुरुष (शीलरहित), व्रतभंग करनेवाली स्त्री या पुरुष, रजस्वला स्त्री, पञ्चेन्द्रिय पशु कुत्ता बिल्ली आदि, मुर्देका स्पर्श, ग्रासमें यदि कीटाणु मृत हो तो, ग्रासमें यदि बाल हो तो भोजन त्यागना चाहिए। अपने शरीरमें यदि असह्य पीड़ा हो या दूसरे प्राणीको असह्य पीड़ा हो अथवा अपने शरीरसे मूत्र, मल आदिके स्खलन हो जानेकी शंका होगई हो तो भी भोजनका अन्तराय है। इस प्रकार ये स्पर्शनसंबंधी भोजनान्तराय हैं। २।

मरण—रोदनाग्निदाह—मारण—धर्मात्मोपर्युपसर्ग—मनुजकर्णनासिकादिच्छेदन—जिनबिम्ब-जिनायतनोपसर्ग-पापवचनादयः श्रवणान्तरायाः ॥ ३ ॥

भोजनके समय यदि किसीका मरण सुनपड़े, करुणाजनक विलाप सुने, कहीं अग्नि लग गई, घर जल रहे हैं, पशु-पक्षी मनुष्य जले जारहे हैं इत्यादि वचन सुनाई पड़े, लोग लूट पाट मारकाट कर रहे हैं, ऐसा सुनाई देवे। किसी धर्मात्मा पुरुष पर कोई उपसर्ग आया हुआ सुने, या ऐसा शब्द सुनाई देवे जो अत्यन्त करुणाजनक हो जैसे इसकी नाक काट लो, कान काट लो मस्तक छेद दो इत्यादि अथवा कहीं जिनमंदिर जिन प्रतिमा पर उपसर्ग या अपमान जनक वचन सुनाई देवें या डाका पड़ने लुट जाने व नारी अपहरण आदि पापके वचन सुनाई पड़े तो इन बातोंके श्रवणमात्रसे व्रतीको भोजनका त्याग कर देना चाहिए।

भोजनके अन्तरायोंका यह तात्पर्य नहीं है कि वह भोजन छोड़कर पश्चात्ताप करता हुआ चुप बैठ जाय अथवा अन्तराय करनेवालों पर रोष करे जो इन्होंने मुझे भोजन भी न करने दिया। ये सब काम तो अन्तराय न पालनेके बराबर है अन्तराय पालनेवाला अन्तराय आने पर भोजनका त्याग करता हुआ भी अपने पापकर्मका उदय समझकर किसी पर रोष नहीं करता। तथा उक्त कारणोंके आने पर तत्काल उन उपसर्गोंको दूर करने, लोगोंके कष्ट दूर करनेका प्रयत्न करता है। मार-काट, लूट-पाट, अपहरण, धर्मात्मा पर उपसर्ग, जिन मन्दिर और जिन प्रतिमाका उपसर्ग आदि श्रवण कर जो केवल भोजनका त्याग कर बैठ जाता है वह कापुरुष कदाचित् भी व्रती श्रावक नहीं है। किन्तु उसे तत्काल इन उपसर्गोंको अपनी शक्ति भर दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। तभी वह व्रती है और उसका अन्तरायका पालना सार्थक है, अन्यथा नहीं।

भोजनके अन्तराय दर्शन-स्पर्शन-श्रवणके सिवाय और भी शास्त्रकारोंने शास्त्रान्तरोंमें प्रतिपादित किए हैं उनका भी पालन करना चाहिए। जैसे—यदि प्रमादसे त्याज्य वस्तु खानेमें आ जाय तो तत्काल भोजनका त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ कोई व्रती नमक रसका त्याग किए है। अब कदाचित् भोजनमें कोई नमकवाली वस्तु आ गई तो उसे तत्काल भोजनका अन्तराय मानना चाहिये। भोजनमें यदि जीवित भी जीव कीटाणु आ जाँय जिनका सहज ही अलग करना सम्भव न हो तो भी भोजनका अन्तराय मानना चाहिए। तथा भोजनके शुद्ध पदार्थोंमें भी यदि भोजनके समय दुष्ट संकल्प आ जाय अर्थात् कोई पदार्थ ऐसा मानसिक संकल्प पैदा कर दे जो यह भोज्य पदार्थ मांस जैसा है या अण्डे जैसा मालूम पड़ता है, या प्राणीके सिर जैसा या पैर जैसा है तो वह पदार्थ भी व्रतीके लिए अभोज्य

है। सारांश यह है कि दया उत्पन्न करनेवाले, अपवित्रता लानेवाले और व्रतभंग करानेवाले कारणोंके आने पर भोजनका अन्तराय मानना व्रतीके लिए उचित है। तथा पाक्षिक व दार्शनिकको भी यथायोग्य अन्तराय पालने चाहिये। ३।

प्रश्न :—**कार्यो वितानबन्धोऽपि कुत्र कुत्र गुरो वद।**

हे गुरुवर्य ! श्रावक अपने घरमें चँदोवा कहाँ कहाँ बांधे, कृपया कहिये—

(अनुष्टुप्)

पेषणप्रभृतिस्थाने श्रावकैर्धार्मिकैः सदा।
वितानस्य प्रबन्धोऽपि कर्त्तव्यो जीवरक्षकः ॥ १४६ ॥

पेषणेत्यादि :—जीवरक्षार्थं अन्नादिशुद्ध्यर्थञ्च पेषणप्रभृतिस्थाने पेषिण्यादीनामुपरि एकादशस्थानेषु वस्त्रादिना निर्मितस्य मण्डपस्य प्रबन्धो धर्मज्ञैः श्रावकैः स्वेच्छया कर्त्तव्यः। यत्रान्नादिपेषणक्रियते तदुपरि, यत्र कुट्टन-मन्नादीनांक्रियते तत्र यत्र महानसमऽस्ति तत्र भोजनस्थाने पानीयस्थाने शयनस्थाने स्वाध्यायशालायां, सामायिकस्थाने पूजनगृहे आपणे तथा यत्र अग्न्यादिसंस्थापनं क्रियते तत्रापि उपरि मण्डपो विधेयः। वितानिबन्धनेन गृहस्योर्ध्वभागे आच्छादितैः खर्परादिभिः वंशादिभिश्च जीवानां पतनं न स्यात्, यदि स्यात् तर्हि वितानस्योपर्येव नान्नादौ पूजनादिवस्तुनि भूमौ शरीरे वा। तत्र पतने तेषां घात एव स्यात्। अतो दयापरैस्तत्र तत्र वितानस्य प्रबन्धोऽवश्यमेव कार्यः। १४६।

दयावान् श्रावकोंका कर्त्तव्य है कि अपने गृहमें चक्की आदि ग्यारह स्थानोंके ऊपर चँदोवा जो कि अच्छे वस्त्र आदिका बनाया गया हो तथा छिद्ररहित हो बाँधे। अर्थात् चक्कीके ऊपर, अन्नके कूटनेके स्थान पर, रसोई करनेके स्थान पर, पानी रखनेके स्थान पर, भोजन करनेके स्थान पर, दुकानके स्थान पर, शयनके स्थान पर, स्वाध्यायशालामें, सामायिक व उपवास करनेके स्थानमें, पूजा और यज्ञके स्थानमें तथा अन्यत्र जहाँ कहीं भी अग्नि जलाने या रखनेका काम पड़े उन सब स्थानों पर चँदोवा बांधना चाहिये। मण्डप बन्धनसे गृहके ऊपर भागके छप्परसे व बांसोंके सड़ने आदिसे जीव जन्तु गिरने लगते हैं वे भूमिमें, अन्नादि वस्तुमें, पूजनादि सामग्रीमें, जलमें, तथा आगमें इत्यादि स्थानोंमें न गिर कर मण्डपमें ही रह जांयगे और तात्कालिक अवश्यंभावी विनाशसे बच जांयगे। अन्नादिकी शुद्धि भी रहेगी।

जिन स्थानोंमें ऊपर छप्पर नहीं है वहाँ भी मकरीके जाल आदिके निमित्तसे जीव बाधा सम्भव है, अतः मण्डप बन्धन करना चाहिये। पक्की छतोंके या अन्य प्रकारके सिमेंट आदिसे बने हुए स्थानोंमें मण्डपकी क्या आवश्यकता है ऐसा प्रश्न हो सकता है? उत्तर यह है कि विवेकी मनुष्य तो ऐसे स्थानोंकी स्वच्छता रखकर जीवरक्षा कर सकता है। मण्डप बन्धन के उद्देश्यकी पूर्ति तो इससे हो सकती है, पर नियमका पालन नहीं हो सकनेसे परम्परा व मण्डप बन्धनकी पद्धति रुक जा सकती है। सर्वसाधारणको यह बोध होगा जो अमुक व्रती पुरुष मण्डप बन्धन नहीं करता तो मालूम होता है जो यह कोई आवश्यक परम्परा या पद्धति नहीं है। अतः परम्परामें नियमका घात न हो ऐसा विचारकर श्रावकको इन स्थानों पर मण्डप बन्धन करना ही चाहिए। १४६।

प्रश्न—को मौनधारणं क्व क्व कार्यं मे सिद्धये वद।

श्रावकको मौन धारण करना भी आवश्यक सुना गया है। उसे किस किस अवसर पर मौन धारण करना चाहिए, कृपा कर कहें—

(अनुष्टुप्)

भोजने मैथुने स्नाने मल-मूत्रविमोचने।
सामायिकेऽर्चने दाने वमने च पलायने॥ १४७॥
सन्मौनधारणं कार्यं धर्मज्ञैः श्रावकैः सदा।
यतः स्यात् सर्वकार्येषु शान्तिः सिद्धिर्निजाश्रिता॥ १४८॥ युग्मम्॥

भोजन इत्यादि :—श्रावकेण एतेषु दशसु कार्येषु मौनधारणं कर्त्तव्यम्। भोजनकार्ये मैथुनेसेवने स्नानकार्ये मलत्यागे मूत्रविसर्गे सामायिककरणे भगवत्पूजनादौ यज्ञकार्ये दानकरणसमये वमने पलायने च। सावधानतया जीवरक्षाविचारेण उक्तकार्याणि सम्पादनीयानि। अन्यमनस्कतया भोजनादिकरणे मैथुनादिकरणे मलमोचने वमने वा शारीरिकहानिः स्यात्। तद्वत् अन्यमनस्कतया सामायिकादौ क्रियमाणे च यदर्थं तत्क्रियते न तस्य सिद्धिः स्यात्। पलायने च वाग्व्यापारे क्रियमाणे शक्तिह्रासो भवति। तस्मात् सिद्ध्यर्थी शान्त्यर्थी च उक्तकार्येषु मौनं कुर्वीत। १४७। १४८।

भोजन, मैथुन, स्नान, मलत्याग और वमन आदि शारीरिक कार्योंमें तथा पूजन, यज्ञ, हवन, सामायिक और दान आदि पारमार्थिक कार्योंमें और कार्यवशात् यदि पलायन याने वेगसे गमन करना पड़े दौड़ना पड़े भागना पड़े तो उस अवसरमें ऐसे दस मौकों पर धर्मात्मा श्रावकोंको सदा मौन धारण करना चाहिए। ये कार्य जीवरक्षाके ध्यानसे तथा शान्तिपूर्वक उक्त कार्योंको पूरा करनेके अभिप्रायसे तथा धार्मिक कार्योंमें शुभ परिणामोंकी सिद्धिके लिए मौन पूर्वक ही किए जाने चाहिए।

यहाँ पर मौनसे तात्पर्य इस बातका है कि जो काम स्वयं अकेलेके करनेके हैं वहाँ तो सर्वथा मौन रखे। जहाँ पर अपने सिवाय दूसरे व्यक्तियोंका भी सहयोग आवश्यक है वहाँ उस व्यक्तिके सिवाय अन्य किसीसे बातचीत न करे। संबंधित व्यक्तिसे भी संबंधित कार्यके लिए आवश्यक बात ही करनी चाहिए, चाहे जिस विषय पर पद पद पर मनमानी चर्चा न करनी चाहिए।

उदाहरणार्थ पूजा करनेवाला पूजा करते समय पूजा पढ़ेगा तथा यदि कोई साथ पूजन करनेवाला है तो उससे पूजाके लिए आवश्यक वस्तुके सम्बन्धमें या पाठकी शुद्धि या अर्थके संबन्धमें जरूरतके स्थान पर अल्पमात्रामें बोलेगा। अन्य व्यक्तियोंसे बात न करेगा। मौनके बिना की जानेवाली क्रियाओंमें चित्तकी एकाग्रता नहीं रहती और बिना एकाग्रताके अन्यमनस्क पुरुषके द्वारा किए गए भोजन, मैथुन, मलमूत्रत्याग, स्नान, वमन, पलायनादि कार्य अत्यन्त शारीरिक हानिको पहुँचाते हैं तथा ऐसे ही अन्यमनस्कके सामायिक व पूजादिक कार्य उद्देश्यको पूरा नहीं करते। इस तरह लौकिक और पारलौकिक हानिको रोकनेवाले होनेसे मौनको उक्त कार्योंमें अवश्य धारण करना चाहिए।१४७।१४८।

प्रश्नः—**किमर्थं जप्यते माला तद्रहस्यं गुरो ! वद ।**

हे गुरुवर ! श्रावक लोग मालाका जाप किया करते हैं उसका क्या प्रयोजन है, कृपा कर कहें—

(अनुष्टुप्)

संरम्भसमारम्भारम्भादिभेदाद्धि सर्वदा ।
वाक्कायचित्तचाञ्चल्यात् क्रोधादीनां वशङ्गताः ॥१४९॥
अष्टोत्तरशतं पापं कुर्वन्ति प्रत्यहं जनाः ।
तन्नाशाय जपं भक्त्या कुर्वन्तु स्वात्मचिन्तनम् ॥१५०॥ युग्मम् ॥

संरम्भेत्यादिः—प्रतिदिनं श्रावकः गृहाश्रमे मनसा वाचा कायेन च आरम्भपरिग्रहादिसंबंधिकार्याणि कर्तुमुत्सहते । स किल संरम्भः त्रिविधः ! तथा च तत्कर्तुं तत्कारणभूतसाधनानां सञ्चयं करोति । स किल त्रिविधः समारम्भः । तदनन्तरं यदा किल कार्यं करोति स किल त्रिविधयोगसंबंधात् त्रिविध आरम्भः । तथा नवविधोऽप्येष क्रोधवशात् मानवशात् मायाकषायवशात् लोभवशाच्च क्रियते अत एष षड्त्रिंशद्विधः स्यात् । षट्त्रिंशद्विधेऽपि पापे स्वयं कृते अन्येन कारिते तथा अन्यकृते सति तदनुमोदिते च अष्टोत्तरशतसंख्याकं पापं जनाः कुर्वन्ति अतस्तन्नाशाय तत्प्रमाणमणियुक्तां मालामादाय स्वात्मचिन्तनं जपं भावका भक्त्या कुर्वन्तु ।१४९।१५०।

किसी भी कार्यके करनेका इरादा (विचार) करना **संरंभ** है । उस कार्यके योग्य साधन सामग्रीका संग्रह करना **समारंभ** है । साधनोंकी सहायतासे विचारित कार्यको प्रारंभ करना **आरंभ** है । ये संरंभादि तीनों कार्य मनमात्रसे भी होते हैं, वचनमात्रसे भी होते हैं और कायसे भी होते हैं, अतः तीनों भंगोंके साथ संरंभादिका संयोग होनेसे नव भंग बनते हैं ।

ये नव भंगवाले कार्य क्रोधके वशसे हों तो **क्रोधके नव भंग** हुए और ये ही नव भंग वाले कार्य मान कषायके वश होकर किये जायँ तो वैसे ही **नव भंग मानकषाय** के हुए । माया और लोभ कषायके आवेशमें भी ये नव हो सकते हैं, अतः **मायाके भी नव** और **लोभके भी नव भंग** हुए । सब मिलकर ९ × ४ = **३६ भंग पाप कार्यके** हुए ।

किसी भी कार्य को स्वयं करना **कृत** कहलाता है । दूसरोंसे कराना **कारित** कहलाता है और प्रेरणाके बिना भी यदि कोई स्वेच्छासे उक्त कार्य करे और दूसरा केवल उसका समर्थन करे तो वह **अनुमोदना** कहलाती है । वे ३६ भंगवाले पाप कृतसे भी होते हैं, कारितसे भी होते हैं और अनुमोदनामें भी होते हैं अतएव उनको एकत्रित करने पर ३६ + ३६ + ३६ = १०८ एकसौ आठ भंग कार्यके हुए । इन एकसौ आठ भंगोंके द्वारा पंचेन्द्रियोंके विषय पोषणार्थ हिंसादि पाँच पाप गृहस्थ द्वारा हो जाते हैं । कुछ ज्ञातभावसे होते हैं और कुछ अज्ञात आदि भावसे होते हैं । उन सब पापोंसे बचनेके लिए अथवा उनका नाश करनेके लिए ही १०८ बार पञ्च परमेष्ठी भगवान्‌का नामस्मरण उतनी मणिवाली मालासे किया जाता है । जप मालामें १०८ मणियाँ इसीलिए रखी जाती हैं । मालाके प्रारंभमें या

अन्तमें दोनों ओरके धागोंमें पिरोये गए तीन दाने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयके स्मरणार्थ हैं। इनसे कम मणिवाली माला जपके योग्य नहीं मानी गई है। यदि मालामें पूर्ण १०८ मणियाँ न हों तो सुमेरुके ३ दानोंके सिवाय १०८ के आधे ५४ या चतुर्थांश २७ मणिकी भी माला उपयोगमें लाई जा सकती है, पर उसे दो बार या चार बार फेरकर १०८ की संख्या पूरी कर दी जानी चाहिए। स्वात्मबोधको प्राप्त करनेके लिए स्वात्मबोध प्राप्त करनेवाले भगवान्का नामस्मरण ही एकमात्र हेतु है, अत: माला जपनेका प्रयोजन अपने पापोंका नाश करना है।

माला जपते समय श्रावकको विचार करना चाहिए कि मैंने क्या-क्या पाप आज किए हैं। उनकी आलोचना करे। अपने पापों पर पश्चात्ताप करे। अपनी कमजोरी पर दुखी हो। पापोंसे छूटनेके लिए निष्पाप रूप भगवान्का नामस्मरण कर विचार करे जो मैं पापोंसे छूट जाऊँ। भविष्यमें मैं पापोंसे कैसे बचूं इसका विचार करे। ऐसा करनेवालेके पुराने पापोंका क्षय होता है और नवीन पापका बंध नहीं होता।

भगवान्का दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिक, आलोचना, स्तुति, वन्दना और जप आदि समग्र धर्मकार्य स्वात्मबोध प्राप्त करनेके लिए ही किए जाते हैं। जो लोग इन कार्योंको उनके प्रयोजनका विचार किए बिना करते हैं वे उसके यथार्थ फलको प्राप्त नहीं होते। उनके प्रत्येक धर्मकार्य केवल रूढ़ि-परक हैं। उनसे परम्परा तो चलती है पर चालकका स्वतः का लाभ जैसा चाहिए वैसा नहीं होता है।

जैसे स्नान एक कार्य है, भोजन एक कार्य है, दन्तधावन एक कार्य है व टोपी लगाना एक कार्य है इसी प्रकार दर्शन-पूजन करना सामायिकपाठ, आलोचनापाठ व स्तुतिपाठ पढ़ना एक कार्य है। जिनकी ऐसी दृष्टि है उन्हें जप आदिसे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। अतएव प्रत्येक धर्मक्रिया करते समय उस कार्यके मूलोद्देश्यको सदा सामने रखना चाहिए। यही बात जपके संबंधमें भी है। गृहस्थको गृहाश्रममें २४ घंटे आरंभादिकके कार्य लगे हैं और उनसे पापका सञ्चय भी अवश्य होता है। उसके दूर करनेका एकमात्र उपाय जिनेन्द्र पूजन, नामस्मरण और गृह-रहित तपस्वियोंको नवधा भक्ति-पूर्वक दान देना ही है। जपके समय अपने दैनिक कृत्योंका हिसाब सही-सही हो जाना ही उसकी सफलता है ।१४६।१५०।

प्रश्नः—श्राद्धेभ्यो ध्यानभेदानामुपदेशो विधीयते ।

यहाँ पर श्रावकोंको ध्यानसंबंधी उपदेश भी आर्य आचार्य देते हैं—

(अनुष्टुप्)

रौद्रार्त्ते दुःखदे ध्याने त्यक्त्वा कुर्वन्तु शक्तितः ।
धर्मध्यानं सदा श्रीदं शुक्लध्यानस्य भावनाम् ।। १५१ ।।

रौद्रार्ते इत्यादि:—चतुर्विधं भवति ध्यानम्—आर्त्तं रौद्रं धर्म्यं शुक्लञ्चेति। तत्र आद्ये दुर्ध्याने दुःखदे संसारकारणे स्तः। परे च धर्म्यशुक्ले मोक्षहेतू भवतः। तस्मात् कारणात् दुःखदे आर्त्तरौद्रे ध्याने त्यक्त्वा श्रीदं कल्याणप्रदं धर्मध्यानं शक्तितः सदा कुर्वन्तु तथा मोक्षस्य साक्षात् कारणस्वरूपस्य शुक्लस्य भावनां कुर्वन्तु ।। १५१ ।।

किसी इष्ट पदार्थ या व्यक्तिके वियोगमें शोकरूप चिन्तवन करना **इष्ट वियोगज** आर्त्तध्यान है। इसी प्रकार किसी अनिष्ट कारक पदार्थ या व्यक्तिके संयोग होने पर उसके वियोगके लिए दुखी होना बार बार चिन्तवन करना **अनिष्टसंयोगज** नामका दूसरा आर्त्तध्यान है। बीमारी आदि शारीरिक बाधा या मानसिक बाधा आने पर उसके दूर करनेके लिए जो एकाग्रचिन्ता रहती है वह **पीड़ाचिन्तन** नामक तीसरा आर्त्तध्यान है। भविष्यकालके लिए नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करना **निदान** नामका चौथा आर्त्तध्यान है। ये चार प्रकारके आर्त्तध्यान दुर्ध्यान हैं, अतः त्याज्य हैं।

इसी प्रकार चार प्रकारका रौद्रध्यान भी त्याज्य है। हिंसामें, हिंसाके कार्योंमें और उसके कारणोंमें प्रसन्न होना और उसीकी एकाग्र चिन्ता करना हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है। इसी प्रकार मिथ्या भाषणमें, कपट करनेमें, दूसरोंके ठगनेमें, धोखा देने और विश्वासघात करनेमें आनंद मानना उसमें एकाग्र होना मृषानन्द नामका दूसरा रौद्रध्यान है। चोरी करनेमें, चोरीके उपाय बतानेमें, चोरीके उपाय ढूढ़नेमें और उनकी चर्चाओंके सुननेमें आनन्द मानना संबंधी चित्तकी एकाग्रताको स्तेयानंदी नामक तीसरा रौद्रध्यान कहते हैं। इसी प्रकार धनधान्यादि परिग्रह या स्त्री परिग्रहकी चिन्तामें एकाग्र होना परिग्रहानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान है।

ये चारों प्रकारके आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसारी प्राणियोंके सदा बने रहते हैं। उनका मन सदा पापोंमें, पापोंके स्मरणमें और भविष्य कालमें भी नाना प्रकारके पापोपायोंके संग्रहमें तल्लीन रहता है। वे उनमें ही आनन्द ढूढ़ते हैं अतः इन दुर्ध्यानोंके कारण ये चतुर्गतिके दुखोंके पात्र होते हैं अतः आत्महित वांछक धर्मज्ञ श्रावकोंका कर्त्तव्य है कि इनका दूरसे ही परिहार करें तथा इनसे बचनेका सतत प्रयत्न करें और धर्मध्यानका आराधन करें।

धर्मध्यान भी चार प्रकारका शास्त्रकारोंने बताया है। उनका स्वरूप निम्न प्रकार है। सर्वप्रथम, आज्ञाविचयधर्मध्यान है। जिनेन्द्र भगवानके उपदेश और उनकी आज्ञाओंके संबंधमें अपने ध्यानको एकाग्र करना, उनका विचार करना और उनके प्रतिपालनकी चिन्ता करना यह सब आज्ञाविचय है। संसारके स्वरूपका चिन्तवन कर उसके दुःखोंसे स्वयं भयभीत हो अपनेको व संसारके अन्य दुखी प्राणियोंको संसार परिभ्रमणके घोर दुखोंसे बचानेके उपायोंका चिन्तवन करना उपायविचय या अपायविचय नामका दूसरा धर्मध्यान है। संसारमें प्राणी कर्मोदय जनित दुखोंसे पीड़ित है अतः शारीरिक या मानसिक पीड़ा आनेपर उद्विग्न हो उठना है घबड़ाने लगता है तथा संक्लिष्ट परिणामी भी हो जाता है। ऐसे समय कर्मके उदय उदीरणा आदिके कार्योंका विचार करनेसे बहुत कुछ धैर्य प्राप्त होता है तथा उस दुःखको सहनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है, संक्लेश परिणाम घटते हैं तथा पापबंध न्यून होता है। इन कर्म विपाकोंका चिन्तन करना ही विपाकविचय नामक तीसरा धर्मध्यान है। संसारके स्वरूपका विचार करना कि लोक कितना बड़ा है, कहां पर क्या क्या रचनाएँ हैं, नरक कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है, कहाँ भोगभूमि है तथा मुक्तिस्थान कहाँ है इत्यादि लोकालोकके स्वरूपका चिन्तवन करनेसे आत्माको अपनी यथार्थ स्थितिका बोध होता है और वह विकृतावस्था छोड़ स्वभावावस्थामें आनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार लोकके संस्थानादिका चिन्तन करना संस्थानविचय नामा चौथा धर्मध्यान है।

शुक्लध्यानके भी ४ भेद हैं। पर पदार्थोंसे आत्माके पृथक्त्वका विचार करना पहिला पृथक्त्ववितर्क वीचार' नामक शुक्लध्यान है। परका संबंध छोड़कर एकमात्र चैतन्य चमत्कारस्वरूप आत्ममात्रका

एकाग्र चिन्तवन करना यही एकत्ववितर्कवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान है। ये दोनों श्रुतकेवलीके ही होते हैं। तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है जो केवली भगवान्के ही होता है। योगोंके चाञ्चल्यको न्यून करना ही इस ध्यानका तात्पर्य है। चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है। इसका तात्पर्य है जो सम्पूर्ण योगोंकी चञ्चलता बन्द हो जाय सर्व योग निरोधरूप होनेसे यह अयोग केवली भगवानके ही होता है। इस ध्यानके समय मन, वचन तथा कायसंबंधी सर्व योग बन्द हो जाता है। श्वासोच्छ्वासका चलना, नाड़ीगमन, हृदयस्पंदन, रक्तसंचालन आदि सम्पूर्ण कायक्रियाएँ बंद हो जाती हैं। सर्व आस्रव रुक जाता है और अ इ उ ऋ लृ इन पाँच अक्षरोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है उतने समयमें ही जीव संसार अवस्थाका सदाके लिए परित्याग कर शाश्वत सुखका स्थान निरास्रव निर्बन्ध स्वरूप मुक्ति स्थानको प्राप्त हो जाता है।

श्रावकका कर्त्तव्य है कि आर्त्त और रौद्र रूप दोनों दुर्ध्यानोंका त्याग करे और धर्मध्यानका आराधन करे तथा शुक्लध्यानको प्राप्त करनेकी भावना करे। यही आत्मकल्याणका मार्ग है। १५१।

प्रश्नः—**निर्जीवदेहदहनादिविधिः कथं मे। कार्यो कृपाश्रय! गुरो! गृहिभिः स्वशान्त्यै॥**

हे गुरुदेव! मृतदेहका संस्कार किस विधिसे करना चाहिये जिससे कि गृहस्थ अपवित्रतासे दूर होकर आत्मशान्त्यर्थ धर्मका पालन कर सके—

(वसन्ततिलका)

श्राद्धैश्च शास्त्रविधिना विमले वनादौ।
निर्जीवदेहदहनादिविधिर्विधेयः॥
हाहादिरोदनकृतिर्न मनाग्विधेया।
पश्चात्यतो न हि भवेत् किल कर्मबन्धः॥ १५२॥

श्राद्धैश्चेत्यादिः— शास्त्रविधिना जीवजन्तुबाधारहिते विमले निर्जीव एकान्ते वनादौ प्रदेशे नेत्रास्खलन-नाडिकासञ्चालन हृदयास्पंदनादिभिर्निश्चितस्य निर्जीवदेहस्य श्राद्धैः दहनादिविधिः अग्निना संस्कारो विधेयः। शोकाविष्टैः तैः हा हा इति दैन्येन रोदनकृतिः मनागपि न विधेया यतस्तत्करणे किल पापबन्ध एव भवति। १५२।

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार परीक्षित मृत देहको नेत्रकी स्थिरता, नाड़ीका चलना व हृदयस्पंदन न होना आदि चैतन्याभाव सूचक लक्षणोंसे निर्जीव पहिचान कर एकान्त जीव-जन्तु बाधारहित निर्मल वन आदि प्रदेशमें अग्नि द्वारा संस्कारित करना चाहिए। साधर्मी भाइयोंका कर्त्तव्य है कि लौकिक सम्मान की व व्यवस्थाकी दृष्टिसे मृतको सामूहिक रूपसे स्मशानमें ले जाँय। वहाँ वायुके सञ्चार तथा जलस्नानादि द्वारा उसकी बार बार परीक्षा हो जाने पर ही उसका निर्जन्तु काष्ठादिकी अग्निसे संस्कार करें। मृत मनुष्यके नजदीकी और स्नेही बन्धु ही प्रथम अग्नि संस्कार करें। इस नियमका पालन करनेसे कभी रुग्णावस्था व दुर्बलावस्थासे मूर्च्छित व्यक्तिका किसी शत्रुभाववाले व्यक्ति द्वारा जीवितावस्थामें ही अग्निदाह हो गया ऐसी शंकाको स्थान नहीं रहता। अग्निदाह समाप्त होने पर तृतीय दिवस या पञ्चम दिवस भस्म तथा अस्थियोंको भूमिमें गड्ढा कर उसमें गाड़ देना चाहिए। नदी आदि जलाशयमें उस क्षार पदार्थको न डालना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे नदीके असंख्य प्राणियोंका—जलजन्तुओंका घात होता है। अनेक लोग

गङ्गादि नदीमें अस्थि विसर्जन पुण्य मानते हैं। वे समझते हैं कि गंगादि स्नानसे आत्मा पवित्र होती है अतः मृत देहको भी गंगा स्नान कराना पवित्रताका हेतु होगा और मृतात्माका उद्धार होगा। यह बात नितान्त असत्य है। कारण गंगादि नदीका जल शारीरिक मैलको धो सकता है। आत्माकी मलीनता तो पापोंके गलनेसे ही जा सकती है। जैसे कुरतेमें लगा हुआ मैल धोतीके धोनेसे नहीं छूट सकता, वैसे ही शरीरका मैल धोनेसे आत्माका मैल—पाप नहीं धुल सकता, अतः गंगादिमें अस्थिविसर्जन करना व्यर्थ है। यह असत्कल्पना उन ठगों द्वारा बना दी गई जो उन तीर्थों पर इन कार्योंसे ही रुपया पैदा करते हैं।

इष्टवियोगजन्य दुःख अवश्य मोही जीवोंको होता है। उस दुखमें अनेक जन अपने व संसार के स्वरूपको भूलकर अत्यन्त उद्विग्न हो उठते हैं और हाहाकार मचाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जीवनके साथ मरणका अविनाभावी संबंध है। जो जन्म लेता है उसका मरण अवश्यंभावी है। और जो अवश्यंभावी है वह हमारे हाहाकारसे नहीं मिट सकता। अतः संसारकी विनाशशीलताका विचार कर शोकको दूर करना चाहिए। यह विचार करना चाहिए कि यह जीव अनादि कालसे कर्मबद्ध हो नाना जन्मोंमें भ्रमण करता फिरता है। यह मनुष्ययोनि भी उन असंख्य भवोंमें से एक है। विना मरणके पुनर्जन्म कैसे संभव है? और संसार तो जन्म-मरणोंके समूहका ही नाम है। स्वोपार्जित कर्मको यह जीव अकेला ही भोगता है, कोई दूसरा इसका साथी नहीं है। जब यह उत्पन्न होनेके समय अकेला ही आया है तब अकेला ही तो जायगा। जिस देहके साथ यह उत्पन्न हुआ था वह देह भी तो साथ नहीं जाती। तब अन्य भाई-बंधु आदि कहाँ तक उसका साथ दे सकते हैं।

यथार्थ दृष्टिसे विचार किया जाय तो भाई, बहिन, माता-पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री और पति आदि जितने लौकिक सगे संबंध हैं वे सब कल्पित हैं। यहाँ अकेला उत्पन्न होनेपर भी प्राणी दूसरे प्राणियोंसे केवल जन्म निमित्तसे संबंध जोड़ लेता है। जब जन्म ही मरणावस्थाको प्राप्त हो गया तब जन्म-संबंधी कल्पित संबंध भी तो स्वयं समाप्त हो गए अतः शोक कैसा? ये कल्पित संबंध भी तो कुछ न कुछ स्वार्थको लेकर होते हैं। जिन-जिनका स्वार्थ एक साथ बँधा है वे परस्पर संबंधी कहलाते हैं। माता-पिताका स्नेह कब तक हृदयमें बसता है जब तक उनसे अपना प्रतिपालन होता है। जब पुत्र समर्थ हो जाता है तब पत्नीका दास हो जाता है और माता-पिताका धन ले लेता है। उन्हें केवल दो रोटीका मुहताज बना देता है। पत्नीका स्नेह कबतक रहता है जब तक विषयवासना सधती है। यदि वह न सधे तो परस्पर कलह होने लगती है। भाई-भाईका प्रेम कबतक है जब तक धनका बाँट नहीं है, उसके बाद पड़ोसी जैसा व्यवहार रह जाता है। इत्यादि संसार और सगे संबंधियोंका यथार्थ रूप देखकर और विचार कर मोहका त्याग करे। हाहाकार न करे। किन्तु अपने कर्त्तव्यका पालन करे। अपने मृत संबंधीके पुत्र, पुत्री अबोध हों तो उनका पालन करे। उसकी संपत्तिकी निःस्वार्थ समुचित व्यवस्था करे। उसके कुटुंबकी व्यवस्था करे। यह सब कर्त्तव्यकी दृष्टिसे करना चाहिए। रोग-शोक आदिको छोड़ कर्त्तव्य पालन करना ही सच्ची मानवता है।१५२।

प्रश्न—**किं सूतकविधेश्चिन्हं वर्तते मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव! सूतक क्या है, उसका स्वरूप क्या है, उसका पालन करनेका क्या क्रम है, **कृपा कर कहें—**

(अनुष्टुप्)

मरणे सूतकं प्रोक्तं बन्धोर्मातुः पितुः कृते।
द्वादशाहप्रमायुक्तंऽन्येषां हीनं यथाक्रमम् ॥१५३॥
जन्मन्यपि तथा प्राहुर्दशदिनप्रमाणकम्।
स्ववंशिनां तथान्येषां हीनं ज्ञेयं यथाक्रमम् ॥१५४॥ युग्मम् ॥

मरण इत्यादिः—स्ववंशजस्य बन्धोर्मातुः पितुश्च मरणे सति द्वादशदिनप्रमाणं सूतकं भवति। एवं द्वादशदिनप्रमाणं सूतकं प्रपितामहपर्यन्तमेव। ततदन्तरं वंशस्य परम्परायां यथाक्रमं हीनदिनप्रमाणं सूतकं ज्ञेयम्। एवमेव बालकस्य जन्मनोऽपि सूतकं भवति किन्तु तद् दशदिवसपर्यन्तमेव। सूतकमिदं पुत्रस्य पौत्रस्य प्रपौत्रस्य च भवति। तदनन्तरं वंशपरम्परायां अन्येषां यथाक्रमं हीनं ज्ञेयम्।१५३।१५४।

अशुद्धिका नाम सूतक है। जिसके यहाँ किसीका मरण हो तो उस मृत शरीरके निमित्तसे उसके गृहमें अपवित्रताका वास हो जाता है और वह अपवित्रता केवल स्नान तथा वस्त्र धोनेसे नहीं मिटती, बल्कि यथाकाल दूर होती है। आठ प्रकारकी लौकिक शुद्धियोंमें कालशुद्धिको भी श्री अकलंक देवने स्थान दिया है। इस अशौचकी शुद्धि कालसे ही होती है। यह अशौच बालकके जन्म निमित्तसे भी होता है।

मृतकके अग्निदाहमें असंख्य प्राणियोंकी हिंसा होती है। मृतशरीर अन्तर्मुहूर्तके बाद ही अनन्त जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान हो जाता है। उन जीवोंकी हिंसा श्रावकके लिए अग्नि संस्कारमें अनिवार्य होती है इस लिए भी उसे इस निमित्तसे अशौच प्राप्त होता है। इसी प्रकार जन्मके समय बालकके साथ जो माताके उदरसे जर आदि निकलती है वह भी असंख्य जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है उसे भी भूमि आदिमें गड़वाकर नष्ट करना पड़ता है जिसमें उन प्राणियोंकी हिंसा बच नहीं सकती। इस पापके कारण उस समय भी अशौच प्राप्त होता है।

मृतकके वस्त्रादिके संबंधका तथा परम्परा संबंधका विच्छिन्न होना तत्काल संभव नहीं है। इसी प्रकार प्रसूताके अपवित्र वस्त्रोंका संबंध तथा जन्मे हुए बालकका संबंधसे छूटना शक्य नहीं है। कहीं-कहीं किसी किसी देशमें इनका बहुत सावधानीसे परहेज रखा जाता है पर यह सर्वत्र नहीं होता और न संभव ही है। मरण समय शोकातुरताके कारण और पुत्रोत्पत्तिके समय हर्षातिरेकके कारण परहेज कम होता है अतः यह अपवित्रता भी बिना काल शुद्धिके दूर नहीं होती भले ही उसके पूर्व घरकी स्वच्छता तथा वस्त्रोंकी स्वच्छता कर ली गई हो।

शोकातिरेक और हर्षातिरेक दोनोंमें रागद्वेषकी प्रबलता मनमें उत्पन्न हो जाती है। रागद्वेषका अतिरेक भी एक महान् अशौच है। तात्कालिक मरण और जन्मकी घटनाओंसे वह अशौच शीघ्र नष्ट नहीं होता। उसे शान्त होनेमें कुछ काल लगता है उसे ही कालशुद्धि या सूतक शुद्धि कहते हैं। जिनके यह रागद्वेषका अतिरेक हो उनको मन्दिर आदि पवित्र स्थानोंमें जाना तथा पूजनादि धार्मिक क्रियाएँ करना वर्जित है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसे समय धार्मिक कार्योंको वर्जन कर और भी अनर्थ किया जाता है। धर्मकार्यके लिए यह रुकावट कैसी ? धर्मसे तो अशुद्ध व्यक्ति भी शुद्ध बन जाता है। इस प्रश्नका समाधान यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो धर्मस्थानोंमें धर्मलाभार्थ जाता है उसका संबंध उस

तक ही सीमित नहीं है, किन्तु उसके निमित्तसे अनेक दर्शनार्थी, पूजार्थी, स्वाध्यायार्थी भाइयोंसे भी उसका सम्बन्ध है जो कि उक्त लाभके लिए जिन मन्दिरोंमें जाते हैं। उक्त अशौचके समय सम्बन्धित व्यक्ति मन्दिरमें जाकर भी अपनेको नहीं सम्हाल पाता बल्कि अपने शोकके कारण अन्य उपस्थित व्यक्तियोंको भी शोकाविष्ट बना देता है। तद्वत् हर्षातिरेकवाला मन्दिरमें स्थित प्रत्येक साधर्मीके सामने अपने हर्षकी चर्चा कर बैठता है। इन दोनों कार्योंसे दर्शनार्थी और पूजनार्थी भाइयोंका समय भी व्यर्थ जाता है, वे भी उसके शोक या हर्षके प्रवाहमें वह जाते हैं। अतः सूतकके दिनोंमें अशौच मान कर समष्टिगत धार्मिक कार्योंसे दूर रहकर व्यक्तिगत सामायिकादिस्तुति व पाठादि धार्मिक कार्योंके द्वारा धर्मका साधन करना चाहिए।

मृत रोगीकी बीमारी भी यदि कोई छुआछूतकी हो या राजरोग हो तो उसके सम्पर्कमें रहनेवाले वस्त्रादिकी तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंकी शुद्धि जब तक न हो जाय तब तक सम्पर्क रखनेसे बीमारीके फैलने या बढ़नेका शक बना रहता है, अतः लौकिक लाभकी दृष्टिसे भी सूतक विधिको मानना लाभदायक है। मरणका सूतक वंशकी तीन पीढ़ी तक अथवा खुदकी पीढ़ी जोड़कर चार पीढ़ी तकके लोगोंको १२ दिनका लगता है। तथा जन्मसम्बन्धी सूतक दश दिन प्रमाण लगता है। इसके बाद भी पीढ़ियोंमें क्रम क्रमसे दोनोंसूतक हीन होते जाते हैं। इन दिनोंमें श्रावकको अशौच सम्बन्धी सभी नियमोंका नियमित पालन करना चाहिए। अन्यथा अनेक प्रकारकी हानि होना सम्भव है १५३।१५४।

प्रश्न :—वद सूतकचिह्नं किं वा तत्प्रयोजनं गुरो।

हे गुरुदेव। सूतकका चिह्न क्या है। तथा सूतक माननेका प्रयोजन क्या है कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

मृतस्य देहसंसर्गात् वस्त्रपात्रगृहादिकम्।
स्याद् दुर्गन्धमयं हेयं तच्छुद्धयै सूतकस्य वा॥ १५५॥
कौ मिथो मोहनाशाय तत्त्वतः क्रियते विधिः।
नृणां वृत्तिः पशोर्भिन्ना बोधार्थमिति धार्मिकैः॥ १५६॥ युग्मम्॥

मृतस्येत्यादि :—मृतप्राणिनः देहः स्वयं रोगाणां मन्दिरमस्ति। तथा मरणानन्तरं तु शरीरं तत्कालत एव गलति तथा जीवराशयस्तत्र समुत्पद्यन्ते। अतः दुर्गन्धमयमपि भवति। तत्संपर्कात् वस्त्रादिकं पात्रादिकं गृहादिकञ्च दुर्गन्धमयं भवति। तत्शुद्ध्यर्थं सूतकं क्रियते। तथा मिथः परस्परं या मोहस्य परम्पराऽस्ति यया स जीवः विकलीक्रियते तन्नाशाय कालस्यापेक्षा वर्तते अतः सूतकस्य विधिः क्रियते। नराणां वृत्तिः पशुनो भिन्ना एव इति परिज्ञानार्थं धार्मिकैः सूतकस्य विधिः क्रियते।१५५।१५६।

मृत मनुष्योंका शरीर एक तो स्वयं रोगोंका मन्दिर है अतः वैसे ही अपवित्र रहता है। उससे सम्बन्धित वस्त्र, पात्र और गृहादिक भी गलित शरीरकी दुर्गंधिके समान दुर्गन्धमय रोगकारक बन जाते हैं, अतः उस अशौचसे बचनेके लिए सूतक विधिके नियमोंका पालन आवश्यक है। गलित शरीरमें असंख्य जीवराशि उत्पन्न होती है, उनका विनाश भी रुक नहीं सकता। इसलिए तथा परस्परमें जो मोहका अतिरेक है उसे दूर करनेके लिए भी काल अपेक्षित है। अतः जन्म मरणका अशौच उक्त कालकी मर्यादाके भीतर बताया गया है।

मनुष्यकी प्रत्येक वृत्ति विवेकपूर्ण है पशुओंकी तरह अविवेक पूर्ण नहीं है इस बातका बोध भी इन आवश्यक नियमोंसे ही मालूम पड़ता है, अतः इनका पालना आवश्यक कर्त्तव्य है। जो लोग इन शास्त्रोक्त लाभदायक नियमोंका पालन नही करते वे शारीरिक और धार्मिक हानिको उठाते हैं अतः पूर्वज आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सूतक पातककी विधिका यथायोग्य पालन करना ही श्रेयस्कर है। १५५। १५६।

प्रश्न :—**श्रीदं न गृह्णाति यथार्थधर्मं स कीदृशो मे वद विश्वशान्त्यै।**

हे गुरो! कल्याणकारक धर्मको जो नहीं धारण करता वह मनुष्य कैसा है? विश्वशान्तिके लिए उसका स्वरूप बताइये—

(अनुष्टुप्)

करोति केवलं कौ यो धर्मं रूढिवशात्सदा।
न जानाति गुणान् दोषान् धर्मस्यापि स्वबुद्धितः॥ १५७॥
नेत्रवानपि चान्धः स बुधोऽपि मूर्ख एव सः।
स कलहप्रियो मन्ये स्वर्मोक्षसौख्यदूरगः॥ १५८॥ युग्मम्॥

करोतीत्यादिः—यः मूर्खः धर्मस्य स्वरूपं न जानाति अथवा जानन्नपि तस्य विश्वकल्याणकारकस्य धर्मस्य स्वबुद्धितः श्रद्धानं न करोति। अधर्मस्य दोषानपि यो न वेत्ति। तथा च केवलं वंशपरम्परागतत्वात् लौकिकरूढिवशादेव धर्मं पालयति न वेत्ति स कलहप्रियः स्वर्गसुखतस्तथा मोक्षसुखतोऽपि अत्यन्तं दूरे एव इति अहं मन्ये। १५७। १५८।

धर्म और अधर्मके स्वरूपको और उसके गुण दोषोंको विचार कर जो अधर्मका त्याग कर धर्मका पालन करता है वह मनुष्य बुद्धिमान है। किन्तु जो धर्माधर्मके स्वरूपको जानकर भी स्वयंकी बुद्धिसे विवेकको प्राप्त न होकर केवल रूढ़िके वश यह समझकर धर्मका पालन करता है कि यह तो मेरा वंश परम्परागत धर्म है अतः पालना चाहिए, वह मनुष्य धर्मात्मा नहीं है। वह केवल पर्यायबुद्धिवाला है। जैसे वह जैन कुलमें उत्पन्न होनेसे जैन धर्मको कुलधर्म मानता है इसी प्रकार विधर्मियोंके कुलमें उत्पन्न होनेपर वह उसे भी कुलधर्म मानकर पालन करता। जिस पर्यायमें जीव जाता है उसे ही अपनी करके मान लेता है, इसमें विवेकका कार्य कहाँ है। जो विवेकसे जैनधर्मको आत्मधर्म मानकर पालन करेगा उसका ही कल्याण होगा।

जो धर्मके स्वरूपको जानकर भी उसे लौकिक रूढ़ि मात्रसे पालता है, आचार्य कहते हैं वह नेत्रवान् होते हुए भी अंधेके ही समान है। वह केवल कलहप्रिय है, धर्मप्रिय नहीं। वह धर्मके सुन्दर फल स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके मार्गसे बहुत दूर है ऐसा हम मानते हैं। अतः विवेकी मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह जो कुछ भी कार्य करे उसे विवेककी कसौटी पर कस लेवे और हितकर सिद्ध होनेपर उसे आचरणमें लावे। अविवेकी मनुष्य ठगाया जाता है वह हित मार्गके स्थानमें रूढ़ि या परम्परा को ही धर्म मानकर कभी-कभी अधर्म या अहितके मार्गको ही हितकर मान बैठता है अतः विवेकपूर्ण क्रिया ही श्रेयस्कर है।१५७।१५८।

प्रश्नः—**कीदृक् तर्हि गुरो ग्राह्यो धर्मो मे सिद्धये वद ।**

हे गुरुदेव ! मुझे अपने कल्याणकी सिद्धिके लिए कैसा धर्म ग्रहण करना चाहिए, कृपाकर बताइए—

(अनुष्टुप्)

को वीतराग एवास्ति सद्धर्मो विश्वरक्षकः ।
सोऽपि तत्रैव विज्ञेयो यत्रेर्ष्याद्या न दुःखदाः ॥१५६॥

कावित्यादिः—यत्र दुःखदा ईर्ष्याद्याः क्रोधादय आत्मविकाराः न स्युः स एव धर्मः । स एव विश्वरक्षकः । ईर्ष्याद्या एव परस्परं संघर्षमुत्पादयन्ति । संघर्षत एव अशान्तिर्भवति । अशान्तिस्तु विश्वनाशिका । तस्मात् कारणात् विश्वकल्याणार्थं तु अशान्तेर्मूलकारणानां पारस्परिकस्वार्थसंघर्षाणां तदुत्पादकानामीर्ष्यादीनामात्मविकाराणां परिहारः कर्तव्यः । स एव वीतरागधर्मः । तेनैव धर्मेण जगति सुखस्य शान्तेश्च समृद्धिर्भवति । अतः स एव धर्मः ग्राह्यः ।१५६।

धर्म शब्दका अर्थ अपना कर्त्तव्य है । जब कि यह परीक्षित, स्वानुभूत तथा सुनिश्चित है कि संसारका प्रत्येक प्राणी सुख और शान्तिको पसन्द करता है, वह दुःखमय तथा अशान्तिमय जीवन नहीं चाहता, तब यह भी सुनिश्चित है कि जिस मार्गसे उसे सुख और शान्ति प्राप्त हो वही उसका कर्तव्य है और वही कर्तव्य उसका धर्म है ।

संसारी प्रत्येक आत्मामें कुछ गुण भी हैं और कुछ दोष भी । गुण आत्माका स्वभाव है, और दोष आत्माके गुणोंका विकार है । आत्मा जितना अपने स्वभाव रूपको प्राप्त करेगा उतना ही अपने धर्मके निकट आयगा और जितना विभाव रूप परिणत होगा उतना ही आत्मधर्मसे दूर होगा । ईर्ष्या, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर आदि आत्माके विकारी भाव हैं । इनके होनेपर आत्मा अपनी स्वतंत्र सत्ताकी परसे भिन्नताका भान नहीं करता । उसकी दृष्टि परपदार्थ पर रहती है । उसकी प्राप्तिमें लाभ और अप्राप्तिमें अलाभ मानता है । ये परपदार्थ संघर्षके कारण हो जाते हैं, कारण इनकी प्राप्तिके लिए अनेक मिथ्यात्वी मोही प्राणी सदा लालायित रहते हैं और उसके लिए लड़ाई, झगड़ा, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर आदि किन्हीं भी दुर्गुणोंसे नहीं डरते ।

सम्यग्दृष्टि पुरुष निर्मल दृष्टि होनेसे सदा आत्मगुणोंकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्नशील होते हैं । वे अपने विकृत भावोंका विश्लेषण करते हैं और उनसे दूर रहनेका प्रयत्न करते हैं । पर पदार्थोंको वे "पर" मानकर उनके लिए कभी किसीसे संघर्ष नहीं करते । उन्हें आत्माकी स्वतन्त्र सत्तामें—उसकी अमरता पर विश्वास है, अतः आत्माके मिथ्या तोषके लिए पर पदार्थको प्राप्त करनेका प्रयत्न बिलकुल नहीं होता । वे परसे राग द्वेष मुक्त होकर वीतराग स्वरूप परम धर्मका ही पालन करते हैं । विश्वशांतिका यही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है अन्य नहीं, अतः धर्मका स्वरूप जानकर उसे ग्रहण करना चाहिए ।१५६।

प्रश्नः—**के वीतरागधर्मस्य रक्षकाः स्युर्गुरो वद ।**

हे गुरुदेव ! वीतराग धर्म तो उपेक्षकोंका धर्म सिद्ध हुआ, उसकी रक्षा कौन करता है ? गुरु उत्तर देते हैं—

(अनुष्टुप्)

श्रीवीतरागधर्मस्य स्वर्मोक्षसुखदायिनः ।
कौ त्रिषष्टिशलाकादिपुरुषाः सन्ति रक्षकाः ॥१६०॥
नीतिज्ञा निर्मदाः स्वस्था वाभवन्विश्वनायकाः ।
तदनुकरणं कार्यं ज्ञात्वा शान्त्यै विचक्षणैः ॥१६१॥
श्रीवीतरागधर्मस्य यतः स्यात्सर्वभूतले ।
प्रचारः कार्यरूपेण स्वात्मचर्चा गृहे गृहे ॥१६२॥ विशेषकम् ॥

श्रीवीतरागेत्यादिः—वीतरागधर्म एव मोक्षप्रदायकः स पूर्वं स्वर्गादिसुखप्रदायकोऽस्ति । तद्धर्मप्रतिपालकाः तद्वृद्धिकारकास्तत्प्रचारकाश्च त्रिषष्टिसंख्याकाः शलाकापुरुषाः भवन्ति । चतुर्विंशतिः तीर्थकराः द्वादश चक्रवर्तिनः नव नारायणाः नव प्रतिनारायणा नव बलभद्राश्चेति प्रमुखाः श्रेष्ठपुरुषा शलाकापुरुषाः कथ्यन्ते । तीर्थकराः किल प्रथममेव स्वतपोबलेन ज्ञानावरणादिघातिचतुष्टय हत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य जगति तत्त्वदेशनाङ्कुर्वन्ति । जगद्धितैषिणस्ते विश्वनायकाः रागद्वेषमदाद्यष्टादशदोषविरहिताः अनात्मार्थमेव विश्वशान्त्यै धर्मोपदेशं कुर्वन्ति । भूपतयः चक्रवर्तिनस्तु तद्धर्मं पालयन्ति प्रजाजनेषु तदानुकूल्येनैव व्यवस्थाङ्कुर्वन्ति यतः स्यात् सर्वत्र शान्तिः । तद्वत् स्वस्वसमये प्रतिनारायणाः समुत्पद्यन्ते तेऽपि यथायोग्यं धर्ममनुपालयन्ति । त्रिखंडभूपतयस्ते आर्यखण्डे म्लेच्छखण्डद्वये च विद्यमानान् नृपतीन् साधयन्ति , तान् विनिहत्य नारायणाः किल खण्डत्रयस्याधिपतयो भवन्ति । तद्भ्रातरस्तु बलभद्राः निर्मदाः नीतिसञ्चालका भवन्ति । यदाज्ञां उल्लङ्घयितुमसमर्था एव भवन्ति नारायणाः । अत्यन्तं स्नेहो भवति परस्परं उभयोरपि । इति नारायणाः बलभद्राश्च सद्धर्ममनुपालयन्ति । यथा किल एतैर्महापुरुषैः धर्म आराधितः यथा च प्रसारितः यथा वर्धितः यथा लोके स्थिरीकृतस्तत्प्रसादाच्च साक्षात्परम्परया वा स्वात्मसुखमासादितं तथैव तेषामनुकरणं सर्वैरपि कार्यम् । एवं कृते सति जगति संघर्षाभावे सति सुखदायिनी शान्तिर्भविष्यति । सर्वप्रकारेण सुखसमृद्धिकारकस्य श्रीवीतरागस्वरूपस्य वीतरागप्रणीतस्य वा सद्धर्मस्य कार्यरूपेण सर्वत्र भूतले प्रचारः कर्तव्यः यतः सर्वत्र गृहे गृहे स्वात्मचर्चा एव स्यात् । स च सम्यक् स्वार्थः । ग्राह्यस्तु स विश्वकल्याणकारकः । धनादिना खलु यः स्वार्थः साध्यते स विश्वघातक एव । तन्नाश एव सम्यक्स्वार्थः । तत्साधनङ्कर्तव्यमेव । तेनैव लोकहितम्भवति इति ज्ञातव्यम् ।१६०।१६१।१६२।

इति श्रीकुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां च चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

भगवान् वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित रागादि दोषरहित स्वात्मधर्म स्वरूप सद्धर्म ही आत्माको संसारके बंधनसे मुक्तिप्रदान करनेमें समर्थ है । वही सद्धर्म यदि पूर्णमात्रामें न हो सका और मुक्ति प्राप्त न हुई तो संसार अवस्थामें भी उसके प्रसादसे नरकादि दुखोंका विनाश होकर स्वर्गादिमें स्वात्मीक सुखोंकी प्राप्ति होती है । इस सद्धर्मके प्रमुख उपासक और निर्देशक तो भगवान् तीर्थकर देव हैं जो प्रत्येक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणीकालमें २४ होते हैं । वे अपने तपोबलसे घातिया कर्म ज्ञानावरणादिको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर जगत्के हितके लिए ही तत्त्वोपदेश करते हैं । उन तीर्थंकरोंके कालमें मध्य मध्यमें (१२) चक्रवर्ती होते हैं जो षट्खण्ड भूमिके साधक होते हैं । समस्त भरत क्षेत्रके ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं उन चक्रवर्तियों द्वारा धर्मका

पालन होता है। वे धर्मानुकूल विश्वशान्तिके लिए ही जगत्का शासन करते हैं तथा तीर्थंकरोंकी तरह ही प्रायः तप करके मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

अपने अपने समयमें चक्रवर्तीकी तरह तीन खंड भूमिके अधिपति ६ प्रतिनारायण होते हैं ये भी यथायोग्य धर्मका पालन करते हैं तथा प्रजाजनोंमें धर्मकी वृद्धि करते हैं। राज्य कारणोंसे इनका विनाश करनेवाले नारायण भी इनके ही समयमें होते हैं। उनकी भी संख्या ६ है। इनके बड़े भाई बलभद्र कहलाते हैं। नारायण और बलभद्रमें अत्यन्त गाढ़ स्नेह होता है। ये सब २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ प्रति-नारायण, ६ नारायण और ६ बलभद्र कुल ६३ नररत्न प्रमुख शलाका पुरुष हैं जिनके द्वारा धर्मकी सदा रक्षा और वृद्धि होती आई है। जिसतरह उन्होंने सद्धर्मका अनुपालन, प्रवृत्ति, प्रचार और वृद्धिकी है ऐसी ही सबको करनी चाहिए। ऐसा होने पर ही जगत्में संघर्षका अभाव होकर सुख और शान्तिकी वृद्धि हो सकेगी।

सारांश यह है कि प्रजाजनोंमें इतना ही नहीं विश्वके प्राणियोंमें सुखशान्तिकी समृद्धि एकमात्र वीतराग धर्मसे ही हो सकती है, अतः उसका कार्यरूपमें पालन व प्रचार सबको करना चाहिये, जिससे घर घरमें आत्मचर्चा सुनाई देवे। यह ही सच्चा स्वार्थ है। यह स्वार्थ ग्राह्य है। धनादिके रूपमें जो स्वार्थ है वह दुःस्वार्थ है। वह संघर्षका कारण है। अशान्तिका मूल है। उसका त्याग ही सम्यक् स्वार्थ है, जो कि विश्वका कल्याणकारक है। उससे ही लोकका हित हो सकता है, अतः सदा उसका पालन व प्रचार करना श्रेयस्कर है।१६०।१६१।१६२।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागरविरचित श्रावकधर्मप्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री कृत प्रभानामक व्याख्यामें चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रश्न :—**द्वितीयप्रतिमाचिह्नं किमस्ति मे गुरो ! वद ।**

हे गुरुदेव ! दार्शनिक श्रावकका स्वरूप ज्ञात किया । अब दूसरी प्रतिमाका स्वरूप कृपाकर कहिए—

(अनुष्टुप्)

पञ्चाणुव्रतपूत्यर्थं त्रीणि गुणव्रतानि वा ।
चतुःशिक्षाव्रतान्येवं गृहीत्वा स्वात्मचिन्तनम् ॥१६३॥

कुर्वन्ति ये यथाशक्ति दयाधर्मप्रभावनाम् ।
द्वितीयप्रतिमायास्ते भवन्ति स्वामिनः सदा ॥१६४॥ युग्मम् ॥

पञ्चेत्यादि :—तृतीयाध्याये पञ्चपापानां स्वरूपं प्रतिपादितम् । तदेकदेशपरित्यागिनः खलु श्रावकाः भवन्ति । श्रावकस्य देशव्रतान्येवाणुव्रतानि । तद्गुणवृद्ध्यर्थं खलु दिग्विरतिदेशविरत्यनर्थदण्डत्यागरूपाणि गुणव्रतानि सन्ति । अणुव्रतानां महाव्रतत्वापादनाय अभ्यासरूपाणि किल चतुःशिक्षाव्रतानि ध्रियन्ते । इत्यनेन प्रकारेण द्वादश संख्याप्रमाणं गृहिव्रतं गृहीत्वा ये स्वात्मचिन्तनं कुर्वन्ति ते स्वशक्त्यनुसारं अहिंसामहाधर्मस्यैव प्रभावनां कुर्वन्ति । त एव गृहिणः द्वितीयप्रतिमायाः स्वामिनो भवन्ति इति संक्षेपतः द्वितीयप्रतिमायाः स्वरूपमस्ति ।१६३।१६४।

तीसरे अध्यायमें पाँच पापोंका स्वरूप निरूपण किया है । उन पापोंका त्याग ही यथार्थमें व्रत है । यद्यपि पाँचों पापोंका सम्पूर्ण त्याग गृहस्थके नहीं होता, तथापि एकदेशरूप त्याग गृहस्थ अवश्य कर सकता है । श्रावकके इस एकदेश पाप परित्याग रूप व्रतोंको ही अणुव्रत कहते हैं । इन अणुव्रतोंमें दोष न लगें और गुणोंकी वृद्धि हो इसके लिए तीन गुणव्रत अर्थात् दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डत्याग इनका पालन किया जाता है । इसी प्रकारसे अणुव्रतोंको महाव्रत बनानेके लिए उसके अभ्यासस्वरूप ही सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ऐसे ४ व्रत शिक्षाव्रतके नामसे गृहस्थके लिए बताए गए हैं । जो इन सम्पूर्ण व्रतोंका निर्दोष निरतिचार पालन करते हैं तथा जो इस प्रकार पर पदार्थोंके सम्पर्कसे दूर रहकर स्वात्मचिंतवनकी ओर सम्मुख होते हैं वे ही द्वितीय प्रतिमाके धारक हैं ।

सभी व्रतका पालन एकमात्र महान् परमधर्म अहिंसा व्रतके पालनके लिए ही किया जाता है । असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह ये चारों हिंसामूलक कार्य हैं । हिंसा मूलक होनेसे ही इनकी पाप संज्ञा पड़ी है । रागादिपरिणामोंके द्वारा आत्मस्वभावका हनन ही हिंसा है । इस निमित्तसे राग, द्वेष, क्रोध और लोभ इनको हिंसाका पर्यायवाची कहते हैं । इन दुर्गुणोंके कारण ही असत्य भाषण चौर्य और कुशील आदि

पाप होते हैं, अतः इनके त्यागरूप व्रतोंसे एक अहिंसा परमधर्मकी ही प्रभावना होती है। ऐसा करनेवाले महानुभाव गृही ही द्वितीय प्रतिमाके आराधक हैं ऐसा जानना चाहिये।१६३।१६४।

प्रश्नः—**अणुव्रतानि हिकानि सन्ति गुणव्रतानि वा।**
वद शिक्षाव्रतानीति ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः॥

हे गुरुदेव अणुव्रत क्या हैं, कौन हैं, तथा गुणव्रत और शिक्षा व्रत कौन हैं? मैं उनका यथार्थ स्वरूप जाननेकी इच्छा करता हूँ, कृपाकर कहें—

(अनुष्टुप्)

अहिंसा सत्यमस्तेयं परदाराविवर्जनम्।
परिग्रहपरित्यागः ज्ञेयान्यणुव्रतानि हि॥ १॥
दिग्देशविरती चैवाऽनर्थदण्डव्रतं तथा।
गुणव्रतानि चैतानि गुणवृद्धेस्तु हेतुतः॥ २॥
सामायिकोपवासौ तु व्रतं भोगोपभोगयोः।
वैयावृत्यं च चत्वारि नित्यं शिक्षाव्रतानि तु॥ ३॥
श्रावकाणां व्रतान्येतान्यथ विस्तारतस्तथा।
वक्ष्ये क्रमतोऽग्रे हि सावधानतया शृणु॥ ४॥ कलापकम्। क्षेपकम्।

अहिंसेत्यादिः—अहिंसाव्रतं सत्यव्रतं अस्तेयव्रतं परदाराविवर्जनं स्वीकृतपरिग्रहस्य परिमाणञ्चेति पञ्चाणुव्रतानि भवन्ति। दिशासु गमनागमनविरतिरूपा दिग्विरतिः। तदन्तर्गतदेशेषु पुनरपि अल्पकालीना गमनागमनविरतिरूपा देशविरतिः। स्वीकृतेष्वपि विषयेषु यदनावश्यकं तस्य परित्यागोऽनर्थदण्डविरतिः। एतानि त्रीणि गुणव्रतानि सन्ति। त्रिकाले समताभ्यासरूपं सामायिकव्रतं पर्वणि प्रोषधोपवासः स्वीकृतेष्वपि भोगोपभोगेषु यथावश्यकं परिहाररूपं भोगोपभोगपरिमाणं वैयावृत्यञ्च इति चत्वारि शिक्षाव्रतानि सन्ति। एतानि द्वादशसंख्याकानि एकदेशविरतिरूपत्वात् श्रावकस्य व्रतानि सन्ति। एतेषां विस्तरतस्वरूपं क्रमशोऽग्रे वक्ष्यते। तत् सावधानतया शृणु।१।२।३।४।

अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परस्त्रीसेवात्याग और परिग्रह परिमाण ये पांच व्रत अणुव्रत हैं। तथा दशों दिशाओंमें गमनागमन परिमाणरूप दिग्व्रत, तथा उसीके भीतर भीतर अल्पकालके लिए निश्चित देशका परित्याग रूप देशविरति और स्वीकृत विषयोंमें अनावश्यक विषयोंके त्यागरूप अनर्थ दण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं।

प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल त्रिकालमें समताके अभ्यासरूप सामायिक, पर्वके दिनोंमें प्रोषधोपवास, स्वीकृत परिग्रहमेंसे अनावश्यक भोग और उपभोगोंका त्यागरूप भोगोपभोग परिमाणव्रत तथा धर्मात्माओंकी सेवारूप वैयावृत्यव्रत ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये सब मिलाकर श्रावकोंके १२ व्रत हैं। इनका विस्तारसे वर्णन आगे ग्रंथकार करेंगे, उन्हें दत्तचित्त होकर सुनो।१।२।३।४।

प्रश्नः—**अहिंसाव्रतचिह्नं किं केऽतिचारा गुरो वद।**

हे गुरो! अहिंसा व्रतका क्या स्वरूप है और उसके दोष कौन हैं? कहिए—

(अनुष्टुप्)

जीवस्थानं गुणस्थानं मार्गणास्थानकं तथा ।
योन्यादि निश्चयाद् बुद्ध्वा त्रसजीवादिरक्षणम् ॥१६५॥
कार्यं नित्यं यथाशक्ति स्थावराणामपि तथा ।
अहिंसाणुव्रतं पूतं यतः स्याच्छांतिसौख्यदम् ॥१६६॥ युग्मम् ॥

जीवस्थानमित्यादि :—चतुर्दशसु जीवस्थानेषु चतुर्दशसु गुणस्थानेषु चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु च क्व क्व जीवानामवस्थानम्भवति । क्वोत्पद्यन्ते त्रसजीवाः इत्येवंप्रकारेण जीवानां निवासस्थानं उत्पत्तिस्थानञ्च ज्ञात्वा त्रसजीवानां सर्वप्रकारेण रक्षणं यथायोग्यं स्थावरजीवानामपि रक्षणं कार्यम् । एतदेव गृहस्थानां शान्तिदं सौख्यदं पवित्रं अहिंसाव्रतं भवति ।१६५।१६६।

मिथ्यादर्शन, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरति, प्रमत्तविरति, अप्रमत्तविरति, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतकषाय, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी ये चौदह गुणस्थान हैं। मोह और योगके तथा उसके क्रमशः क्षीण होनेसे ये गुणस्थान बनते हैं। इन विभिन्न परिणामवाले जीव गुणस्थानोंमें पाए जानेवाले जीव हैं।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सातके पर्याप्त और इनके ही अपर्याप्तके भेदसे चौदह प्रकारके जीवसमासोंमें भी जीव व्यवस्थित हैं। चारों गति, पाँचों इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा, आहारक ये १४ मार्गणा हैं। इनके भेद प्रभेदोंमें भी जीवोंकी स्थिति है।

उक्त प्रकार जीवोंकी व्यवस्था जानकर तथा कहाँ-कहाँ किन जीवोंकी उत्पत्ति होती है इसे भी आगमसे ज्ञातकर जो जीव यथाशक्ति स्थावरोंकी प्रतिसमय रक्षा करते हुए त्रसहिंसाको संकल्पसे नहीं करता वह जीवनमें शान्ति और सुख प्रदान करनेवाले पवित्र अहिंसाव्रतका पालन करनेवाला है।१६५।१६६।

अथाहिंसाव्रतातिचाराः

(वसन्ततिलका)

आहारपानपरिरोधननिन्द्यकृत्यं ।
बन्धो वधश्च गुरुभारकरोपणादि ॥
छेदो न धर्मरसिकैर्विषयादिवृद्ध्यै ।
कार्यः सदा भुवि यतः स्वपदे निवासः ॥ १६७ ॥

आहारेत्यादि—आहारपानपरिरोधननिन्द्यकृत्यं स्वोपयोगार्हनरतिरश्चामाहारपानपरिरोधनं समयमुल्लंघ्य भोजनादिदानं अहिंसाव्रतस्य अतिचारः स्यात् । तेषां प्राणपीडाकारकत्वात् तत्कार्यं निन्द्यमेव । बन्धो रज्ज्वादिना शृंखलया वचनेन यंत्रमंत्रादिना अन्येन केनापि प्रकारेण वा नियतस्थाने नियमतं बन्धनकरणं द्वितीयोऽतिचारः । वधः कषायावेशतःप्राणिनां वेत्रादिभिःताडनं तृतीयोऽतिचारोऽस्ति । गुरुकभारकरोपणादि न्यायातिक्रमेण तत्साम-

र्थ्यादधिकभारस्य तदुपरि रोपणं सेवकादिभिरपि निरवच्छिन्नरूपेण रात्रिंदिवं सेवाग्रहणादिकमपि अतिभारारोपणं नाम अहिंसाव्रतस्य चतुर्थोऽतिचारः स्यात्। तेषां कर्णनासिकादिच्छेदनेन स्ववशीकरणं पञ्चमोऽतिचारः स्यात्। सर्वाण्यपि उल्लिखितकार्याणि स्वविषयरागात् अन्यस्योपरि क्रोधाद्यावेशात् वा क्रियमाणानि तत्सम्बन्धप्राप्तानां नराणां स्त्रीणां बालानां तिरश्चां वा अतिदुःखाधायकानि भवन्ति अतस्तानि अहिंसाव्रताराधकस्य तद्व्रतस्य छिद्ररूपाण्येव। १६७।

अपने अधीन रहनेवाले पशु, पक्षी व मनुष्यादिकोंको यथा समय भोजन व पान प्रदान करना अहिंसाव्रतीके लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। समय टाल करके उनको भोजन पान देना उन्हें कष्ट पहुँचाना है जो कि उसके व्रतके लिए अनुचित है। तथापि यदि कोई व्रती इसका ध्यान न रखे प्रमादसे अथवा अपने कार्यकी अधिकतासे भूल जाय और समयका उल्लंघन कर उन्हें भोजन पान दे तो वह अहिंसाव्रती के लिये अतिचार है।

अपने आर्थिक वैषयिक प्रयोजनके कारण मनुष्यों या पशुओंको अथवा मनोरंजनके लिए शुक सारिका आदिको पिंजड़े आदिमें अथवा रस्सी सांकल, यंत्र, मंत्र द्वारा या केवल वचनोंके द्वारा किसी नियत स्थानमें रोककर रखना व यथेच्छ गमनागमन न करने देना यह परिरोधन नामक द्वितीय अतिचार है।

अपने वशमें रखनेके लिए यदि पशु पक्षीके लिए बांधनेकी आवश्यकता अनुभवमें आवे और वे सहजमें बंधनादि तोड़ कर भाग जा सकते हैं ऐसी आशंका हो तो लोग उनके नाक कान छेद देते हैं और उनमें रस्सी डाल कर बांध देते हैं ताकि भागने की चेष्टा करने पर उनके उन मुलायम अंगों को पीड़ा हो और उस पीड़ाको न सह सकनेके कारण वे बंधन तुड़ा कर न भाग सकें। यह छेदन नामका तृतीय अतिचार है।

अपने उक्त प्रयोजनों की सिद्धिके लिए मनुष्यों, पशुओं अथवा पक्षियों को बेत-दण्ड आदिके द्वारा मारना या ताड़ना देना वध नामक चतुर्थ अतिचार है।

अतिभारारोपण यह अहिंसा व्रतका पांचवाँ अतिचार है। भारवाही लोग बैलों पर, गाड़ियोंमें, घोड़ों पर, तांगा, टमटम आदिमें, गधोंपर तथा ऊंटोंपर उनकी सामर्थ्यसे अधिक बोझ लाद कर उन्हें कष्ट देकर अपना अल्प प्रयोजन साधते हैं। यह अन्याय कार्य इस व्रतका पांचवां अतीचार है।

नगरमें या ग्राममें समर्थ लोग अपने कार्योंको सम्पन्न करनेके लिए नौकर रखते हैं, मुनीम रखते हैं अथवा क्लर्क रखते हैं। इन कार्योंकी सेवा का भार उनपर इतना अधिक रख देते हैं कि जिसे वे वहन नहीं कर पाते या बड़े कष्टसे वहन कर पाते हैं। दिनमें रात्रिमें १० घंटे, १२ घंटे, १४ और १६ घंटे भी काम लिया जाता है। दो आदमीके करने योग्य कार्य का भार एकही आदमीसे लिया जाता है। यह सब अतिभारारोपण अतिचार ही है।

इन सपूर्ण कामोंमें जिन्हें लोग अपने वैषयिक साधनके लिए अथवा आर्थिक प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर लोभके आवेशमें करते हैं और कार्योंकी साधनाके लिए क्रोधादि कषायोंका भी अवलंबन करते हैं। किन्तु ये सब हिंसा आपादक कार्य हैं। जब तक अहिंसाव्रती इन कार्योंको एक हद तक करता है और अपना व्रत भंग न हो जाय इसका ध्यान रखता है तबतक उक्त कार्य अतिचार है। किन्तु व्रत रक्षा की हार्दिक चिन्ताके अभावमें दुष्टता या तीव्र लोभवश किए गये ये कार्य अनाचार संज्ञाको भी प्राप्त हो जाते हैं, अतः इनसे बचना ही श्रेयस्कर है।१६७।

प्रश्नः—सत्याणुव्रतचिह्नं किं तदतिचारकाश्च के ।

हे गुरु! सत्याणुव्रतका क्या लक्षण है और उसके अतिचार कौन कौन हैं? कहिए—

(अनुष्टुप्)

न रागादिवशं गत्वाऽसत्यवाक्यं कदापि कौ ।
स्वाम्यतापकरं सत्यमपि प्राणहरं मिथः ॥ १६८ ॥
बोधदं सुप्रियं वाक्यं सत्यं वाच्यं हितं मितम् ।
स्यात्सत्याणुव्रतं शुद्धं शान्तिदं सर्वभूतले ॥ १६९ ॥ युग्मम् ॥

न रागादीत्यादिः—रागद्वेषलोभमोहाद्यावेशात् मिथ्यावचनं कदापि न वाच्यम् । यतस्तत्स्वस्यापि,परस्यापि च सन्तापकरम्भवति । यद्यपि मिथ्यावचनेन तात्कालिकक्षणिकलाभः प्रतीयते किन्तु परिणामकाले तत् परहानिकरन्तु भवत्येव स्वस्यापि पश्चात्तापकरं भवति । अतएव कदापि भ्रमकारकं मिथ्यावचनं न वाच्यम् । अपि तु तदेव वाच्यं यत् सत्यं स्यात् । न केवलं सत्यं किन्तु प्रियमपि स्यात् । न केवलं सत्यं प्रियं वा अपि तु हितकारकमपि स्यात् । तत्स्वपरसन्तोषोत्पादकं वचनं स्वल्पशब्दैः परिमितैर्वाक्यैरेव वाच्यम् । अप्रियं अहितकारकं असन्तोपदायकं मौखर्यं वचनं तु यथातथ्यप्रकाशकमपि न सम्यक् । अप्रशस्तवचनेष्वेव तदन्तर्भावात्तन्मिथ्यावचनमेव । न च वाच्यम् सत्याणुव्रतिना एवम्प्रकारकं वचनमिति । यत् किल वचनं स्वस्य अन्यस्यापि प्राणहरं स्यात् तत्सत्यमपि मिथ्या एव । नैतेन वचनेन स्वस्य परस्य वा कल्याणम्भवति । एवंप्रकारे प्रसङ्गे समुपस्थिते याथातथ्यप्रकाशने स्वस्य परस्य वाऽकीर्तिरपवादश्च प्राणहारकस्स्याद्यदि तर्हि संक्लेशपरिणामपूर्वकमरणेन नरकादिगमनमेव स्यात् । तेन दुर्भवपरम्परा जायते अतएव न वाच्यमेवम्प्रकारं वचनमिति । किन्तु सापराधेष्वपि तदपराधहारकं तत्र पश्चात्तापकारकं पुण्योत्पादकं व्रतशीलेषु उत्साहोत्पादकं वचनमेव वाच्यम् । तेनैव स्वपरकल्याणञ्जायते । एवम्प्रकारेण वचनप्रयोगः भूतले शान्तिदायको भवति ।१६ ।१६६।

श्रावकका दूसरा अणुव्रत सत्य है । जैनाचार्योंने सत्य शब्दका अर्थ 'प्रशस्त वचन' किया है। जैसेका तैसा कहना सत्य है । मात्र इस व्याख्या को उन्होंमें सत्यकी सही व्याख्या नहीं माना । काणे मनुष्यको 'काणा' कहकर बुलाना या पुकारना यद्यपि जैसे को तैसा कहनेसे 'सत्य वचन' होना चाहिए पर जैनाचार्य उसे 'असत्य' वचन मानते हैं । कारण यह कि यह वचन पर को पीड़ाकारक है । वचन का प्रयोग कर्त्ता उसके अनादर भावसे तथा परिणाम दुखी करने या चिढ़ानेके अभिप्रायसे वैसा बोलता है अतः ऐसा वचन दुर्वचन होनेसे अप्रशस्त है—निंद्य है और इसी कारणसे वह असत्य है । सत्यव्रती ऐसा वचन नहीं बोलता ।

जो वचन स्वपर हितकारक हों सुननेमें प्रिय मालूम हों, थोड़े शब्दोंमें कहे गए हों इस प्रकार इन तीन विशेषणोंसे सहित होते हुए जो यथार्थ वस्तुके परिचायक हों वे सत्य या प्रशस्त वचन हैं ऐसा जैनाचार्योंका अभिमत है । जो वचन मिथ्या हों, स्वपरहितकारक न होकर हानि कारक हों, भ्रमोत्पादक हों, संशय उत्पन्न करनेवाले हों, कषायोत्पादक हों, मिथ्यामार्गके पोषक और प्रेरक हों, सदाचारके विरोधक हों, धर्म मार्गके विपरीत हों, किसीके प्राणहर्त्ता हों, समाजमें संक्लेश और क्षोभको उत्पन्न करनेवाले हों, लोक, समाज व देशके हितनाशक हों वे सब वचन तथा वचन प्रतिपादक चेष्टाएं "असत्य" हैं । सत्याणुव्रती ऐसे वचनोंको राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ,क्रोध व अभिमान आदिके वशीभूत होकर कभी नहीं बोलता ।

वह ऐसे वचनोंको ही सत्य मानकर उनका प्रयोग करता है जो सुननेवालेके तथा बोलनेवालेके प्राण हर्त्ता न हों, अकल्याण कर्त्ता न हों, अधर्म व असदाचारमें लेजानेवाले न हों, सुननेमें कर्णको प्रिय लगें हृदयको प्रिय लगें, जगत्‌में किसीके लिए भी अशान्तिदायक न हों और सम्यग्ज्ञानके उत्पादक हों।

उक्त गुणोंसे रहित किन्तु ऊपर कहे हुए असत्यके दोषोंसे सहित वचन यदि स्थितिको स्पष्ट करने वाले भी हों तो भी वे संक्लेश, सन्ताप, हिंसा तथा पापके उत्पादक होनेके कारण 'असत्य वचन' हैं। इनका प्रयोग सत्याणुव्रतीके लिए वर्जित हैं।१६८।१६९।

अथ तदतिचाराः—

अब सत्याणुव्रतके अतिचारोंका निरूपण करते हैं।

(उपजातिः)

मिथ्योपदेशो न रहस्यभेदो न कूटलेखो न च मन्त्रभेदः।
न्यासापहारश्च तथा न कार्यो व्रतस्य शुद्धिर्यदि वाञ्छनीया ॥ १७० ॥

मिथ्योपदेश इत्यादिः—मिथ्योपदेशः जिनवचनविरुद्धशास्त्रोपदेशः। रहस्यभेदः स्त्रीपुरुषाभ्यां रहसि विहितस्याचारस्य प्रकाशनम्। कूटलेखः कपटभावेन द्व्यर्थप्रतिपादनपरं लेखनिर्माणम्। न्यासापहारः स्मृतिभ्रंशात् स्वकीयं न्यासमंशतो याचतः पुंसोऽपूर्णन्यासनिवर्तनम्। मन्त्रभेदः इङ्गितेनाकारेण द्वाभ्यां वा परस्य मनोभावं बुध्वा दुरभिप्रायेण सर्वेषां पुंसां पुरस्तात् प्रकाशनम्। एवं सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचाराः परिवर्जनीया यदि व्रतस्य शुद्धिः वांछनीया वर्तते।१७०।

मिथ्याशास्त्रोंका पठन पाठन तथा उपदेश करना मिथ्योपदेश नामक प्रथम अतिचार है। प्रमादके कारण यह संभव है। आर्थिक लाभ और आजीविकाके निर्वाहके लिए जिन प्रतिपादित मार्गके विरोधक असन्मार्गके प्रतिपादक मिथ्यात्वपोषक ग्रन्थोंका पढ़ना, पढ़ाना या समाजमें उनका प्रचार करना तथा यह समझना कि मैं केवल अपनी आजीविकाके लिए इस मार्गका अवलम्बन कर रहा हूँ, मेरी श्रद्धा तो जिन मार्ग पर ही है, सत्यव्रतीके लिए व्रतभङ्ग कारक है।

यही कार्य यदि जिनमार्गमें अश्रद्धा तथा मिथ्यामार्गमें श्रद्धा होनेके कारण किया जाय तो वह सम्यक्त्वका विघातक होने से अनन्त निगोदका कारक महान् असत्य है। उसके होनेपर वह व्यक्ति महान् अव्रती तथा मिथ्यादृष्टी होगा। केवल मिथ्याको मिथ्या मानकर भी वह उसे सच्चा माननेवाले तत्संप्रदायके व्यक्तियोंके लिए केवल स्वजीविकाके लिए उपदेश करता है अथवा लिखता है, मिथ्यात्वपोषक ग्रंथों की टीकादि लिखकर आजीविका करता है। किन्तु ऐसा करनेवाला वह सदोषी व्रती है। व्रतीको ऐसी आजीविका न करनी चाहिए। यह पहला अतिचार है।

दूसरा अतिचार है रहस्यभेद। अर्थात् कोई पति-पत्नी अपना कार्य साधना चाहते हैं पर आप पर या अन्य किसी पर प्रकट नहीं किया जा सकता। तब उनकी चेष्टासे उनके अभिप्रायको समझ कर उसे जनतामें प्रकट कर उन्हें नीचा दिखाना व उनको हानि पहुँचाना रहस्यभेद है। यह उसी दशामें अतिचार है जब कि हम उस अभिप्रायका भेदन केवल उनकी हानिके लिए करते या कौतुक वश करते हैं।

कूटलेख—किसी विषयका प्रतिपादन करनेके लिए ऐसी शब्दावली या वाक्यावलीका प्रयोग करना जिससे पढ़नेवाला सहसा उसके इस अभिप्राय को जो हम निज स्वार्थ वश निकालना चाहते

हैं न समझ सके किन्तु दूसरा ही अर्थ समझे। रुपया पैसा आदिके व सुवर्ण भूमि आदिके संबंधमें ऐसे स्टांप या अन्य प्रकारके कपट पूर्ण लेख लिखाना जिससे दूसरे प्रकारके निजस्वार्थसाधक भी अर्थ निकाले जासकें ऐसे परवञ्चक शब्द पूर्ण लेख कूटलेख है। इन लेखोंको लिखने या लिखानेवाला प्रतिवादीकी सरलताका अनुचित लाभ उठाना चाहता है। वह अवसर पड़ने पर अपने लेखका भिन्नार्थ उसे समझा कर उसे वादीके स्वार्थ साधनके लिए मजबूर कर देता है। एक उदाहरण द्वारा यह विषय स्पष्ट हो जायगा—मान लीजिए कि एक मनुष्य एक ज्योतिषीके पास गया और यह बोला कि मेरी पुत्रवधू गर्भिणी है। उसके पुत्र होगा या पुत्री ? यदि हमारे प्रश्नका सही समाधान आप देंगे तो मैं आपको १००) पारितोषिक दूँगा। ब्राह्मण यह समझ कर कि यदि मेरा कथन मिथ्या निकल गया तो १००) का नुकसान होगा, बोला हम लिखकर रख देते हैं, यथा समय आप इसे देखकर निर्णय कर मेरा पारितोषिक देदेना। प्रश्नकर्त्ताने स्वीकार कर लिया। उसने लिखा "पुत्र होगा न पुत्री होगी।" ब्राह्मणका यह लेख कपटपूर्ण था। उसने इस शब्दावलीका जानबूझकर प्रयोग किया यह समझ कर कि चाहे पुत्र हो या पुत्री हो या नपुंसक, इस वाक्यसे तीनों अर्थ समय पर निकाले जा सकते हैं। अर्थात् यदि पुत्र हुआ तो पढ़ दूँगा-पुत्र होगा, न पुत्री होगी। यदि पुत्री हुई तो कहूँगा पुत्र होगा न, पुत्री होगी। यदि दैवात् नपुंसक ही हुआ तो सीधा अर्थ है कि न पुत्र होगा न पुत्री अर्थात् नपुंसक होगा। प्रत्येक प्रकारके अर्थमें पारितोषिक मैं ही पाऊँगा। जैसे यह एक उदाहरण है ऐसे स्वार्थ साधक अन्य प्रकारके कपटपूर्ण स्वार्थ साधक द्वयर्थक लेख कूटलेख हैं। यद्यपि यह प्रयोग विश्वासघात कारक होनेसे अनाचार रूप भी कहा जा सकता है तथापि प्रयोगकर्त्ता इस प्रयोगको करते हुए भयभीत है कि मैं झूठा न समझा जाऊँ, मेरा व्रत भंग न हो, इसलिए स्पष्ट मिथ्या प्रवाद न करके गूढ़ शब्दावली का उपयोग करता है। इतनी व्रतचिन्तकताके कारण उसका सुधार संभव है अतः यह अतिचारमें गिना है।

इसी प्रकार सत्याणुव्रतका मन्त्रभेद' चतुर्थ अतिचार है। किसी व्यक्तिको गुप्तको, जिसे वह अन्यको नहीं बताना चाहता, बतानेमें अपनी हानि देखता है। उससे ज्ञातकर उसे हानि पहुँचानेके लिए अन्यत्र फैला देना चतुर्थ अतिचार है। उदाहरण जैसे यदि किसी व्यक्तिने यह विचार किया कि अमुक स्थानपर एक लाभका सौदा है पर अन्य व्यापारी जान लेंगे तो वह लाभ मुझे न हो सकेगा। इस अभिप्रायको रखकर प्रसंगसे आपसे वार्तालाप करते-करते उस बातको कह गया। साथ ही आपसे यह भी प्रार्थना करली कि इसे गुप्त रखें। यदि आप उस वार्ताको गुप्त न रखकर किसी अन्य संबंधित व्यापारियोंको वह जाहिर कर पूर्वोक्त व्यक्तिको हानि पहुँचानेका प्रयत्न करते हैं तो आपका वह वचन प्रयोग सत्य होते हुए भी सत्यका दोप है। उसकी गणना अतीचार में होगी। यदि किसी चोर या डाकूका अभिप्राय किसीको लूट लेनेका हो, किसीकी इज्जत खराब करनेका हो, व्यभिचारका हो, स्वयं फाँसी लगानेका हो, प्रकारान्तरसे मरणका हो तब उसकी चेष्टासे अभिप्राय जानकर संबंधित व्यक्तिको सचेत कर देना सत्यका अतिचार नहीं है, क्योंकि यह कार्य दूसरेको हानिसे बचानेका है न कि नुकसान पहुँचानेका।

न्यासापहार—अर्थात् किसीकी धरोहरके कुछ अंशको भूलसे पचालेनेके अभिप्रायको रखते हुए सफाईके सद्वचन कहना। जैसे कोई व्यक्ति आपके पास २००) रुपया अमानत रखकर चला गया। दो साल बाद वापस आने पर वह विस्मृत हो गया कि हमने इनके पास दो सौ रखे थे। उसने आकर कहा कि भाई हमारी अमानत आपके पास १००) रखी है, दे दो। उत्तरमें रखनेवाला सत्यव्रती यह

बोला कि जो आपका रखा हो, अवश्य ले लें। उसका यह उत्तर यद्यपि सद्वचन रूप है परन्तु अन्तरंगमें वह जानता है कि मेरे पास २००) हैं। यह भूलसे १००) मांगता है सो यदि भूल जाय तो १००) का लाभ ही रहेगा। पर हम तो मिथ्या नहीं बोलते। हमने तो उसे सत्य ही कहा कि जो आपका हो लेलें। यदि वह २००) मांगता तो हम २००) अवश्य दे देते। उसने अपनी गलतीसे कम मांगा तो हमपर कोई दोष नहीं। ऐसी गलत समझसे उसे चोरीका तो दूषण लगेगा ही पर वचन बोलनेकी अपेक्षा यह न्यासापहार कारक वचन सुननेमें सद्वचन होते हुए भी सत्यका दोष है।

इस प्रकार दुरभिप्रायपोषक सत्यवचन भी सत्याणुव्रतीके व्रतकी शुद्धि नहीं रखते। उसे सदभिप्राय रखते हुए ऐसे वचनोंका प्रयोग करना चाहिये जिससे न व्रत अपवित्र हो और न आत्मशुद्धि का घात हो ॥१७०॥

प्रश्नः—अचौर्याणुव्रतं किं स्यादतिचाराश्च तस्य के ?

हे गुरो ! अचौर्याणुव्रत तथा उसके अतिचार क्या हैं, कृपया कहें—

(वसन्ततिलका)

ग्रामे पुरे वनपथे पतितं न दत्तम् ।
क्षौ स्थापितं परधनं यदि विस्मृतं वा ॥
तत्याग एव सुखदं व्रतमुत्तमं स्यात् ।
श्राद्धस्य धर्मरसिकस्य किलैकदेशम् ॥१७१॥

ग्राम इत्यादिः—ग्रामे नगरे वने पथि निवासस्थले नदीतीरे क्षौ पृथिव्यां अन्यत्रापि वा क्वचित् परेण विसृष्टं विस्मृतं निक्षिप्तं स्थापितं धनादिकं कदापि न ग्राह्यम्। तच्चौर्यमेव महत्पापम्। तत्यागकरणमेव सुखदायकं स्यादचौर्यव्रतम्। धर्मपरिपालकस्य श्रावकस्य अचौर्यव्रतस्यैकदेशं स्यात्किलाचौर्याणुव्रतम् ॥१७१॥

किसी भी स्थानविशेषमें चाहे गांवमें हो अथवा नगरमें या वनमें, मार्गमें, धर्मशालामें, रेलमें, मोटरमें नदीतीरमें या अन्यत्रापि कहीं पर दूसरेके द्वारा भूले हुए, रखे हुए, छोड़े हुए, स्थापित किए हुए या भूमिमें गाड़े हुए उसके धनको लेलेना चौर्य पाप है। उसका त्याग ही उत्तम व्रत है। धर्म प्रेमी श्रावकको भी इस व्रतका एकदेश परिपालन करना चाहिए। इसे ही अचौर्याणुव्रत कहते हैं।१७१।

तदतिचाराः—

अब उस व्रतके अतिचार लिखते हैं—

(इन्द्रवज्रा)

चोरप्रयोगो लघु-दीर्घमाने चौरार्थवाञ्छा नृपनीतिभङ्गः।
दुःखप्रदो न प्रतिरूपयोगः कार्यो यतः स्याद् भुवि सर्वशान्तिः ॥१७२॥

चौरप्रयोग इत्यादिः—अचौर्याणुव्रतधारिणा चौर्यपरित्यागे कृतेऽपि यदि स्वायत्तानां स्वसम्बन्धिनां पुरुषाणां चौर्यस्य कृते विविधप्रकारेण प्रयोगः क्रियते तदा स चौरप्रयोगो नाम स्यादतिचारस्तद्व्रतस्य। व्यापारादि-कार्येषु तुलादिमानस्य ग्रहणेऽधिकप्रमाणं विक्रये तु हीनप्रमाणं वा लोभावेशात् क्रियते तदा लघुदीर्घमानकरणं नाम

तदपि तद्व्रतस्य दूषणमेव । तृतीयप्रकारस्तु स्यादेवं यत् केनचित् चौर्येण धनमानीतम् । व्रतिना तु ज्ञातं यद्धन-मेतत् चौर्येणैतेन समानीतमस्ति तथापि विचार्यते तेन यन्नाहं चौरः न मया प्रेरितः। स तु स्वकृतपापपरिणामानुसारेणैव चौर्यं कृतवान् । तस्मात् स एव तस्य पापस्य भागी । अहं तु मूल्यप्रदानेनैव व्यापारमार्गमनुसृत्यैव तद्द्रव्यं स्वीकरोमि इति न मे कश्चिद्दोषः । इत्यादिविचारजालेषु आत्मानं पाशयित्वा अल्पमूल्येन तद्धनं गृह्णाति अतएव तदपि चौरार्थवाञ्छा नाम अचौर्यव्रतस्य दूषणमेव । यत्र राज्ये वासः स्यात् व्रतिनः तत्र राजकीयकरस्या-पलापः । अथवा युद्धरते राज्ञि शासनकार्ये तु सन्धिं दृष्ट्वा तदा परिस्थित्यानुचितलाभग्रहणेच्छया नृपनीतिभङ्गः नाम चतुर्थोऽतिचारः स्यात् । व्यापारयोग्यवस्तुषु तत्प्रतिरूपवस्तूनाम्मेलनं बहुमूल्येषु अल्पमूल्यवस्तुमेलनेऽपि बहुमूल्यमेवैतत् इति सत्यापलापेन प्रकारान्तरेण छद्मना परधनापहरणं प्रतिरूपयोगः नाम व्रतस्य पञ्चमोऽतिचारः स्यात् । सर्वाण्यपि कार्याण्येतानि शान्तिभङ्गकारकानि सन्ति । अचौर्यव्रतधारिणः प्रकारान्तरेण चौर्यदूषणोत्पादकानि च सन्ति । ततस्तद्व्रतनैर्मल्याय परिहर्तव्याश्चैतेऽतिचाराः ।१७२।

अचौर्य व्रतधारी स्वकृत चोरीके अभावमें भी यदि दूसरोंके द्वारा चोरी कराता है। उन्हें चोरीके उपाय बताता है तो वह चौर-प्रयोग नामक अतिचार है। दूसरा अतिचार है लघु-दीर्घमानः अर्थात् व्यापार कार्यमें जिन मापने तौलनेकी निर्णायक वस्तुओंका प्रयोग होता है उन्हें देनेके समयके लिए हीन प्रमाणका रखना और खरीदनेके लिए अधिक प्रमाणका रखना और इस पद्धतिसे प्रकारान्तरसे पर का धनापहरण करना दूसरा अतिचार है।

तीसरा दोष यह है कि यदि हमें यह ज्ञात हो जाय कि यह द्रव्य अमुक व्यक्ति चोरीसे लाया है और हम उसकी कमजोरीको जानकर उसका अनुचित लाभ उठाना चाहें। उसे डराकर धमकी देकर उसी मालको कम मूल्यपर उससे ले लें तो यह चोरीके द्रव्यकी वांछा नामक तीसरा अतिचार होगा।

राज्य द्वारा बनाए हुए व्यापारोंके नियमोंको भङ्ग करना, राजकीय करका छिपा कर न देना तथा बिक्री कर, नगर निगम कर और आयकरसे मुक्ति पानेके लिए हिसाब गलत बनाना, छल करना तथा राज्यके युद्धरत होनेपर, पर चक्रके द्वारा आक्रमण होनेपर अथवा परचक्रके आक्रमणकी आशंका होनेपर यदि शासक शासनके कार्यमें आन्तरिक व्यवस्थामें ढीले पड़ जायँ तो उस संधिका दुरुपयोग करना, मनमाने भावसे सौदा बेचना और सामग्रीका अतिसंग्रह कर उसे रोककर रख लेना,यह सब अपराध नृपनीति भङ्ग नामक अचौर्य व्रतका चतुर्थ दोष है।

पाँचवें प्रकारका दोष यह है कि बहुमूल्य वस्तुमें अल्प मूल्यकी नकली चीजें मिलाकर बहुमूल्यके भावमें बेचना यह "प्रतिरूपक व्यवहार" नामक अतिचार है। इस प्रकार ये पाँचों अतिचार शान्तिके घातक हैं।

स्वोपार्जित न्यायवृत्तिसे प्राप्त द्रव्य द्वारा अपना व स्वायत्त जनोंका भरण-पोषण करना, अन्याय व अनीतिसे दूर रहना यह अचौर्य व्रतका तात्पर्य है। जब तक उक्त उद्देश्यको सामने रखकर कार्य किया जायगा तब तक कोई दोष व्रतीको प्राप्त नहीं होता।

संसारमें कषायोदयकी विचित्रता है, अतः व्रती भी कभी-कभी अपनी व्रत भावनाको भूल जाता है और चौर्यसे दूर रहकर भी लोभावेशमें कुछ ऐसे कार्य करने लगता है जिनमें साक्षात् चोरी तो नहीं होती पर प्रकारान्तरसे उन कार्योंसे परधनापहरण हो जाता है। दूसरेको मजबूर करना, उसके सामने कठिनतर स्थिति उत्पन्न कर देना, उसे ऐसी परिस्थितिमें डाल देना कि जिससे बिना पैसा

ठगाए उसका जीवन निर्वाह कठिन हो जाय तो यह सब कार्य अचौर्य व्रतके लिए लांछन स्वरूप है। परधनापहरणकी वांछाके बिना ये कार्य नहीं होते। इस कारण ये अचौर्य व्रतके दूषण माने गए हैं। यद्यपि इन कार्योंमें कपट-व्यवहारकी प्रबलता है और कपटका पाप और भी अधिक है। तथापि यह कपट उसने इसलिए स्वीकार किया है कि मेरा व्रत बना रहे। यदि सीधे तरीकेसे परधनापहरण होता है तो चोरीका पाप होगा, अतः वह छलसे अपनेको ही ठगता है और व्यर्थ पापका बन्धन करता है। अतः व्रतीका कर्त्तव्य है कि मूल भावनाकी ओर सदा ध्यान रखकर व्रतका पालन करना चाहिए तब ही वह निर्दोष होता है, अन्यथा व्रतकी आत्मा (असली रूप) नष्ट होकर निर्जीव (मृत) व्रत रह जाता है जिसका कुछ अर्थ नहीं होता। वह अनर्थका ही हेतु हो जाता है।१७२।

स्वदारसन्तोषव्रतका स्वरूप

(उपजातिः)

विहाय यश्चान्यकलत्रमात्रं सुपुत्रहेतोः स्वकलत्र एव।
करोति रात्रौ समयेन सङ्गं ब्रह्मव्रतं तस्य किलैकदेशम्॥ १७३॥

विहायेत्यादिः—मोहनीयस्योदयात् किल परपदार्थसमागममेच्छोत्पद्यते। तथापि यो बुद्धिमान् योग्यसन्तान-वृद्ध्यर्थं सधर्मिणः कन्यायाः धर्मसाक्षिकं पाणिग्रहणं करोति तत्रैव सन्तोषवृत्तिमाचरति स्वप्नेऽपि न परस्त्रीरभिवांछति स किल स्वदारसन्तोषव्रती। तस्य किल ब्रह्मचर्यव्रतस्यैकदेशः स्यादेव। अतः यः श्रावकोऽन्यकलत्रमात्रं विहाय स्वकलत्र एव सुपुत्रहेतोः रात्रौ समयेन योग्यवेलायां सङ्गं करोति तस्यैकदेशं ब्रह्मव्रतं भवति॥ १७३॥

स्त्रीके लिए पुरुष समागमकी इच्छा और पुरुषके लिए स्त्री समागमकी इच्छा अथवा स्वात्म-भिन्न किसी भी पर पदार्थके ग्रहण करनेकी इच्छा मात्र मोहनीय कर्मके उदयका दुष्परिणाम है। जो पुरुष विवेकी हैं वे कर्माधीन उक्त वृत्तिको स्वीकार करके भी उसमें श्रेष्ठ मार्गका अवलम्बन करते हैं। वे अपनी कुलपरम्पराको चलानेके हेतु सधर्मा योग्य कन्याका धर्मसाक्षिसे पाणिग्रहण करते हैं और पञ्च, देव और अग्निकी साक्षीसे प्रतिज्ञापूर्वक ग्रहीत स्वकलत्रमें ही श्रेष्ठ सन्तानको जन्म देते हैं। स्वप्नमें भी परस्त्रियोंके प्रति गमन नहीं करते हैं। ऐसे सन्तोषी व्यक्ति ही स्वदारसन्तोषव्रती हैं। इसी प्रकार जो कन्याएँ अपने माता पिता आदिकी अनुमति पूर्वक पञ्च, देव तथा अग्निकी साक्षीसे योग्य कुलीन वरका पाणिग्रहण कर उसे अपना पति स्वीकार करती हैं तथा अन्य पुरुषोंकी ओर स्वप्नमें भी विकार भाव नहीं लातीं वे शीलशिरोमणि उत्तम गृहिणी हैं।

जिनमें उक्त प्रकारसे एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है वे शीलवान् स्त्री पुरुष ही उत्तम पात्र दिगम्बर जैन साधुओंके लिए दान देनेके विशेष अधिकारी हैं जो दान कल्याण परम्पराका हेतु है।

कामवासना ही एकमात्र संसार की जड़ है। सम्पूर्ण पापोंका मूल स्रोत यहांसे ही प्रारम्भ होता है। कामवासनाके कारण ही मनुष्य स्त्री परिग्रह को स्वीकार करता है। स्त्री परिग्रहसे सन्तान वृद्धि होती है। उस सन्तानकी अभिवृद्धि और परिपोषणके हेतु अति परिग्रह का सञ्चय होता है। परिग्रह सञ्चयके दुष्कर्ममें ही पारस्परिक संघर्षका अवसर आता है जिससे हिंसापाप का जन्म होता है। परिग्रहके लिए ही असत्य वादिता का अवलम्बन करता है। उसके लिए ही नीति अनीतिका विवेक त्याग येन केन प्रकारेण पर धनका भी अवलम्बन कर चोरीका पाप करता है। इस प्रकार पांचों

पापोंकी जननी कामवासना है। यदि कामवासना शान्त हो जाय तो समस्त पापारम्भ समाप्त हो जाँय। पर वासना शान्त कैसे हो यह एक टेढ़ा प्रश्न है।

आचार्योंने संसारी प्राणियोंकी इस कमजोरीको दूर करनेका मार्ग भी प्रदर्शित किया है। वह मार्ग है स्वदारसन्तोषव्रत। जो विवेकी इसे स्वीकार कर लेते हैं वे न केवल काम वासनाको तिलाञ्जलि देते हैं, बल्कि पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी वासनाओं पर भी नियन्त्रण रखते हैं। उनको कोई भी वासना अनैतिक मार्ग पर नहीं ले जा सकती। इस व्रतसे मनुष्य मनुष्य बनता है। उसकी आसुरी वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। अनेक घोर दुष्कर्म जो परस्त्रीसेवियोंसे होते हैं उनसे वह बच जाता है।

परस्त्री और परपुरुषसेवी अनीति व अनाचार के जन्मदाता हैं। उनके उस महत्पापका फल न केवल उन्हें बल्कि संबंधित अनेकानेक प्राणियोंको भोगना पड़ता है। गर्भस्राव, भ्रूणहत्यायें, बालहत्याएं, और अनाथ सन्तानकी वृद्धि, इस अनैतिक वासनासे ही होते हैं। मर्यादा रहित ये अविवेकी स्त्री-पुरुष काम वासनाके शिकार सदा बन रहते हैं। ये अपनी माता, भगिनी व कन्या अथवा पिता, भाई और पुत्र को भी पवित्र दृष्टि से नहीं देख सकते। इनको देखकर भी उनको कामका विकार उत्पन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, वे दुर्वासना के कारण उनसे भी अनुचित सम्बन्ध करते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार पशुके समान अविवेकी नरनारियोंका न तो कोई भाई हो सकता है और न कोई भगिनी, न कोई माता हो सकती है और न कोई पुत्र। ये सब सम्बन्ध केवल स्वदार और स्वपतिसंतोषवाले पुरुष और स्त्रियोमें ही संभावित होते हैं। इस प्रकार असदाचारी संसारके सम्पूर्ण सम्बन्धोंको समाप्त कर अपने संसारको केवल वासनामय बना लेता है। वासनामय संसारका फल यदि कोई हो सकता है तो वह नरक निगोद ही हो सकता है। यदि इन्हें ही वह प्राप्त न हो तो और कौनसे पाप इनसे बढ़कर हो सकते हैं जिनका प्रतिफल नरकादि हो।

अनैतिक आचारवाले स्त्री पुरुष मोक्षमार्गके राही परम दिगम्बर जैन मुनियोंको आहार आदि दानके विशेष अधिकारी नहीं माने गए। जिनके ब्रह्मचर्यका एकदेश व्रत है अर्थात् जो स्वदार संतोषी हैं अथवा जिन्हें पातिव्रत्य धर्मकी अपेक्षा है वे ही स्त्री पुरुष शास्त्रोंमें मुनिदानके विशेष अधिकारी माने गए हैं, अतः सबसे बड़ी हानि असदाचारियोंको यह उठानी पड़ती है कि वे धर्मके आयतनोंसे भी वञ्चित हो धर्ममार्गसे पराङ्मुख होकर संसार गर्त्तको बढ़ाते हुए पथभ्रष्ट हो अपना विनाश स्वयं उपस्थित कर लेते हैं। अतः स्वप्नमें भी पर-पुरुष या पर-स्त्रीका जो सेवन नहीं करते वे विवेकी ब्रह्मचर्यके एकदेशका पालन कर व्रती संज्ञाको प्राप्त होते हैं।१७३।

परस्त्री त्याग अथवा स्वदारसंतोषव्रतके दोष

(अनुष्टुप्)

तीव्रकामाभिलाषाद्यतिचारा दुःखदाः खलाः।
त्याज्याः स्वानन्दतुष्टेन दीपेनेव कुकज्जलम् ॥१७४॥

तीव्रेत्यादिः—यथा दीपकः स्वप्रकाशरूपेऽवतिष्ठमानः अन्तर्दोषान् कज्जलाकारेण सदा वमति तथैव स्वात्मानन्दरसिकेन ब्रह्मचर्यैकदेशव्रतिनः स्वस्त्रियामपि तीव्राभिलाषो न कर्त्तव्यः। कामस्य प्रवृद्धपरिणामः सदा-

नर्थकारक एव भवति। स एव महान् दोषः व्रतभङ्गस्य हेतुर्भवितुमर्हति। यदि व्रतिनोऽन्तरङ्गे सदैव कामसन्तापः स्यात् तर्हि न स्यात्तस्य स्वात्मोपलब्धिः। तदभावे तु न स्याद्व्रतमिति। तीव्राभिलाषेणैव परविवाहकरणं इत्वरिका-गमनं अनङ्गक्रीडादयो दोषाः सञ्जायन्ते। व्रतातिचाराः खलु दुर्जना इव तीव्रदुःखदायिनो भवन्ति। व्रतानां नाशकर्त्तारस्तेऽनेकानि पापान्युत्पादयन्ति। तस्मात् स्वदारसन्तोषव्रतिना स्वस्त्रियामपि केवलं सन्तानोत्पत्त्यर्थमेव न तु भोगाभिलाषेण गमनं कर्तव्यम्। योग्यसन्ताने कुलवृद्धिकारके सति भोगत्याग एव श्रेयान्। अन्यथा अन्तर्वर्ति-कज्जलमपरित्यज्य यथा दीपकः स्वप्रकाशं नाशयति स्वयमपि कलंकरूपो भवति तथैव स्वान्तर्दोषातिचारैः ब्रह्मव्रतैक-देशिनोऽपि स्वानन्ददोषनाशः स्यात्। जगति चापवादः स्यात्। अतः दीपकेन कज्जलमिव सदातिचाराणां परिहारः कार्य्यः।१७४।

स्वदार सन्तोषव्रती यदि कामकी तीव्र अभिलाषा रखे और सदा चित्तको मलीन रखे तो वह व्रती होकर भी दोषी है। उसका यह भी कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार दीपक अपने सुन्दराकार प्रकाशके द्वारा सदा दैदीप्यमान रहता है और अपने अन्दर विद्यमान कृष्णवर्ण कज्जलको सदा वमन करता है त्याग करता है, उसी तरह अपने आत्मानन्द स्वरूपसे प्रकाशमान व्रतीको भी अपने अन्तर्दोषोंका सदा निरीक्षण करते हुए उनका वमन करना चाहिए तथा नवीन दोष उत्पन्न न हों इसका प्रयत्न करना चाहिए।

कामातुरता व्रतभङ्गका प्रधान हेतु है। कामातुर अपना व्रत सदा सुरक्षित नहीं रख सकता। कामसन्तापसे संतप्त पुरुषको कर्त्तव्याकर्तव्यका बोध नहीं रहता। उचित अनुचितका ज्ञान नहीं रहता। दृष्टि दूषित हो जाती है। मन सदा भटकता रहता है। अपने आपको वशमें नहीं रख सकता। पागलोंकी तरह प्रलाप करता है। न कहने योग्य अयोग्य वचन बोलता है। कुचेष्टाएँ करता है। नीच संगति करता है। परस्त्री सेवीमें जितने दुर्गुण होते हैं वे सब कामातुरको प्राप्त होते हैं। कामातुरतासे ही तो लोग परस्त्री गमन करते हैं। कामातुरके लिए स्त्रीमात्रमें एक ही संबंध प्राप्त है और वह है भोगदृष्टि। माता, बहन, कन्या ये केवल कथनके लिए शब्दमात्र है। उन शब्दोंमें अन्तर्निहित पवित्र भावनाका उसे दर्शन भी नहीं होता। कामातुरता सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ है, अतः स्वस्त्री सन्तोषव्रतीको उक्त दोषको सर्प, विष, अग्नि, सिंह और शार्दूल आदि भयंकर जीवोंसे भी महान् भयंकर समझकर उससे सदा दूर रहना चाहिए।

परविवाहकरण, इत्वरिकागमन और अनङ्गक्रीड़ा आदि समस्त दोष कामकी तीव्र अभिवांछासे ही उत्पन्न होते हैं। व्रतके अतिचार दुर्जनकी भाँति सदा पीड़ा और धोखा देनेवाले हैं। वे व्रतका नाश करते हैं और स्वयं अनेकानेक पापोंको उत्पन्न करानेवाले हैं। स्वस्त्री व्रतीको उत्तम सन्तानकी प्राप्तिके हेतु अथवा शरीरमें होनेवाले मदावेशको मिटानेके हेतु ही स्वस्त्रीगमन स्वीकार करना चाहिए। योग्य सन्तानसे कुलवृद्धि होती है। योग्य सन्तान धर्म परम्पराको चलानेके लिए समर्थ होती है। इसलिए अन्तर्वर्ती कज्जलको सतत वमन करने वाले और सदा प्रकाशमान अपने निज स्वरूपमें स्थित रहने वाले दीपकके समान स्वानन्दतुष्ट आत्मरसभोगी स्वदारसंतोषीको अपने अन्तवर्ती अतिचारोंका परिहार कर अपने स्वरूपमें रहना उचित है। तब ही वह निर्दोष व्रती रह सकता है। १७४।

प्रश्नः—**परिग्रहपरिमाणव्रतचिह्नं गुरो वद।**

हे गुरु देव परिग्रह परिमाण व्रतके क्या चिह्न हैं कृपा कर कहें। ऐसा प्रश्न करनेपर गुरु उपदेश

करते हैं—

(अनुष्टुप्)

धनादीनां यथाशक्ति प्रमाणं प्रविधाय यः ।
आशाग्निशमनार्थं तु करोति दानपूजनम् ॥१७५॥
परिग्रहपरिमाणव्रतं स्यात्तस्य सौख्यदम् ।
ध्यानस्वाध्यायलीनस्य सारासारविचारिणः ॥१७६॥ युग्मम्

धनादीनामित्यादिः—ज्ञानदर्शनादीन्येव हि जीवस्य निजद्रव्याणि । न तु गृहादीनि तानि तु निजस्वभावाद् भिन्नानि परद्रव्याणि । परद्रव्यग्रहणन्तु न न्याय्यम् । तस्य परिहार एव कर्त्तव्यः । यदि प्रत्याख्यानावरणस्य चारित्रमोहनीयभेदस्योदयात् परिहर्त्तुमसमर्थस्स्यात्तर्हि परपदार्थानां एकदेशतस्तु त्यागः कर्त्तव्य एव । जन्ममृत्युजराकीर्णे भवे आशया जीवति निराशया तु म्रियते । मुक्तिमार्गे तु आशा एव मृत्युः आशारहितत्वमेव कल्याणहेतुः । आशाग्निः तु सदा दहति असन्तोषभावनाङ्कुररूपामुत्पादयति । निराशा तु शीतलजलेन्दुपादहिमस्पर्शचन्दनानुलेपनशीतलच्छायापरिग्रहादिवत् हृदि शान्तिं सन्तोषं च पूरयति तस्मात्कारणात् आशाग्निशान्त्यर्थं धनधान्यादीनां यथाशक्ति हीनकरणमेवोचितम् । तदेव परिग्रहपरिमाणव्रतमस्ति । परिमिते परिग्रहेऽपि प्रतिदिनं जिनपूजने मुनिदाने स्वाध्यायशालायां शास्त्रदाने विद्यादाने छात्राणामाहारभैषज्यपुस्तकादिवितरणे गृहविहीनेषु धनादिरहितेषु सधर्मिजनेषु च द्रव्यदानं गृहस्थस्य देशव्रतमस्ति । तद्व्रतमेव गृहस्थानां सुखप्रदायकमस्ति । यथासमयं स्वव्रतानुकूलं निर्दोषपद्धत्या स्वल्पद्रव्यस्य अर्जनादिकं विधाय अवशेषसमये ध्यानस्वाध्यायजिनपूजनादिकार्येषु तत्त्वोपदेशाध्यात्मचिन्तादिविचारेषु च शेषसमयस्योपयोगः कर्त्तव्यः । एवंविधाचारेण गृहिणां लौकिकव्यवहारेष्वपि सौख्यम्भवति । पारलौकिकोऽपि लाभः स्यात् । तृष्णाग्निनाशात् परमसुखं च भजति परिग्रहपरिमाणव्रतीति कर्त्तव्यमेव परिग्रहपरिमाणव्रतमिति ।१७५।१७६।

जिन्हें हम लाकर संग्रह करें ग्रहण करें वह "परिग्रह" है । आत्मामें ज्ञान दर्शन आदि अनन्त गुण हैं । वही आत्माका निज भण्डार है । उसे छोड़कर धनधान्यादिका जो यावन्मात्र संग्रह है वह सब पाप है । यह आत्मा अनादिकालसे इसी परद्रव्य ग्रहणके कारण पराधीन हो रहा है । जब तक यह परद्रव्यग्रहणको त्यागकर स्वस्वरूपको प्राप्त नहीं करता तब तक सुखी नहीं हो सकता । अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि जिस किसी प्रकार हो प्रत्येक जीवका कल्याण परपदार्थ ग्रहणमें नहीं, उसके त्यागमें है । यदि चारित्रमोहनीयके भेद प्रत्याख्यानावरणका तीव्रोदय हो और पर पदार्थसे मोह न छूटे तो भी उसका एकदेश त्याग अर्थात् क्रमिक त्याग करना चाहिये । इस क्रमिक त्यागको ही देशव्रत या परिग्रह प्रमाणाणुव्रत कहते हैं ।

धन-धान्य, खेत, मकान, रुपया, सोना, चाँदी, धातु तथा वस्त्र आदि पदार्थोंका अपनी आवश्यकताके अनुसार प्रमाण करके शेषका त्याग करना यह त्यागकी विधि है । इस त्यागसे आत्मामें अनन्त आशाओंका अन्त हो जाता है और असन्तोष और तृष्णा सन्तोष सुखमें परिणत हो जाती है । यह व्रतका अनुपम लाभ है । आशा अग्नि है । संसारज्वालासे दग्ध प्राणी आशासे जीवित है । निराशासे मृत्युको प्राप्त होते हैं । किन्तु मुक्ति मार्गमें निराशासे ही जीवित रहते हैं और आशा से मृत्युको प्राप्त होते हैं ।

आशा रूपी गढ़ा प्रत्येक प्राणीके हृदयमें अथाह है, उसका अन्त नहीं है। उसमें कितना भी डालो उसकी पूर्ति नहीं होती। सन्तोषरूपी अमृतकी एक बूंदसे ही वह पूर्ण भर जाता है और आत्मामें शीतल जल, चन्द्रकिरण, चन्दनानुलेपन, हिमस्पर्श और शीतल छायाकी प्राप्तिके सदृश शान्ति प्राप्त हो जाती है, अतः गृहीत परिग्रहमें न्यूनता करना कल्याणकारी है।

अपनी परिमित तृष्णा पूर्त्यर्थं अथवा गृहकी सामान्य आवश्यकताकी पूर्तिके हेतु व्यापारादिसे धनार्जन कर शेष समय देवपूजन, स्वाध्याय तथा आध्यात्मचिन्ता आदिके द्वारा समय का सदुपयोग करना चाहिए। साथ ही अपने अर्जित धनका उपयोग केवल स्वविषयोपभोगमें नहीं करना चाहिए बल्कि जिनपूजन, मुनियोंको आहारादिदान, स्वाध्यायशाला, पुस्तकदान, विद्यादान, शिक्षार्थियों आदि को आहार, औषधि, शिक्षासाधनोंका प्रदान करना, निर्धन साधर्मी भाइयोंको यथायोग्य सहायता देकर उन्हें धर्ममें दृढ़ रखना तथा धर्मोत्साह बढ़ाना आदि उत्तमोत्तम कार्योंमें करना लौकिक दृष्टिसे भी सुखदायक है और पारलौकिक लाभके लिए भी वह हेतुभूत है। इसलिए तृष्णाके दुःखको न्यून करनेके लिए परिग्रहप्रमाणव्रतको स्वीकार करना श्रेष्ठतर कार्य है।१७५।१७६।

परिग्रहपरिमाणव्रतस्यातिचाराः

(अनुष्टुप्)

धनादीनां कृतस्यैव प्रमाणस्य बहिर्नच।
गन्तव्यं तत्त्वतो भव्यैर्यतः स्यात् सौख्यदा गतिः॥१७७॥

धनादीनामित्यादिः—व्रतानां रक्षणं सदा कर्त्तव्यम्। तद्रक्षणाय व्रतातिचारान् दूरीकृत्य स्वकृतनियमेषु व्यवहारः कर्त्तव्यः। यत्प्रमाणं खलु धनादीनां परिग्रहाणां पूर्वं स्वीकृतं न तद्बहिर्गन्तव्यं प्राणान्तेऽपि। एवं कृत एव सौख्यदा गतिर्भवति। तदभावे तु नरकादिकुयोनिषु दुःखान्युत्पादयन्ति प्राणिनः॥१७७॥

धन्य धान्यादि दस प्रकार का परिग्रह है। परिग्रहप्रमाण व्रतमें उनका प्रमाण इस प्रकार किया था कि मैं अपने जीवनमें इतने मकान रखूंगा, इतना सोना रखूंगा, इत्यादि प्रमाण द्वारा गृहीत सम्पत्तिमें ही अपने जीवनका निर्वाह करता था। यदि कदाचित् लोभवश या परिस्थितिवश गृहस्थको ऐसा प्रसंग आवे कि उसकी इच्छा अपने परिग्रहकी मर्यादाके उल्लंघन करनेकी हो जाय तो उसे अपनेपर नियन्त्रण करना चाहिए और कदाचित् भी अपनी मर्यादाका भंग प्राणान्त होनेपर भी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार दृढ़तासे व्रत पालन करनेवाला मनुष्य स्वर्ग गतिमें सुखपूर्वक जीवन यापन करता है। अन्यथा इस लोकमें अपवादादि तथा परलोकमें नरकादि गतिका उसे पात्र बनना पड़ता है। अतः अतिचार पिशाचोंसे सदा व्रतका रक्षण करना चाहिए। कैसी भी अवस्थामें अपने व्रतमें अतिचार नहीं लगना चाहिए। अतिचार धीरे धीरे व्रतको समाप्त कर देते हैं और तब व्रती अव्रतकी भूमिकामें आ जाता है। एक बार व्रतसे छूटा प्राणी दुबारा व्रतकी भूमिकामें बड़ी कठिनतासे आरोहण करता है और हतोत्साह होजाता है। अतः व्रतोंमें सदा उत्साह रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि अतिचारोंसे सर्वथा व्रतोंको बचाये। १७७।

प्रश्नः—दिग्व्रतलक्षणं किं स्यात्सदतिचाराश्च के वद।

दिग्व्रतका क्या लक्षण है और उसके अतिचार कौन हैं? कृपाकर कहें—

(वसन्ततिलका)

पापस्य दुःखजनकस्य निरोधनार्थं।
कृत्वा प्रसिद्धनगरादिदिशः प्रमाणम् ॥
द्रव्यार्जनाय न हि गच्छति तद्बहिर्यः।
स्याद्दिग्व्रतं ह्यनुपमं सुखदञ्च तस्य ॥ १७८ ॥

पापस्येत्यादिः—पञ्चाणुव्रतनिर्देशानन्तरं तद्व्रतपरिरक्षणार्थं तत्र गुणवृद्ध्यर्थञ्च दिग्विरत्यादीनि गुणव्रतानि सन्ति। तत्र दिग्व्रतस्य स्वरूपमिदम्-दुःखोत्पादकस्य दुःखजनकस्य पापस्य हिंसादिपापपञ्चकस्य समुत्पत्तिर्यतो न स्यात् एवं विचार्य दशस्वपि दिक्षु गमनागमनयोर्मर्यादा कार्या। यस्यां दिशि यावति क्षेत्रे गमनेन गृहस्थस्य सामान्यतया निर्वाहः स्यात् तत्पर्यन्तमेव गमनस्य नियमे कृते तद्बहिर्न गन्तव्यम्। अस्य व्रतस्य एष एव विधिर्यत् किल अस्यां दिशि अमुकनगरपर्यन्तम् द्वितीयस्यां दिशि प्रसिद्धपर्वतपर्यन्तं अथवा क्रोशादिप्रमाणेन गमनागमनस्य मे मर्यादा। व्यापारादिकार्येणापि सीम्नः बहिर्न स्याद् गमनं मे। एवं कृते श्रावकस्य एकदेशरूपाण्यपि व्रतानि सीम्नो बहिःप्रदेशेषु महाव्रतानीव भवन्ति। १७८।

पञ्चाणुव्रतोंके स्वरूप निर्देश करनेके बाद आचार्य दिग्व्रतादि तीन गुणव्रतोंका स्वरूप लिखते हैं। इन गुणव्रतोंसे पञ्चाणुव्रतोंकी रक्षा होती है और उनमें गुणवृद्धि होती है।

दशों दिशाओंमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानोंको निश्चित करके उन स्थानोंके आश्रयसे कि मैं इस दिशामें इस पर्वत पर्यन्त ही अपने व्यापारादि गार्हस्थिक प्रयोजनोंसे आना-जाना, कार्य करना कराना अन्य किसीको प्रेरणा करना आदि करूँगा इस क्षेत्रके बाहर मैं न जाऊँगा।

इस व्रतका तात्पर्य स्पष्ट है। व्रतीका ध्येय यह है कि यद्यपि मेरे अणुव्रत हैं। अर्थात् एकदेश पाप मेरे जीवनमें विद्यमान है उसका त्याग मेरे संभव नहीं है तथापि यदि कुछ निश्चित क्षेत्रमें ही मैं अपना निर्वाह कर सकता हूँ तो अपनी आजीविका आदिके लिए सारे संसारमें क्यों दौड़ा दौड़ा फिरूँ। सर्व क्षेत्र को पापमय क्यों बनाऊँ। यदि मैं अपने कार्यक्षेत्रकी सीमा बांध लेता हूँ तो उस क्षेत्रके बाहर मेरे सब पापोंका पूर्ण त्याग बन जाता है। इस ध्येयको सामने रखकर व्रती दिग्व्रतको ग्रहण करता है।

वह अपने जीवनभर उन उन सीमाओंका उल्लंघन व्यापार, लोभ, सुरक्षा और भोगोपभोग आदि किन्हीं कारणोंके उपस्थित होने पर भी नहीं करता। अपनी सीमाके भीतर ही भीतर व्यापार करता है। यदि विपत्ति आजाय तो उसके भीतर ही अपनी रक्षाका उपाय करता है और यदि संभव न हो तो समाधिमरण स्वीकार कर लेता है मर्यादाको लांघता नहीं। मर्यादाके बाहर यदि कोई लाभकी सौदा मिलता है तो न लायगा न मँगायगा। यदि कोई अपना यहाँ शत्रु हो या मित्र हो तो बैर या स्नेहके वश भी वहाँ न जायगा। यदि कर्जदार कर्ज लेकर भाग जाय तो वह सन्तोष रखेगा पर सीमाका उल्लंघन न करेगा। यदि सीमा बाहर उत्तमोत्तम भोगोपभोगकी प्रचुर सामग्री सहज ही उपलब्ध होती हो तो वह इच्छा निरोध करेगा, सीमा बाहर न जायगा।

इस तरह इस व्रतके पालनसे गृहस्थको निर्लोभ वृत्ति आती है। रागद्वेष हीन होता है। धनकी स्पृहा कम होकर व्रतके प्रति श्रद्धा बढ़ती है। भोगोपभोगमें तृष्णा घटती है। संकल्प विकल्प घटते

हैं। अतः दुःखोंसे बचनेके लिए अपने शारीरिक पाप कार्योंकी क्षेत्र मर्यादा हो जानेसे वह पाप और उसके फलसे कुछ अंशोंमें बच जाता है। इस व्रतका परिपालन सुखदायी है, अहिंसादि व्रतोंका पोषक है, अतः अणुव्रतीको यह व्रत पालना गुणकर है। १७८।

दिग्व्रतके अतिचारोंका निरूपण—

(अनुष्टुप्)

ऊर्ध्वाद्यतिक्रमा निन्द्या न कार्या दुःखदाः सदा।
यतः स्वस्थो भवेत्स्वात्मा संसारार्णवपारगः ॥१७६॥

ऊर्ध्वेत्यादिः—दिग्व्रतस्य पंचातिचाराः ग्रन्थान्तरेषु निरूपिताः सन्ति। तद्यथा—ऊर्ध्वदिशायाः अतिक्रमः प्रमादात् कषायावेशात् विस्मरणाद्वा कृतमर्यादातः ऊर्ध्वमपि गमनं वायुयानादिना मर्यादातिक्रमेण भ्रमणं पर्वतादिषु उन्नतेषु कीर्तिस्तंभादिषु आरोहणं न कर्त्तव्यम्। कृते सति दिग्व्रतस्य प्रथमोऽतिचारः स्यात्। उक्तकारणैरेव अधोदिशायामपि कूपादिके खन्यादौ अवतरणं अधोऽतिक्रमः द्वितीयोऽतिचारः स्यात्। पूर्वादिष्वपि अखिलास्वपि दिक्षु मर्यादीकृतक्षेत्राद्बहिः केनापि कारणेन गमनं तिर्यग्व्यतिक्रमो नाम तृतीयोऽतिचारः स्यात्। पूर्वदिशि अनावश्यकतया क्षेत्रमर्यादातो हीनगमनं शेषक्षेत्रप्रमाणं प्रयोजनवशादुत्तरदिशि संयोज्य तत्र लोभाद् गमनं क्षेत्रवृद्धिर्नामा चतुर्थोऽतिचारः स्यात्। क्षेत्रव्रतस्य विस्मरणं तु पंचमः। इत्येवं पञ्चातिक्रमाः लोके शास्त्रे च निन्दनीयाः सन्ति परलोके च व्रतस्यैकदेशभङ्गरूपत्वात् दुःखफलोत्पादकाः सन्ति अतः तदेव कर्तव्यं यदात्मा आत्मन्येव स्थिरीभूय संसारसमुद्रस्य पारं गच्छेत्।१७६।

दिग्व्रतके ग्रन्थान्तरोंमें पांच अतिचार बताए हैं। ये अतिचार व्रतका एकदेश भंगकर देते हैं। व्रत भ्रष्ट मनुष्य संसारसे पार नहीं हो सकता। आत्मा स्वात्मस्वरूपसे विचलित हो जाता है, इसलिए ऐसे निन्दनीय अतिचारोंसे सदा दूर रहना चाहिए। वे अतिचार ये हैं—प्रमाद या विस्मरणसे ऊर्ध्वदेशका, उल्लंघन कर देना। अर्थात् जितनी मर्यादा पहिले की थी कि मैं ऊर्ध्व दिशामें ४० या ५० या ६० या १०० फुट ऊपर चढ़ूंगा उस मर्यादाको लांघ जाना यथा—वायुयानसे भ्रमण करते समय पर्वतके ऊपर मीनार या कीर्तिस्तम्भादिकोंके ऊपर चढ़ते समय यह मर्यादा टूट जाती है। इसी प्रकार उक्त कारणोंसे ही अधोदिशाका उल्लंघन करना दूसरा अतिचार है। पूर्वादि आठ तिर्यग्दिशाओंका उल्लंघन करना तिर्यग्दिशाव्यतिक्रम नामक तृतीयातिचार है। चौथा अतिचार है क्षेत्रवृद्धि। वह इस प्रकार कि पूर्वादि दिशाओंमें किसीने १००-१०० योजनकी मर्यादा ले रखी है। कुछ समय बाद पूर्वमें तो १० योजनका ही काम पड़ा पर उत्तरमें १५० योजन जाना आवश्यक ज्ञात हुआ। तब पूर्वमें से ५० घटाकर उत्तरमें ५० योजन जोड़कर यह समझना कि हमने व्रत भंग नहीं किया यह चतुर्थ क्षेत्रवृद्धि नामा अतिचार है। व्रतकी मर्यादाका स्मरण न रखना लापरवाही करना यह विस्मरण नामका पांचवां अतिचार है। इस प्रकार ये पांच अतिचार त्याज्य हैं। तब ही व्रत निर्दोष रह सकता है।१७६।

देशावकाशिकव्रतका स्वरूप—

(आर्या)

दिग्व्रतनियते देशे परिमितकालं पुनश्च सङ्कोचः।
देशावकाशिकाख्यं तद्व्रतमुदितं विशेषज्ञैः ॥१८०॥

दिगित्यादिः – दिग्व्रतनियते दिग्व्रतनिर्धारिते देशे प्रदेशे परिमितकालं निर्धारितसमयं यावत् पुनश्च संकोचः स्वल्पीकरणं देशावकाशिकाख्यं देशावकाशिकसंज्ञं तद्व्रतं स्यादिति विशेषज्ञैर्जिनागमरहस्यज्ञैर्विपश्चिद्भिः उदितं कथितं प्रतिपादितमिति यावत् ।१८०।

दिग्व्रतमें आजन्मके लिए दशों दिशाओंमें आवागमनके क्षेत्रकी मर्यादा ली थी। देशव्रती यह सोचता है कि पूर्व दिशामें १०० योजनकी मर्यादा है तथापि आज या दो चार दिन तक पूर्व दिशामें १०० योजन जाना नहीं है, अतः यदि मर्यादाका संकोच कर लिया जाय तो कोई हानि नहीं है ऐसा विचार कर दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर ही भीतर अपनी आवश्यकताको देखकर तदनुसार आने जानेके लिए क्षेत्रकी मर्यादाका १ दिन २ दिन, अथवा १० दिन के लिए प्रमाण कर लेता है वह देशावकाशिकव्रत कहलाता है।

देशव्रती देशव्रतकी मर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करता। भोगोपभोगके साधनोंकी प्राप्तिके लिए अथवा व्यापारादि कार्य करनेके लिए अपनी मर्यादाके भीतर ही प्रयत्न करता है, उसके बाहर नहीं।

इस कार्यके करने से उसके कषायोंमें और भी क्षीणता आती है, लोभवृत्ति घट जाती है, उदारता आजाती है, त्याग और संयमकी भावना जागृत हो उठती है। अतः पंचाणुव्रतोंकी स्थितिको पुष्ट करके उनमें गुणवृद्धि करनेवाले ये व्रत हैं, अतः ग्राह्य है ।१८०।

देशावकाशिक व्रतके अतिचारों का वर्णन—

(अनुष्टुप्)

आनयनाद्यतिचारास्त्याज्याः सन्तापकारकाः।
यतः स्यात्स्वात्मशुद्धिस्ते निवासोऽपि विजात्मनि ॥१८१॥

आनयनेत्यादिः—आनयनं प्रैष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेपश्चेति पञ्चातिचाराः देशावकाशिकव्रतस्य सन्ति। तत्स्वरूपञ्च यथा—एतद्व्रतान्तर्गतक्षेत्रमर्यादातो बहिःक्षेत्रेषु स्वगमनागमनाभावेऽपि ततः कस्यचिदिष्टस्य वस्तुनः आनयनं आनयनं नाम प्रथमोऽतिचारः। बहिः क्षेत्रे कस्यचित्पुरुषस्य प्रेषणम्। त्वं तत्र गच्छ एवं कुरु इत्येवं प्रकारेण प्रयोगः प्रैष्यप्रयोगो नाम द्वितीयोऽतिचारः। आनयनप्रैष्यप्रयोगाभावेऽपि स्ववाक्येन बाह्यक्षेत्रस्थितान् जनान् यद्याज्ञापयति यदेवं कुरु तदेव शब्दानुपातः तृतीयोऽतिचारः। शब्दोच्चारणाभावे केवलं हस्तसंज्ञादिना स्वाभिप्रायं विज्ञाप्य बाह्यक्षेत्रे तत्रस्थितेन पुरुषेण कार्यानुज्ञापनं रूपानुपातः चतुर्थोऽतिचारः। तत्रैव क्षेत्रे पुद्गलानां लोष्टादीनां लिखितपत्रादिनाञ्च क्षेपणं पुद्गलक्षेपः पञ्चमोऽतिचारः। इति पञ्चातिचाराः देशावकाशिकस्य सन्ति। एतैर्व्रतं दूष्यते। स्वहितैषिणा सन्तापकारकाणामतिचाराणां त्यागः कर्त्तव्यः ।१८१।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेपण ये पांच अतिचार ग्रंथान्तरोंमें लिखे गए हैं। उन सबको आदिपदसे स्वीकार करते हुए, आचार्य प्रतिपादन करते हैं, कि देशव्रतमें जो जो क्षेत्र मर्यादा दिग्व्रत की विशाल मर्यादामें और भी संकोच कर बांधी गई है, वह जितने समयके लिए है उतने समय तक अपने क्षेत्रके बाहरके प्रदेशमें न तो किसी व्यक्तिको भेजकर कार्य कराना चाहिए और न किसी वस्तुको मर्यादाके बाहर क्षेत्रमें भेजना चाहिए। यदि ऐसा करे तो क्षेत्रमर्यादा करनेका वास्तविक प्रयोजन नष्ट हो जाता है। अतः व्रत लेनेकी जो मूल भावना है उसकी रक्षा करनेके लिए इन दोषोंका त्याग करे। क्षेत्रकी मर्यादाके भीतर ही भीतर लेना, देना, व्यापार व्यवहार आदि करना चाहिए। भले ही उसमें कष्ट हो, पर उस कष्टको सहन कर शान्त रहना चाहिए, यही तो व्रत है।

इसी प्रकार अमर्यादित क्षेत्रसे कोई वस्तु या व्यक्तिको बुलाना अथवा आदेश देकर उस क्षेत्रमें स्थित पुरुषसे ही उस क्षेत्रके व्यापारादि कार्यको कराना यह भी दोषकारक है। यदि किसीको न भेजे, न बुलावे, न शब्दोच्चारण पूर्वक आदेश दे, पर केवल अपने संकेत द्वारा बहिःक्षेत्रमें स्थित अपने कार्यकारी व्यक्तिको स्वाभिप्राय समझा दे तो भी रूपानुपात नाम अतिचार है। मर्यादा बाहर कोई वस्तु फेंकना पत्र भेजना इत्यादि पुद्गल द्रव्यका भेजना और उससे कार्य करना यह भी अतिचार है।

ये सब अतिचारोंके उदाहरण मात्र हैं। शास्त्रकारोंने प्रत्येक व्रतके जो ५-५ अतिचार बताए हैं वे उदाहरण मात्र हैं ऐसा समझना चाहिए। उन जैसे अन्य कार्य भी उसी कोटिमें गिने जाँयगे। जैसे तार व टेलीफोन द्वारा समाचार भेजना शब्दानुपात है। चिट्ठी भेजना, पार्सल भेजना मनीआर्डर भेजना आदि पुद्गलक्षेप हैं। इत्यादि अनेकानेक कार्य हैं जिनका नाम भले ही स्पष्ट न आया हो पर वे सब इन अतिचारोंमें अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। अथवा न भी हो सकते हों तो भी वे व्रतकी मूल भावनाको नष्ट करनेके कारण अतिचार ही हैं।

ये सब अतिचार व्रतघातक होनेसे तथा आत्माके लिए पापोत्पादक होनेसे सन्ताप उत्पन्न करने वाले हैं। इन सहित व्रती न तो आत्मशुद्धिको प्राप्त होता है और न निजात्माका निवासी होता है इसलिए आत्महितैषीको इन अतिचारोंसे दूर रहकर स्वात्मशुद्धि व स्वहित करना चाहिये। १८१।

अनर्थदण्ड नामक गुणव्रतका स्वरूप इस प्रकार है—

(वसन्ततिलका)

स्वान्यात्मदुःखजनिका न च पापशिक्षा
देया कदापि न च हिंसकवस्तुदानम्।
त्याज्यं तथा स्वहितशून्यधनं ह्यनर्थ—
त्यागव्रतं स्वसुखदञ्च भवेद्यतस्ते॥ १८२॥

स्वान्येत्यादि :—*गार्हस्थिकप्रयोजनं विनापि यत् किल आरम्भादिकं क्रियते तत् अनर्थदण्डः।* एकदेशव्रतधारिणो यद्यपि नारम्भस्य त्यागः तथापि तज्जनितदोषस्तु तस्य स्यादेव। न तु सः एवंभूतान् आरम्भजनितान् दोषान् परिहर्तुं शक्तस्तथापि स एवं व्रतयति यत्प्रयोजनं विना भूम्यादिखननं जलपातनं पवननिःसारणं अग्निसंचारः वनस्पतिच्छेदनं आरम्भादीनां पापहेतुकानामुपदेशः हिंसायाः साधनभूतानां शस्त्रादीनां आदानप्रदानकरणं कुत्सितपुस्तकानां पठनं पाठनञ्च कस्यचित् वधस्य बंधनस्य धनक्षयस्य पुत्रादिवियोगस्य चिन्ता वांछा वा पञ्च अनर्थदण्डाः। *प्रयोजनवशात् तत्करणे यद्यपि न काचिद्धानिस्तथापि तदेकदेशव्रतिना मर्यादामतिक्रम्य ते परिहरणीया।* १८२।

गृहस्थ एक देशव्रतका धारी है, अतः गार्हस्थिक प्रयोजनसे जो आरम्भ, उद्योग, और व्यापार आदिके कार्य हैं उनका त्याग उसने नहीं किया है। तथापि उसके व्रतमें इस अनर्थदण्डव्रतसे विशेषता आजाती है। जिन कार्योंके बिना किए भी उसका निर्वाह हो जाता है उन कार्योंके आरम्भसे बचना यह अनर्थदण्डव्रत है। जिन गृहस्थारम्भोंका उसके त्याग नहीं है उनके करनेमें व्रतभंग भले ही न हो पर पाप तो होता ही है। उतना त्याग और हो जाय तो अणुव्रत महाव्रत बन जाते हैं। अतः जब तक उसके

महाव्रत धारण करनेकी सामर्थ्य भीतरसे नहीं उत्पन्न हुई तब तक अणुव्रतधारी यह विचार रखता है कि मैं अत्यावश्यक होने पर ही आरम्भ कार्य करूँ। यदि बिना आरम्भके भी मेरा निर्वाह हो सकता हो तो मैं उन आरम्भोंको जो व्यर्थ ही पापबंधके हेतु हैं न करूँ। ऐसा करना भी व्रत संज्ञाको प्राप्तकर लेता है और उसे ही अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

भूमि खोदना, पानी सींचना, हवा करना, अग्नि जलाना या बुझाना, वृक्ष काटना उसके पत्र व फलफूलोंका तोड़ना, किसीको अनेकानेक आरंभोंको करनेका उपदेश देना, पापारम्भकी क्रिया सिखाना, हिंसाके साधनोंका प्रदान करना, स्वयं हिंसा झूठ चोरी आदिका त्याग होते हुए भी अपने पुत्र मित्रादिको जिन्हें उक्त पापोंका त्याग नहीं है उन्हें यह समझकर कि मैं स्वयं तो करता नहीं हूँ और इन्हें त्याग नहीं है अतः इनको लाभ मिल जाय इस अभिप्रायसे पापारम्भके उपायोंका बताना, कामवर्द्धक, हिंसा पोषक, चोरी विश्वासघात छल ठगोरीके विविध उपाय बतानेवाली पुस्तकोंका पठन पाठन करना, अथवा ऐसे खेल तमाशे सिनेमा नाटक आदि देखना, किसीका अहित हो जाने पर हर्ष मानना, चोरी हो जाने पर प्रसन्न होना, अथवा किसीके वध बन्धन हो जाने का विचार करना, चोर कथा आदि विकथा करना, बिना प्रयोजन बाजारमें हाटमें गली कूचोंमें वेश्या व्यभिचारिणी कुट्टनी आदिके निवासस्थानों की ओर व चोर व्यभिचारी जुआरी लोगोंके अड्डों पर चक्कर लगाना अनर्थदण्ड हैं। इत्यादि कार्य अपने तथा दूसरोंके हितके विरुद्ध होनेसे नहीं करने चाहिए। इनसे कर्त्ताका कोई लौकिक प्रयोजन भी नहीं सधता किन्तु पापका वृथा बंध हो जाता है। अतः निष्प्रयोजन पापसे बचना चाहिए। १८२।

अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार ये हैं—

(अनुष्टुप्)

कन्दर्पकौत्कुच्याद्यतिचारा भ्रान्तिकारकाः।
त्याज्या ज्ञात्वेति भव्यैः स्यात् स्वस्थः स्वात्मा सदा सुखी ॥१८३॥

कन्दर्पेत्यादिः—कन्दर्पं नाम रागोद्रेकात् मनोविकारोत्पादकवचनव्यवहारः। कौत्कुच्यं नाम शरीरस्य कुत्सिता चेष्टा नेत्रगात्रसंचारणं विटपुरुषाणां वेश्यादीनां अनुकरणं विदूषकत्वव्यापारः नानाप्रकारेण कामोत्पादिका चेष्टा। अधिकतया वाग्व्यापारः प्रयोजनेन विनाऽपि वचनाधिक्यप्रयोगः मौखर्यम्। भोगोपभोगयोग्यानामपि वस्तूनां स्वप्रयोजनमतिक्रम्य संग्रहः अतिप्रसाधनम्। प्रयोजनेन विनापि विविधकार्याणां लाभादिकमविचार्य करणं असमीक्ष्याधिकरणम्। इत्यनेन प्रकारेण अनर्थदण्डव्रतस्य पञ्चातिचाराः निर्दिष्टाः। वस्तुतस्तु अनर्थदण्डानामनन्तत्वात् तद्गणना न स्यात्। अनादित एव संग्रहवृत्तित्वात् असंख्यलोकप्रमाणकषायांशैरभिभूतत्वाच्च लोकानां निष्प्रयोनं अनेकानि पापानि भवन्ति। अतः भव्यपुरुषैस्तु एतेऽनर्थदण्डाः त्याज्याः यतः आत्मा सदा स्वाधीनः सुखी च स्यात्।१८३।

हंसी करना, रागोत्पादक व्यंग वचन बोलना, कामोत्पादक दुश्चेष्टाओंका वर्णन करना कन्दर्प है। उक्त अभिप्राय पूरक शारीरिक दुश्चेष्टाएँ कौत्कुच्य है। जिन वचनों या चेष्टाओंसे दूसरे प्राणियोंको क्रोध, अभिमान, माया, लोभ आदि कषायोंकी प्रबलता हो उठे, झगड़े हो जाँय, मार-पीट हो जाय, कलह विसंवाद हो जाय, वैर बढ़ जाय वे भी इन दोनों अतीचारोंमें सम्मिलित हो जाय। वाचालता

करना बिना प्रयोजन किसीकी भी बातचीतके मध्यमें अधिकतासे बोलना मौखर्य है। अपने भोगोपभोगके योग्य भी हों ऐसे गृह, आभूषण, सोना, चाँदी रुपया वस्त्र अथवा अन्य अनेक प्रकारके साधनोंका अपनी आवश्यकताकी पूर्ति हो जानेके बाद भी लोभवृत्तिसे तथा अनादिकालीन परिग्रह संज्ञा, मैथुन संज्ञा, आहार संज्ञा तथा भय संज्ञा इन चतुर्विध संज्ञाओंके संस्कारसे अधिकाधिक संग्रह करना तथा यह वस्त्र अच्छा लगता है इस भावसे अनेक फैशनोंके पदार्थोंका, जिनसे आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होती किन्तु केवल रागभाव प्रबल होता है, संग्रह करना अतिप्रसाधन नामक अतिचार है। पाँचवां है असमीक्ष्याधिकरण अर्थात् बिना विचारे बिना देखे शोधे अनावश्यक रूपसे भी विविध प्रवृत्तियां करना। ये पांच उदाहरण रूपसे अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार बताए गए हैं। वास्तवमें असंख्यात लोक प्रमाण जीवोंमें कषायें हैं जिनकी पूर्ति न कभी हुई और न होगी। जीव अनादिसे ही उन कषायों द्वारा अभिभूत है, अतः शारीरिक आवश्यकता न भी हो तो भी वह विविध प्रवृत्तियाँ, विविध चेष्टाएं और विविध वाग्व्यापार करता है। इस भ्रांतिको छोड़कर ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे आत्मा सदा सुखी और स्वाधीन रहे।१८३।

हे गुरुदेव! सामायिकका स्वरूप क्या है और उसके अतिचार कौन हैं, कहिए—

(वसन्ततिलका)

वाक्कायचित्तचलनञ्च निरुद्ध्य साम्यं
धृत्वात्मबाह्यसकले भवदे पदार्थे।
लीनो भवेन्निजपदे हृदि यः स धीरः
सामायिकव्रतयुतो भवति प्रकामम्॥१८४॥

वागित्यादिः—मनोव्यापारेण वाग्व्यापारेण कायव्यापारेण च यत् किलात्मनश्चलनं तदेव कर्मास्रवकारणं भवति। योगचञ्चलतया आत्मभिन्नेषु अखिलेष्वपि पदार्थेषु न साम्यबुद्धिर्भवति किन्तु इष्टानिष्टापत्तितः रागद्वेषावुत्पद्येते। रागद्वेषौ तु बन्धनहेतू। स एव संसारः। ततस्तान् योगान् एकस्मिन्नात्मस्वरूपे वा निरुद्ध्य यदि लीनः स्यात् तर्हि तस्य धीरवीरस्य सर्वत्र इष्टानिष्टबुद्धेरभावो भवति साम्यभावश्चोत्पद्यते। तदेव सामायिकम्। तत्कर्ता च सामायिकव्रती॥१८४॥

मन-वचनव्यापार और कायकी चंचलतासे आत्मप्रदेशोंमें हलचल होती है। यही हलचल आत्माको कर्माधीन करनेमें हेतु है। जब संसारके पदार्थोंकी ओर आत्माका उपयोग होता है तब उस अनात्मयोगीके उन पदार्थोंमें आत्मसुख प्राप्त करनेकी कल्पना उठती है। जो पदार्थ इन्द्रिय विषयोंके लिए साधक पड़ने लगते हैं उन्हें इष्ट मानकर संग्रह करता है और जो असाधक हों उनसे दूर रहना चाहता है। प्रत्येक पदार्थमें उसे भेददृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि एक आमका फल हाथ आया तो उसमें रसभागसे प्रीति और छिलका आदिके प्रति अप्रीति पैदा हो जाती है। इसी प्रकार प्रीतिदायक व्यक्तिसे प्रीति और अन्यसे अप्रीति। कभी कभी इष्ट पदार्थके अनेक ग्राहक होनेसे भी पारस्परिक संघर्ष की स्थिति आ जाती है। संसारमें यह प्रवृत्ति जीवकी अनात्मबुद्धि होनेके कारण अनादि से है।

सामायिक व्रतसे यह रोग दूर हो जाता है। सामायिक व्रती आत्मभिन्न इन पदार्थोंको ही आत्महित के बाधक मानकर उस ओर अपने मन, वचन और कायका व्यापार नहीं जाने देना चाहता। तीनों योगोंकी प्रवृत्ति आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्वके स्वरूपालिंगन में ही करता है। यदि वह इस प्रयोगमें सफल होता है तो आत्मबाह्य पदार्थोंमें उसे कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्टकर प्रतीत नहीं होते। उनमें कोई भेदभाव नहीं होता। सब पदार्थोंमें साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है। वह समझता है कि ये अनात्मभूत पदार्थ हैं इनमें राग और द्वेष क्यों? पर पदार्थ मानकर उनके प्रति उपेक्षा और आत्मतत्त्वको निजस्वरूप मानकर उसके प्रति उपादेयता का भाव जागृत होता है। इस साम्य परणतिका नाम ही सामायिक है। यह व्रत जिसे हो वह समझदार पुरुष सामायिक व्रतका व्रती है। यह व्रती सदा अपनी दृष्टिमें यह रखता है कि आत्मबाह्य पदार्थों में कदाचित् भी राग द्वेष न हो। सबको एक ही दृष्टिसे देखता है कि ये पर हैं मेरे लिए अनुपादेय हैं। सबपर समान भावका नाम ही साम्य है। उसी साम्य भावकी प्राप्तिका प्रयत्न सामायिक है।१८४।

नाम संस्मरण रूप सामायिकसे गार्हास्थिक दैनिक पापोंका नाश होता है यह बतलाते हैं—

(अनुष्टुप्)

संरम्भादिकभेदाद्वा कायकृतादिभेदतः।
क्रोधादियुता जीवा पापञ्चाष्टोतरं शतम्॥१८५॥
प्रतिदिनं प्रकुर्वन्ति दुःखदं तत्त्वतस्सदा।
तन्नाशाय जपं कुर्याद् भक्त्या ह्यष्टोत्तरं शतम्॥१८६॥ युग्मम्॥

संरम्भेत्यादिः—कार्यकरणस्य विचारः संरम्भः। तत्साधननामेकत्रीकरणं समारम्भः। तत्कार्यस्य प्रारम्भ एव आरम्भः। एतान् योगत्रयेण मनुष्यः यदि स्वयं करोति तदा तत्कृतमिति कथ्यते। अन्येन कारयति तदा कारितमिति। अन्यैस्तु क्रियमाणेषु कार्येषु तत्प्रशंसनं अनुमोदना। इत्यनेन प्रकारेण संरम्भादित्रयं त्रियोगेन करोति कारयति अनुमोदते च इति सप्तविंशतिप्रकाराणि पापानि कषायचतुष्काधारेण करोति चेत् अष्टोत्तरसंख्यकानि पापानि भवन्ति गृहाश्रमे प्रतिदिनमिति। तत्प्रक्षालनाय प्रतिदिनं परमात्मनः तन्नामानि अष्टोत्तरशतान्येव जाप्यानि। जपमालायां अष्टोत्तरशतगोलकानां संख्या भवत्यत एव।१८५।१८६।

गृहाश्रममें प्रतिदिन जो पुण्य या पापके कार्य होते हैं उनका विभाजन १०८ प्रकारका किया गया है। उन १०८ प्रकारके पापोंके प्रक्षालन हेतु १०८ बार परमात्माका नाम स्मरण करना आवश्यक है। १०८ पाप कौन से हैं उनका विवरण किस भांति है, आगे यह बतलाते हैं—

सर्वप्रथम मनुष्य उद्देश्य बाँधता है, कार्य करनेका संकल्प करता है। इस उद्देश्य बंधन या संकल्प करणको संरम्भ कहते हैं। संकल्पके बाद उसे पूरा करनेके लिए उस कार्यके पूर्ण करने योग्य साधनोंको एकत्रित करनेको समारम्भ कहते हैं। साधनोंके संगृहीत हो जानेपर उस कार्यका प्रारम्भ हो जाता है उसे शास्त्रकार आरम्भ कहते हैं। इस तरह इन तीनोंको यह प्राणी मन, वचन व कायकी सहायतासे करता है, दूसरोंसे कराता है अथवा करनेवाले व्यक्तिके कार्यकी अनुमोदना करता है। इस प्रकार ३×३×३=२७ प्रकारके इन पापोंको क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंके वश

करता है। इस कारण पापोंके भेद २७×४=१०८ हो जाते हैं। जितनी संख्यामें गृहाश्रममें ये पाप संभव है उतने दाने ही एक जपमालामें नियत किए गए हैं। यद्यपि जैनेतर बंधु भी १०८ दानेकी माला जपते हैं, पर मालामें १०८ दानोंके रहनेका क्या हेतु है यह उन्हें ज्ञात नहीं। जैनाचार्योंने उसका उक्त प्रकारसे स्पष्ट विवेचन किया है। इन १०८ विधिसे होनेवाले दुखदायी संसार परिभ्रमणके हेतुभूत पापोंसे बचनेके लिए सामायिक व्रती सामायिकके समय जपमालाके आश्रयसे अथवा अपनी कराङ्गुलियोंकी सहायतासे १०८ बार परम पूज्य परमात्माका नाम स्मरण करे तो उसके दैनिक पापोंका दैनिक प्रक्षालन हो जाता है। पापोंका पहाड़ एकत्रित नहीं होता, अतः सामायिकव्रतीका प्राथमिक कर्त्तव्य जिनेन्द्रके नामोंका संस्मरण है।१८५।१८६।

नामस्मरणके बाद सामयिकमें क्या करना चाहिए—

(अनुष्टुप्)

सत्प्रतिक्रमणं पश्चात् कार्यं निष्कामतो जनैः।
स्वात्मशुद्धिर्यतः स्यात् कौ प्रेमवृद्धिः परस्परम्॥१८७॥
वस्त्वन्यस्स्वात्मनो भिन्नं त्यक्त्वा ज्ञात्वेति ;चिह्नतः।
स्वात्मन्येव निवासः स्यात् परं सामयिकं व्रतम्॥१८८॥ युग्मम्॥

सदित्यादिः—सांसारिकप्रयोजनमन्तरेण केवलं स्वात्मदोषशोधनाय प्रतिक्रमणं कर्त्तव्यम्। ये किल दोषाः संजातास्तेषां स्मरणं तदा भवति। व्रती तु विचारयति यत् यन्मया पापं कृतं तन्मे मिथ्या भवतु। अद्यप्रभृति एवंविधं पापं न करिष्यामि। कृतपापतो मे मुक्तिः स्यात्। इत्येवं प्रतिक्रमो विधेयः। प्रतिक्रमेण वैरं दूरीभवति मैत्री वर्धते। विना प्रतिक्रमेण गृहस्थानां मुनीनां च व्रतानि न निर्मलानि भवन्ति। प्रतिक्रमणं व्रतिनां अत्यावश्यकं कर्म। तस्मात् प्रतिदिनं तत् कर्तव्यमेव। स्वात्मनो भिन्नानां वस्तूनां स्वरूपं सम्यक् परीक्ष्य तेभ्यो विरज्य स्वात्मन्येव स्वात्मनो निवासः सामायिकं व्रतम्भवति।१८७।१८८।

प्रत्येक व्रतीके लिए प्रतिक्रमण एक आवश्यक कर्म है। बिना प्रतिक्रमणके मुनि या श्रावक अपने व्रतोंमें जीवित नहीं रह सकता। उसकी पदमृत्यु बहुत शीघ्र हो जायगी। प्रतिक्रमण व्रतीके लिए रसायन है। दिव्यौषधि है। आत्मदोषोंका स्मरण कर उसे दूर करनेकी भावनासे व्रती जब अपने आप यह संकल्प करता है कि मैं इन पापोंसे मुक्त हो जाऊं। मुझसे अब ऐसे पाप न बनें ऐसा प्रयत्न करूंगा तब वह प्रतिक्रमणका कर्त्ता माना जाता है। यदि हम अपने पापोंपर स्वयं पश्चात्ताप करें तो हमारा वैरी भी शान्त हो जाता है। वह हमें क्षमा कर देता है। परस्पर प्रेमकी वृद्धि होती है, अतः व्रती को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए।

अपनी आत्मासे भिन्न मूर्तीक या अमूर्तीक पर पदार्थोंका विचार कर व चिह्नोंसे उनकी परीक्षा कर उनमें न उलझना तथा उन्हें आत्महितका बाधक समझ उनकी उपेक्षा करना और स्वात्मचिंतन कर स्वात्मामें लीन होना उसमें ही निवास करना सामायिक व्रत है। इस सर्वोच्च अवस्थाकी प्राप्तिके लिए ही नाम स्मरण तथा प्रतिक्रमणका उपदेश दिया गया है।१८७।१८८।

सामायिकके करणीय कार्योंको ५ भागोंमें आचार्य विभक्त करते हैं। उनका वर्णन आगे दिया-जाता है।

(अनुष्टुप्)

सिद्धार्हद्वन्दनां कृत्वा भक्त्यात्मनःस्पृहोज्झनात्।
स्वात्मोत्थरसपानं हि श्रीदं स्याद्वन्दनाव्रतम् ॥१८९॥
चतुर्विंशतिदेवानां गुणान् स्तुत्वाऽऽत्मनोऽर्थतः।
स्तुतिव्रतं वरं स्याद्धि चिद्रूपोत्थान्नभक्षणम् ॥१९०॥
द्रव्यादौ स्वकृतं त्यक्त्वा विभावमात्मनस्तमः।
स्थितिरेवात्मसौख्ये हि स्यात्प्रतिक्रमणं व्रतम् ॥ १९१ ॥
सावद्यद्रव्यसंजातं दोषं मुक्त्वात्मनः स्पृहाम्।
शुद्धद्रव्ये स्थितिं कुर्यात् प्रत्याख्यानव्रतं भवेत् ॥ १९२ ॥
स्वात्मास्ति शुद्धचिद्रूपो भिन्नो मे देहतः सदा।
मत्वेत्यात्मनिवासः स्यात्कायोत्सर्गव्रतं वरम् ॥ १९३ ॥ कुलकम् ॥

सिद्धार्हदित्यादिः—जिनवन्दना जिनस्तुतिः प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति पञ्चाङ्गानि सामायिकस्येति निरूपितानि आचार्येण। तद्विस्तरः १-लौकिकलाभादिकमनपेक्ष्य सम्यक्त्वोत्पन्नजिनभक्तितोऽर्हतां सिद्धानामात्मरूपाणां वन्दना करणीया। अर्हन्तः सिद्धाश्च द्रव्यकर्मभावकर्मविमुक्तत्वात् शुद्धस्वात्मस्वरूपं प्रपन्नाः तेषां स्वरूपचिन्तनाद् भाक्तिकस्य स्वात्मामृतरसस्य स्वादनम्भवति। तदानन्द एव तस्य कल्याण-प्रदोऽस्ति। इदमेव प्रथमं वन्दनाव्रतमस्ति। २—वृषभादिमहावीरपर्यन्तानां वर्तमानचतुर्विंशतितीर्थकराणाम् अतीतानागततीर्थकराणाञ्च गुणान् स्मारं स्मारं स्वात्मन्यपि गुणाश्चैते स्वरूपेण सन्त्येव इति जिनस्तुति-प्रकरणेन स्वात्मगुणज्ञानं प्रकारान्तरेण स्वात्मोत्थगुणा एव वान्नानि तद्भक्षणात् आत्मक्षुन्नाशः स्तुतिव्रतं भवति द्वितीयमिति। ३—यन्मया पूर्वं कृतोऽपराधः स मे मिथ्या भवतु। मम कृतदोषप्रक्षालनम्भवतु। इत्येवं प्रकारेण दिवसदोषान् रात्रिदोषान् ईर्यापथदोषान् पक्षदोषान् चातुर्मासदोषान् वार्षिकदोषान् मरणकाले जीवन-दोषांश्च स्वात्मनो निन्दागर्हाऽलोचनपूर्वकं प्रक्षालयति विशोधयति चेति सप्तविधं प्रतिक्रमणं भवति स्वदोषप्रशान्त्यर्थं सामायिकेऽपि तत्स्यात् इति तृतीयं प्रतिक्रमणं व्रतम्। ४-भूतकाले कृतकर्मणः निन्दया गर्हया च विशोधनं कृत्वा वर्तमानदोषांश्च आलोचनया विशोध्य भाविकाले एतादृगपराधो न स्याद् इति विचारणया दोषाणां त्यागः प्रत्याख्याननामकं चतुर्थं व्रतं स्यात्। ५-शरीरस्यापि ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वमापन्नः प्रलम्बितभुजयुगमः ऊर्ध्वजानुः चतुरङ्गुलान्तरांघ्रियुगमः सुस्थितो भूत्वा पञ्चनमस्कारमंत्रस्मरणं अष्टोत्तरशतवारं चतुःपञ्चाशद्वारं सप्तविंशति-वारं नववारं वा तत्कायोत्सर्गो नाम पञ्चमं व्रतम्। प्रतिक्रमणे प्रत्याख्याने कायोत्सर्गे स्तुतौ वन्दनायां वा निजविकृत-परिणामानां परित्यागाय सावद्यद्रव्यनिमित्तेन वा समुत्पन्नदोषनिराकरणाय देहात्मभेदज्ञानात् स्वपरस्वरूपं सम्यग्ज्ञात्वा स्वस्वरूपग्रहणे प्रयत्नः क्रियते। तस्यैव स्मरणं तस्यैव जपः तस्यैव वन्दना तस्यैव स्तुतिरिति स्वात्मोपलब्ध्यै सर्वानप्युपायान् करोति। सामायिकाद्यावश्यकानां षण्णामेवात्र सामायिके वर्णनं कृतम्। सामायिकं

तु मुख्यं इतरे पञ्चावश्यकास्तु तदङ्गीभूतास्तस्मात्तेषामत्र सामायिकव्रत एव समावेशः कृतः इत्येवं पञ्चाङ्गसमेतं सामायिकं करणीयम्। तदेव सामायिकं व्रतमिति १८९।१९०।१९१।१९२।१९३।

जिनवन्दना, जिनेन्द्रकी स्तुति करना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये पांच सामायिक के अंग आचार्यों ने उपदेशित किए हैं। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१—लौकिक लाभ प्रतिष्ठा अथवा अन्य प्रयोजन की अपेक्षा न करके केवल श्रद्धावश उत्पन्न हुई जिनभक्ति के कारण अर्हन्त और सिद्ध परमात्मा की वन्दना करना चाहिए। ये दोनों परमेष्ठी क्रमशः बहुदेश या सर्वदेश रूपसे द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित होकर शुद्ध स्वात्मस्वरूपको प्राप्तकर चुके हैं। इनके स्वरूप चिन्तनसे भक्त पुरुषोंको स्वात्माके स्वरूपका दर्शन होता है। शुद्धात्मस्वरूप परमात्मा हमारे आत्माके प्रतिबिम्ब जैसे हैं। उन्हें देखकर हम आत्मस्वरूपकी पहिचान करते हैं। आत्मोत्पन्न अमृतरसका स्वाद हमें उनके दर्शनसे प्राप्त होता है, अतः जिनको वन्दना कल्याणप्रद है।

२—ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त वर्तमान चौबीस तीर्थंकर भगवान अथवा भूतकाल या भाविकाल में होनेवाले चौबीसों तीर्थंकर अथवा विदेहक्षेत्रोंमें विद्यमान सीमंधरादि बीस तीर्थंकर हैं। इन सबके गुणोंका बार बार स्मरण कर यह विचार करना कि मेरेआत्मामें भी ये गुण विद्यमान हैं। मेरा शुद्ध स्वरूप तो इसी प्रकार है। इस तरह जिनेन्द्र की स्तुतिके आधारसे अपने स्वरूपका चिन्तवन करना आत्माकी बुभुक्षाको आत्मगुण रूपी अन्न भक्षणसे शान्त करना ही जिनेन्द्र स्तुति है।

३—तीसरा अंग है प्रतिक्रमण। इसका स्वरूप इसप्रकार है यह विचार करना कि मुझसे जो प्रमादवश अपराध हुए हैं वे दूर हों। मेरे दोष मुझसे पृथक् हों। मैं निर्दोष बनूं। इसप्रकारके विचारोंसे अपनी आत्माके कृत अपराधोंकी आलोचना पूर्वक उनसे अपनेको मुक्त करनेकी भावना करना प्रतिक्रमण है। व्रती पुरुषको दिनमें जो दोष प्राप्त हुए हों उनको दूर करने का परिणाम दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रि संबंधी दोषोंको दूर करना रात्रिकप्रतिक्रमण है। इसीतरह पाक्षिक, मासिक चातुर्मासिक और वार्षिक दोषों को दूर करना उक्त नामके प्रतिक्रमण हैं। जीवनके अन्तमें जीवन भरके दोषोंकी विशुद्धिके लिए भी प्रतिक्रमण किया जाता है। उक्त सातों प्रसंगोंपर अपने दोषोंका स्मरण कर आत्मनिन्दा पूर्वक उनका विशोधन करना सात प्रकारका प्रतिक्रमण है।

४—अतीत कालके दोषोंको जैसे निन्दा गर्हापूर्वक तथा वर्तमान दोषोंको आलोचना पूर्वक विशुद्ध करके फिर यह विचार करना कि भविष्य कालमें मै इसप्रकारके दोषोंको अपनेमें न लगने दूंगा। ऐसे प्रयत्नका नाम प्रत्याख्याननामा चतुर्थ अंग है।

५—अपने शरीरसे ममत्व परिणाम (यह मेरा है ऐसा परिणाम) त्यागकर निर्मोह भावको प्राप्त कर स्थिर होकर पञ्चनमस्कार मंत्रका ध्यान करना कायोत्सर्ग नामा पांचवां अंग है। दोनों हाथ नीचे उन्मुक्त छोड़ना, दोनों पैरोंके बीच ४ अंगुल मात्र अन्तर रखकर खड़े होना तथा काष्ठ या पाषाणकी तरह स्थिर होकर जपना यह कायोत्सर्गकी मुद्रा है। मुख्य प्रयोजन कायोत्सर्गका कायसे भी निर्ममत्व होना है। इसमें नववार, सत्ताईस बार, चौअन बार या एक सौ आठ बार भी जाप किया जाता है। सामायिकके इन पांचों अंगोंके करनेमें मुख्यहेतु क्या है इस प्रश्नका विचार करना आवश्यक है।

सामायिक का उद्देश्य है समता परिणामोंकी प्राप्ति अर्थात् राग द्वेषसे रहित आत्मपरिणति स्वरूप बनना। उक्त पांचों अंग उसके शरीरभूत हैं। उनके बिना समता परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते।

जब व्रती यह विचार करता है कि मेरा स्वरूप यथार्थतया श्रीजिनेन्द्रके शुद्ध स्वरूपकी तरह रागद्वेषसे विमुक्त है, निरञ्जन है, निराकार है और द्रव्य भाव कर्मसे रहित है। तब ही उसे अपने अतीत अपराधों की याद आती है। वह अपने अतीत दोषों पर विचार करता हुआ उनसे उन्मुक्त होना चाहता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि जबतक मैं उक्त दोषोंसे रहित नहीं हूँ तबतक शुद्ध कैसा? यह तो मात्र विडम्बना होगी, अतः आत्मग्लानि उसे उत्पन्न होती है। वह सतत विचारता है कि इन दोषोंसे मैं कैसे छूटूं। जबतक इनसे नहीं छूटा तबतक शुद्धि कैसी? इस प्रतिक्रमणसे उत्पन्न उलझनको प्रत्याख्यान सुलझा देता है।

वह भविष्यमें मैं किसी प्रकारसे ऐसे अपराध न करूंगा, अपने में यह कालिमा न लगने दूंगा ऐसा दृढ़ निश्चय करता है। इसीका नाम है दोषोंका त्यागरूप प्रत्याख्यान।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानमें, कायोत्सर्गरूप ध्यानमें तथा जिन वन्दना जिनस्तुति आदि कार्योंमें व्रती अपने विकृत परिणामोंका त्याग करता है। सावद्य कार्योंके निमित्तसे जो दोष उत्पन्न हो गए हैं उनका निराकरण करता है। स्वपरभेद विचार द्वारा परित्याग कर स्वग्रहणका प्रयत्न करता है। उस विशुद्ध रूपका ही स्मरण, उसीका जप, उसीकी वन्दना और उसीकी स्तुति करता है। इस प्रकार स्वात्मोपलब्धिका प्रयत्न सब ओरसे करना ही सामायिक व्रत है। समता उद्देश्य है और ये पांच उसीके साधक हैं। अथवा समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ऐसे छह आवश्यकभी सामायिकके अंग माने गए हैं। पांच और छहका वर्णन केवल वर्णन की शैलीमात्र है। वास्तवमें दोनो एक ही हैं।

उक्त प्रकारसे अपने को राग-द्वेषसे विमुक्त कर साम्यावस्थाकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका जो नियम है वही सामायिक व्रत है। यह व्रत प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सायंकालमें कम से कम २ घड़ी (४८ मिनिट) मध्यम प्रमाणसे ४ घड़ी और उत्तम प्रमाणसे ६ घड़ीका प्रतिदिन करना चाहिए।१८९।१९० ।१९१।१९२।१९३।

तदतिचाराः

अब सामायिक व्रतके अतिचार लिखते हैं—

(अनुष्टुप्)

मनोदुष्प्रणिधानाद्या अतिचारा भवप्रदाः।
न कार्या भ्रान्तिदा भव्यैः स्वस्थः स्वात्मा भवेद्यतः ॥१९४॥

मन इत्यादिः—वाक्कायमानसानां सामायिकक्रियातिरिक्तविषयेषु क्रियाकरणं सामायिकस्य त्रयोऽतिचाराः सन्ति। योगत्रयस्यैव माहात्म्यं यत् जीवः कर्मणा बद्ध्यते। योगचाञ्चल्याभावे तु न कर्मणामास्रवः स्यात्। सामायिके एष एव प्रयत्नः यत्पञ्चेन्द्रियविषयेषु क्रोधादिकषायेषु च योगत्रयाणाम्प्रवृत्ति र्नस्यात्। तत्प्रवृत्तौ तु

दुष्कर्मणामास्रवणात् संसारपरिभ्रमणे चतुर्गतिसंसरणे वृद्धिर्भवति इति मनसा जिनगुणानेव चिन्तयेत् वचसा तानेवोच्चारयेत् कायेन जिनवन्दनादिकमेव कुर्यात्। तस्माचलनमेवातिचाराः सामायिके दोषप्रदाः। अनादरेण सामायिककरणं तत्क्रियाविस्मृतिश्च अतिचारौ। इत्येवं पञ्चातिचारान् परित्यज्य सामायिकं कुर्यात् येनात्मा स्वात्मदेशं व्रजेत् ।१६४।

मनकी चञ्चलता, वचनव्यापार और शारिरिक क्रिया इन तीनों योगोंका सञ्चलन संसारी प्राणीके अपनी-अपनी योग्यतानुसार सदा होता रहता है। सामायिक व्रतमें इन तीनों योगोंको सांसारिक विषयों से और उनकी प्राप्ति या अप्राप्तिमें होनेवाली कषायोंसे बचाकर साम्यभावकी प्राप्तिके लिए लगानेका प्रयत्न किया जाता है। यदि सामायिक व्रती अपने योगोंको इस प्रयत्नसे हटाकर विषय कषायोंमें प्रमादवश चलाता है तो उसके व्रतके लिए ये तीनों दोषरूप हैं।

तीनों ही योगोंकी चञ्चलतासे यह जीव कर्मोंके द्वारा बँधता है, क्योंकि जीवमें कर्मोंका प्रवेश इन्हींके द्वारा होता है, कषायभाव इनका दृढ़ बंधन आत्माके साथ कर देते हैं। यदि योगोंकी चञ्चलता मिट जाय तो कर्मोंका प्रवेश ही आत्मामें नहीं हो सकता और आस्रवके अभावमें संसार-चक्रका परिभ्रमण भी मिट जाय।

यदि योगकी प्रवृत्तिवश साम्यभावसे च्युत हो जाय तो भी उसे जिनगुण चिन्तवनमें, जिनेन्द्रके नामोच्चारणमें और जिनवन्दनादि कार्योंमें ही लगाना चाहिए न कि विषयकषायादिके चिन्तवन आदिमें। इन तीन अतिचारोंके सिवाय सामायिकका चौथा अतीचार है सामायिकके कार्यमें आदरभाव न होना। अनादर होनेपर सामायिककी क्रियाओंका विस्मृत हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। अतः सामायिककी क्रियाओंका भूल जाना यह पाँचवा अतिचार है। इस प्रकार सामायिक व्रतके पाँच अति-चारोंका निरूपण किया।

सदोष आचरण ही अतिचार है। जिस व्रतको स्वीकार किया यदि उसके पालन करनेमें व्यक्ति उद्देश्यको भूल जाता है तो वह व्रत सदोष बन जाता है। उसके पास व्रतकी खोल रह जाती है और उसका सारभाग नष्ट हो जाता है। सामायिक व्रती भी सामायिकको इसलिए स्वीकार किए है कि इसके द्वारा मैं उस परम साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाऊँ जो कि अन्तिम ध्येय है। यदि वह सामायिक सम्बन्धी समस्त बाह्य क्रियाओंका आलंबन कर संतुष्ट हो जाय, अपने मूलोद्देश्यको भूल जाय तो मन, वचन, कायकी अन्यथा प्रवृत्ति हो जाना स्वाभाविक है। तथा मानसिक असावधानीसे सामायिकमें चित्त न लगना उसकी समस्त क्रियाओंके प्रति अनादर भावका होना ही सम्भव है। जिस कार्यमें अनादर भाव है उसके कार्य भूल जायँ, यह भी सुसंगत है। इस प्रकार एक अतिचार अन्य अतिचारोंका जनक है और ये व्रतसे भ्रष्ट होनेका द्वार खोल देते हैं।

संसार भ्रान्तिके दाता इन अतिचारोंसे या इसी प्रकारके अन्य संभावनीय दोषोंसे जो अपनेको मुक्त कर सके, उसी आत्मामें स्वात्मस्थित होनेकी सामर्थ्य है। यही सच्चा स्वास्थ्य है, यही आत्माके लिए निरोगावस्था है। इस सुखद अवस्थाको प्राप्त करना ही सामायिक व्रतका ध्येय है। अतः अति-चारोंसे अपनेको मुक्त करना चाहिए ताकि हम स्वस्थ और सुखी बन सकें।१६४।

प्रश्नः— **प्रोषधोपवासस्यास्ति किं चिह्नं मे गुरो वद।**

हे गुरुदेव! प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप मुझे बताइए—

(इन्द्रवज्रा, उपजातिश्च)

सर्वेन्द्रियाणां सुखदं हि धर्म्यध्यानं यथावद् गृहिणां च न स्यात् ।
तत्पर्ववारेषु चतुर्विधञ्चाहारं कषायं विषयं विचार्य ॥१९५॥
त्यक्त्वोपवासः क्रियते स्वधर्मे सदा स्थितैः यैस्सुगतिश्च तेषाम् ।
श्रेष्ठोपवासो भवतीह लोके पूर्वोक्तवाक्ये न च शङ्कनीयम् ॥१९६॥ युग्मम् ॥

सर्वेत्यादि :— गृहस्थावस्थायां सर्वसुखस्थानं धर्म्यध्यानं सदा न भवति । अतः तत्प्राप्त्यर्थं अष्टम्यां चतुर्दश्यां च सदा विषयभोगान् क्रोधादींश्च परित्यज्य चतुर्विधश्चाहारं शरीरमददायकं मत्वा विहाय स्वधर्मे निवासः उपवासः कथ्यते । ये व्रतिनः पूर्वोक्तप्रकारेण उपवासं स्वीकुर्वन्ति तेषां सदा सुगतिः स्यात् । दुर्गतिश्च-न स्यात् । इत्यस्मिन् उपदेशे शङ्का न कर्त्तव्या, धर्म्यध्यानेन दुष्कृत्यानामभावात् । यतो दुष्कर्मणामप्यभावो भवत्यतो निष्पापिनस्ते सुगतिमेव यान्ति । क्रमशः पंचमगतिं मोक्षमपि प्राप्नुवन्ति । इति सम्यग् विचार्य निःशंकतया प्रोषधोपवासव्रतमङ्गीकरणीयम् ।१९५।१९६।

गृही गृहकी अनेक झंझटोंके कारण सम्पूर्ण सुखका निधान जो आत्मध्यान या धर्म्यध्यान है उसे सदा नहीं कर सकता है, अतः जिस प्रकार प्रातः, सायं या मध्यान्ह कालमें कुछ नियमित समयके लिए वह सर्व पापारम्भका त्याग कर अपनी साम्यावस्थाको अपने समीपस्थ करनेके प्रयत्न स्वरूप सामायिकको स्वीकार करता है । उसी प्रकार सप्ताहमें एकबार अष्टमी और चतुर्दशीके पुण्य पर्वमें भी वह उस साम्यावस्थाको रात्रिदिन समीपस्थ करनेका प्रयत्न करता है । इसी क्रियाका नाम प्रोषधो-पवास व्रत है ।

इस व्रतके पालन करनेके लिए उसे सर्वप्रथम यह विचार करना पड़ता है कि मुझे आज जबतक उक्त व्रतका समय है किसी भी प्रकारका कषायभाव चाहे वह क्रोध हो, मान हो, मायाचारी हो, लोभ हो, अथवा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा हो अथवा स्त्री-पुरुष या अनुभय रूप विकृत परिणाम हों उनसे अपनेको सर्वथा बचाना है । इनमेंसे कोई भी कषाय या नोकषाय मुझपर अपना प्रभाव न ला सके, इसके लिए वह अपनेको संवृत रखता है ।

कषायों पर विजय प्राप्त करनेके लिए ही वह पञ्चेन्द्रियके विषयोंको उस दिन अङ्गीकार नहीं करता । ब्रह्मचर्यपूर्वक अपना समय व्यतीत करता है । नाना रसोंके स्वादरूप रसनेन्द्रियके विषयोंसे बचनेके लिए या तो आहार मात्रका त्याग करता है अथवा नीरस आहार ग्रहण करता है । घ्राणेन्द्रिय के विषय त्यागके लिए सुगन्धित पुष्प, तेल, इतर अथवा चंदन, केशर आदि पदार्थोंका उपयोग नहीं करता । चक्षुरिन्द्रियके विषयको जीतनेके लिए देशाटन करने, नाटक, सिनेमा या अन्य दृश्योंको देखनेसे अपनेको दूर रखता है । मधुर संगीत, वाद्य आदि कर्णेन्द्रियके विषयोंसे अपनेको बचाता है । अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको इस प्रकार वशमें रखता है जैसे कछुवा किसी भी विपत्ति आशंकासे अपने हाथ, पैर, मुख आदि सम्पूर्ण अवयवोंको एकत्रित कर संकुचित कर छिपा लेता है और अपने पृष्ठ बलपर आनेवाले सम्पूर्ण आघातोंको सह लेता है, पर अपने अन्य किसी भी अंग पर चोट नहीं आने देता ।

उक्त उद्देश्यको पूरा करनेके लिए शारिरिक उन्मत्तता पर विजय प्राप्त करनेके लिए, इंद्रियोंका मान मर्दन करनेके लिए, विषयोंको जीतनेके लिए, मनको वशमें रखनेके लिए और पापारम्भ की सम्पूर्ण क्रियाओंसे अपने को बचानेके लिए वह उसदिन जबतक व्रतका समय है आहारका भी त्याग करता है।

इस तरह कषाय, विषय और आहारका त्याग कर निद्रापर विजय प्राप्तकर अपने समयका धर्मध्यान द्वारा सदुपयोग करनेवाला व्रती प्रोषधोपवासी कहलाता है। प्रोषधोपवासके उक्त चिह्न हैं या स्वरूप है। यह निःसंदेह सुगतिका कारण है।

प्रोषधोपवासमें प्रोषध और उपवास दो शब्द मिश्रित हैं। इसका अर्थ है कि प्रोषध अर्थात् पर्वके दिन करना। उपवास शब्द का अर्थ है उप-समीपे वसतीति उपवासः अर्थात् सर्वारम्भ को छोड़कर जो अपने समीप आजाये अर्थात् अपनी आत्माका अवलम्बन करके रहे। सारांश यह कि आहार, व्यापार, परिग्रह, पंचेन्द्रियविषय, भोगविलास तथा कषाय भावोंके वश न होकर आत्मा की सच्ची साम्यावस्था स्वाधीनावस्थाको प्राप्त करनेका प्रयत्न ही उपवास है।

प्रोषधका अर्थ सकृद्भुक्ति अर्थात् एक बार भोजन करना है ऐसा भी कई ग्रंथकारोंने लिखा है। इस व्रतके उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद भी किए गए हैं।

उत्तम प्रोषधोपवास वह है—जो अष्टमी चतुर्दशीके पूर्वदिनमें एकाशन पूर्वक प्रारंभ होता है। तथा पर्वके दूसरे दिन एकाशनके बाद समाप्त होता है। अर्थात् अष्टमीका प्रोषधोपवास सप्तमी और नवमीको एकाशन और अष्टमीको उपवास (निराहार) करनेसे होता है। इसी प्रकार त्रयोदशी और पूर्णिमा या अमावस्याको एकाशन पूर्वक चतुर्दशीको उपवास (निराहार) करना चतुर्दशीका प्रोषधोपवास कहलायगा। धारणाके दिनसे पारणाके दिन तक यह १६ प्रहरका उपवास होता है। मध्यम प्रोषधोपवसकी रीति यह है कि केवल अष्टमीको या चतुर्दशीको उपवास करना। यह व्रत सप्तमी या त्रयोदशीके संध्याकालसे प्रारंभ हो जाता है और नवमी या पूर्णिमा अथवा अमावस्याके प्रभातकाल समाप्त होता है। अतः यह १२ प्रहरका उपवास मध्यम व्रत कहलाता है। पारणाके दिन दो प्रहरके बाद भोजन ग्रहण करनेके कारण यह १४ प्रहरका भी कहलाता है। जघन्य प्रोषधोपवास व्रत वह कहलाता है कि जो व्यक्ति १६ या १२ प्रहर तक निराहार नहीं रह सकता। उसे आहारके बिना आकुलता हो जाती है, अतः वह पर्वके दिन रसरहित, स्वादरहित सादा भोजन अल्पमात्रामें ग्रहण कर अगले दिन उसी समयतक निराहार रहता है अतः उसके ८ प्रहर पर्यन्त आहारका त्याग रहनेसे वह जघन्य व्रत कहलाता है।

ये तीनों ही व्रती आहार न करने मात्रसे अपने को कृतकृत्य नहीं मान सकते। अर्थात् आहार छोड़ देने मात्रसे वे उक्त प्रोषधोपवास व्रतके व्रती हो गए ऐसा नहीं है किन्तु अपने नियमित समयमें सम्पूर्ण पाप और आरंभका तथा विषय और कषायोंका त्याग कर व्रतका समय महाव्रतीके विशुद्ध परिणामों जैसा व्यतीत करे। धर्मध्यान पूर्वक समय यापन करे। स्वाध्याय धर्मचर्चा धर्मगोष्ठी करे तो वह व्रत है अन्यथा नहीं।

कहीं कहीं उत्तम और मध्यम प्रोषधोपवासका उक्त रूप स्वीकार करते हुए भी जघन्य प्रोषधोपवासके स्वरूपमें अन्तर माना है। वे ऐसा लिखते है कि पर्वके दिन और रात्रिके ४ प्रहर ऐसे आठ प्रहर निराहार रहना उपवास करना जघन्य व्रत है। पर यह व्रत इस रीति पर भी १२ प्रहरका होगा। कारण कि

पर्वकी पूर्व रात्रिमें वह आहार त्याग न करे केवल अष्टमी या चतुर्दशीके प्रभातसे ही आहारका त्याग करे यह व्रतीके लिए संभव नहीं है। रात्रि भोजनका त्याग तो उसे मूलगुणोंमें ही हो चुका है। व्रत प्रतिमामें वह रात्रि भोजनका त्यागी न हो यह बात संभव नहीं। ऐसी स्थितिमें उक्त रीतिका आठ प्रहर का उपवास संभव नहीं मालूम होता। यह अधिक सुसंगत है कि दो भोजन दिनके कहे गए हैं। वह अष्टमी या चतुर्दशीका एक भोजन कर दूसरा भोजन त्यागकर देता है और अष्टमी चतुर्दशीके दोपहरसे नवमीके दोपहर तक ८ पहर (२४ घंटे) निराहार रहता है। इस प्रकार वह जघन्य व्रती होता है। किसी भी प्रकारका व्रती हो उसे व्रतमात्रमें विशुद्ध परिणाम और धर्मध्यान करना चाहिए तभी उसका व्रत व्रतसंज्ञाको प्राप्त होगा अन्यथा नहीं।१९५।१९६।

तदतिचाराः

अब प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार बतलाते हैं—

(उपजातिः)

सन्मार्जनेनैव विना पृथिव्यां विलोकनेनैव विना पदार्थाः।
ग्राह्या न तेषां त्यजनं न कार्यं यतो भवेत्कौ स्वपरात्मरक्षा ॥ १९७ ॥

सन्मार्जनेनैवेत्यादिः—विषयेच्छाकषायोद्रेकाभ्यां विरहितो व्रती यानि कार्याणि करोति तेषु सर्वेष्वपि पूर्वमेव विचिन्तयति यत्मत्कार्यनिमित्तेन केषामपि जीवानां बाधा न स्यात्। यदि व्रती इत्येवंप्रकारेण विचार-विरहितः अनवेक्षिते अशोधिते वा भूम्यादिके गच्छति जीवरक्षामविचार्य वस्तूनि गृह्णाति स्थापयति च मल-मूत्रादिकमप्येवमेव यत्र कुत्रापि निक्षिपति स्वयमपि अशोधिते संस्तरे स्वपिति तिष्ठति अनादरभावेन अनैकाग्र्येण सालसेन परिणामेन प्रमादपरणत्या वा कर्त्तव्याकर्त्तव्ये विस्मारयन् कार्याणि करोति तदा तस्य व्रतं सदोषं (सातिचारम्) एव भवति। एवं करणेन न स्यात् पररक्षा न च स्वात्मरक्षा। परहिंसया स्वस्यैव हिंसा भवति, कर्मबन्धहेतुत्वात्। व्रतादीना पालनं तु संवरार्थमेव क्रियते। तत्र दोषोत्पादने न भवति संवरः। अतो न स्यात् स्वात्मनो रक्षा। तस्मात्सदा प्रयत्नतो व्रतं पालनीयम्॥ १९७॥

प्रोषधोपवास व्रती विषयोंकी इच्छा और कषायभावसे रहित होनेके कारण जो भी कार्य करता है उसमें यह विचार अवश्य रखता है कि मेरे किसी भी कार्यके द्वारा किसी भी जीव को बाधा उत्पन्न न हो।

यदि वह ऐसा विचार न रखे, और बिना देखे तथा बिना शोधे ही चले, जीव रक्षाका विचार किए बिना ही वस्तुओं को उठाये या रखे, अशोधित स्थान व आसन पर बैठे या शयन करे, शास्त्र स्वाध्याय सामायिक आदि तथा जिन पूजनादि कार्योंमें भी यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करे, जहां कहीं भी जिस किसी भी प्रकार मल मूत्र आदि शारीरिक मलोंको त्याग करे, आदर व प्राह्येच्छा रहित आलस्य पूर्वक लापरवाहीसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका बिना विचार किए यदि कार्य करे व्यवहार करे तो उस व्रतीका व्रत सदोष अर्थात् सातिचार है।

स्वपर रक्षा व्रतका लाभ है। सदोष व्रती उक्त लाभसे वंचित रहता है। परघातकी अभिलाषा न रहते हुए भी, उनके प्रति क्रोधादि कषायोंका भाव न रहते हुए भी अपने प्रमादमात्र या असावधानीसे परघात हो जाता है। इस असावधानीका कारण है चित्तवृत्ति की अनेकाग्रता। चित्त यदि अनेक विचारोंमें अनेक चिन्तनोंमें मग्न रहता है तब व्रत पालनमें या तत्संबंधी कार्योंके करनेमें स्वयं ही गलती हो जाती है। अतः व्रतीको व्रतके प्रति आदर भाव रखकर चित्त की सावधानी रखनी चाहिए। यदि सावधानी रहे तो उक्त दोष उत्पन्न नहीं हो सकते।

स्वपरिणामों की अस्थिरता ही बंधका कारण है। परिणामोंकी स्थिरताके हेतु ही व्रत उपवासादि हैं। तब ही वे संवर (कर्मोंका न आसकना) के लिए कारण होते हैं। संवर होनेसे स्वात्मरक्षा ही होती है। इस प्रकारसे पररक्षा की सावधानीमें हमारी वास्तविक रक्षा है। संसारी प्राणी सदा ही कर्मके आगमन, बंध, उदय और उदीरणासे त्रस्त है। इस सनातनी प्रक्रियाको जब तक बन्द न किया जाय तब तक यह प्राणी सुखी नहीं बन सकता। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहविजय और चारित्र ये संवरके हेतु आचार्योंने बताए है। इससे यह प्रमाणित है कि निर्दोष व्रतका यदि पालन किया जाय तो यह आत्मा नवीन कर्म बंधनोंसे नहीं बंधता। इस विचारसे भी उक्त सम्पूर्ण दोषोंको टालकर व्रतके समय साम्यभाव पूर्वक रहकर उसका सुन्दरतासे विधिवत् निर्वाह करे जिससे स्वपरकल्याण हो ।१६७।।

प्रश्नः—भोगोपभोगव्रतस्य किं चिह्नमत्ययाश्च के?

हे गुरुदेव! भोगोपभोग व्रतका क्या स्वरूप है और उसके अतिचार कौन कौन हैं, कृपया मुझे बताइए—

(वसन्ततिलका)

मोहादिकर्मरिपुसंघविनाशनार्थं कृत्वा प्रमाणमिति वस्त्रधनादिकानाम्।
यः प्रत्यहं निजपदे निवसेत्कृतार्थी भोगोपभोगविरतः स भवेद् व्रतेशः ।।१६८।।

मोहेत्यादिः—परिग्रहप्रमाणव्रते धनधान्यादिवस्तुषु प्रमाणं कृतमासीत्। तथापि तथापि मोह-निवारणार्थं सकृद् भोगयोग्यानां भोगपदार्थनां भोजनगंधादीनां असकृद् भोगयोग्यानामुपभोगपदार्थानां वस्त्रादीनाञ्च नियतकालपर्यन्तं नियमरूपं अनियतकालपर्यन्तं यावज्जीवं यमरूपं वा यत्परिमाणं क्रियते तदेव भोगोपभोगपरिमाणव्रतमिति व्रतमिदमखिलेषु व्रतेष्वपि ईशवत् श्रेष्ठमित्यर्थः। अतः सर्वेष्वपि परपदार्थेषु ममत्व-परणतिं विहाय स्वात्मस्वरूपे निवासः करणीयः। इदमेवोद्देश्यं सर्वेषामपि व्रतानाम्। स भोगोपभोगविरतस्तु भोगोपभोगप्रमाणव्रते नियतांशेषु भोगानामुपभोगानाञ्च परित्यागात् शेषांशेषु च परिगृहीतेष्वपि अग्राह्यबुद्ध्यु-त्पादकत्वात् सन्निहितो वर्तते। अतः स सर्वेष्वपि व्रतिषु ईशत्वं प्राप्नोति ।१६८।

पञ्चाणुव्रतोंमें पांचवां परिग्रहपरिमाण व्रत है। इस व्रतमें श्रावकने गृहीत परिग्रहों को न्यून करनेके लिए धन, धान्य, वस्तु, गृह, सुवर्ण, चांदी आदि दसप्रकारके पदार्थोंको जो दैनिक उपयोगके होनेसे परिगृहीत हैं घटाया था। अल्प परिग्रहसे ही अपना व्यावहारिक कार्य चल सके ऐसा विचारकर प्रमाण नियत किया था। इस भोगोपभोग प्रमाण व्रतद्वारा उनमें भी क्षीणता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जो पदार्थ दैनिक उपयोगमें आते हैं पर जो एक बार काममें आकर नष्ट हो जाते हैं उनका दूसरी बार उपयोग नहीं हो सकता ऐसे पदार्थ भोग संज्ञाको प्राप्त होते हैं। जैसे भोजनके सब पदार्थ, शरीरपर लगनेके तेल, उपटन, सुगंधित अन्य पदार्थ नस्य, अञ्जन, गीत, नृत्य आदि। जो भोजन उदरस्थ किया गया है वह लौटाकर पुनः नहीं किया जा सकता। जो तेल फुलेल शरीर पर लगा दिया गया है वह एक बारमें ही समाप्त हो गया। दूसरी बार उपयोग की आवश्यकता होने पर दूसरा भोजन पदार्थ या दूसरा तेल उपयोगमें लाना पड़ेगा। व्यक्तिगत रीति पर इन पदार्थोंका उपयोग इसी प्रकार किया जा सकता है। यही बात नस्य और अञ्जनकी है। संगीतके जो शब्द तथा नृत्यके जो हाव भाव एक बार सामने आए वे नष्ट हो गए, दूसरी बार दूसरे शब्दोंका प्रयोग गायक करेगा तथा दूसरी बार पुनः उसी प्रकार की चेष्टा नर्त्तक करेगा। वे ही शब्द अथवा वही हाव भाव वापिस लौटाया नहीं जा सकता। केवल पुनरुक्ति हो सकती है।

जो पदार्थ एकबार काममें आनेपर भी स्थिर रहते हैं तथा जिन्हें दूसरीबार भी काममें लाया जा सकता है उन्हें उपभोग संज्ञा प्राप्त है। जैसे वस्त्र, शय्या, गृह, लाठी, बाग बगीचे, टेबिल, कुर्सी, खेत, सड़क, बोतल, चित्र और दर्पण आदि। इन पदार्थोंके कुछ काल तक स्थिर रहनेसे ये अनेक बार उपभोगमें लाए जा सकते हैं, अतः उपभोग कहलाते हैं। यदि विषय ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंद्वारा विभाजन करें तो रसना और श्रोत्र द्वारा गृहीत विषय भोगकी श्रेणीमें आते हैं तथा स्पर्शन घ्राण और चक्षु द्वारा गृहीत पदार्थ दोनों प्रकारके पाए जाते हैं। उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए कि शरीर पर जो तेल भोजन और उपटन आदि पदार्थ उपयोगमें आते हैं वे भोग हैं। शय्या और शीत वारणार्थ वस्त्र आदि पदार्थ स्पर्शनके विषय होते हुए भी अनेक बार उपयोगमें आते हैं, अतः उपभोग हैं। नस्य या इतर आदि घ्राणके भोग हैं। एकबार काममें लेनेके बाद वे नष्ट हो जाते हैं। पुष्प जो कई बार सूंघा जा सकता है वह उपभोग है। पुष्पमालाको कहीं कहीं भोगमें परिगणित किया है वह इस व्यवहारकी अपेक्षा किया है कि पुष्पमालाका उपयोग एकबार सूँघने या गलेमें डालने के बाद दूसरी बार या दूसरे व्यक्तिके लिए वह आयोग्य मानी गई है ऐसा लोक व्यवहार है। पर यदि व्यवहारके चलनके नियमोंकी ओर ध्यान न देकर एक ही पुष्पमालाका दिनमें १० बार उपयोग करें या १० व्यक्ति उसका उपयोग करें तो कर सकते हैं। इस अपेक्षा उसकी उपभोगमें भी गणना की जा सकती है। नेत्रके विषयभूत पदार्थ विभिन्न दृश्य स्थिर भी रहते हैं अतः उपभोगरूप भी हैं, और बिजलीकी चमक तथा सिनेमाके परिवर्तनशील चित्र आदि भोग रूप भी हैं। वे एक बार दिखाई देते ही छाया रूप होनेसे समय समयमें परिवर्तित होते जाते हैं। अन्य समयमें अन्य चित्रकी अथवा उसी चित्रकी दूसरी छायाके दृश्य दिखाई देते हैं। इस प्रकार भोगोपभोगका स्वरूप आचार्योंने बताया है।

इन पदार्थोंके उपयोगसे केवल विषय और कषाय ही परिपुष्ट होते हैं अथवा कषायोद्रेकसे ही हम इन पदार्थोंका उपयोग करते हैं, इनका संग्रह करते हैं और इनमें ममत्व भाव करते हैं। यदि हम अपनी विषयेच्छाको कम कर सकते हैं तो हमें इनका जितना कमसे कम ग्रहण हो उतना इनका कम से कम उपयोग करना चाहिए।

विषय और कषाय ये दोनों ही संसारमें दुःखप्रद हैं। इनके वश प्राणी स्वात्मस्वरूपकी भूमिका को त्याग कर अन्य भोग और उपभोगके पदार्थोंके ग्रहणकी ओर दौड़ता है तथा उनके संयोगकी तरह

उनका वियोग न हो इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। स्वेष्ट आत्मीक ज्ञान, दर्शन, अनन्त सुख और बलसे विमुख हो परपदार्थोंमें ही इष्ट कल्पना करता तथा उन्हें ही इष्ट मानकर निजस्वरूपको भूला रहता है। जिन्हें इष्ट माना है उनके ग्रहण और संग्रहमें यदि कोई बाधक कारण है तो उसे अनिष्ट समझ कर दूर करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थोंमें जो इष्टानिष्ट कल्पना प्राणीको उत्पन्न हो गई है उसके कारण इष्टके संयोगके लिए तथा अनिष्टके निराकरण करनेके लिए दिनरात चिन्तन करता है। जिससे इसके इष्टसंयोगज और अनिष्टवियोगज आर्तध्यान होता है जो इसे निरन्तर कर्मबंधनके चक्रमें बांधे रखता है। इष्ट संयोगके अभावमें अथवा अनिष्ट पदार्थके संयोगमें दुःख उत्पन्न होता है। उस पीड़ाको दूर करनेके लिए पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान होता है। साथ ही भविष्यमें यह प्रयत्न करूँ कि मुझे इष्ट संयोग अधिकसे अधिक हो, ऐसे भावी भोगोंकी चिन्तामें मग्न होनेसे निदान नामक चौथा आर्तध्यान होता है। इन चारों आर्तध्यानोंके कारण हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रहकी दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इन पापोंको इष्ट संयोगका कारण मान इनके करनेमें आनन्दित होना है, जिसे रौद्रध्यान कहते हैं। इस प्रकार भोगोपभोगके हेतु आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानका अवलंबन करनेवाला मोही प्राणी संसार गर्त्तमें गिरता है। इस स्थितिसे बचानेके लिए यह भोगोपभोगप्रमाणव्रत समर्थ है। इस व्रतके स्वीकार करनेसे स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जाती है।

इस व्रत द्वारा कुछ भोगोपभोगोंका त्याग हो जाता है। यदि उनका त्याग आजीवनके लिए होता है तो इसे यम कहते हैं और जिन भोगोपभोगोंका नियत समयके लिए त्याग होता है, उसे नियम कहते हैं। दोनों प्रकारके त्याग हमारी बहिर्मुखी प्रवृत्तिको दूर कर हमें अन्तर्मुख करते हैं। इस व्रतमें जिन विषयोंका त्याग नहीं हो सका है उन विषयोंको व्रती हेय ही मानता है और उनके त्यागका भी प्रयत्न करता है। वह सदा यह सोचा करता है कि इन सबके सम्पूर्ण त्यागका भी अवसर यदि मुझे प्राप्त हो जाय तो मेरा बड़ा सौभाग्य होगा।

जो भोग या उपभोग हिंसावर्द्धक हैं, जिनमें त्रसघात होता है या बहुघात होता है अथवा जो मदोत्पादक होनेसे आत्म-विस्मृतिके कारण हैं, रोगोत्पादक हैं, अथवा लोकनिंद्य हैं उनका तो यावज्जीवन यमरूप त्याग होता है। शेष पदार्थोंमें भी हेयबुद्धि होनेसे यम अथवा नियमरूपसे उनके त्यागका कार्य तबतक चलता रहता है जबतक सम्पूर्ण परपदार्थोंका परित्याग न हो जाय। बिना पर-पदार्थोंके त्यागके निजात्मद्रव्यमें प्रवेश नहीं होता। अतः यह व्रती निज पदमें निवासके हेतु इस व्रतको स्वीकार करता है।१९८।

भोगोपभोगप्रमाणव्रतके अतीचार—

(अनुष्टुप्)

सचित्ताद्यतिचाराश्च केवलं दुःखदायकाः।
दोषा न धार्मिकैः सेव्याः स्वस्थः स्वात्मा भवेद्यतः ॥१९९॥

सचित्तेत्यादिः—सचित्ताहारः सचित्तसंबंधाहारः सचित्तसंमिश्राहारः अभिषवाहारः दुःपक्वाहारश्चेति पञ्चातिचाराः भोगोपभोगव्रतस्येति। आहारशब्दस्य ग्रहणमित्यर्थो ग्राह्यो न तु भोजनमात्रम्। भोगेष्वुपभोगेषु च यत्सचित्तं जीवसहितं अस्ति तत् भोजनं वस्त्रादिकं वा न ग्राह्यम्। तद्ग्रहणे जीवबाधायाः संभावना वर्तते। सचित्तत्यागप्रतिमायामपि एतद्व्रतमस्ति तदुपरि च। तथैव द्वितीयादिषु प्रतिमासु च। यत्र किल सचित्तवनस्पत्या-

दीनां आहारे त्यागस्तत्र प्रमादतः यदि तत्स्यात्तदातिचारः स्यात् । केचित्कथयन्ति यत् द्वितीयादिप्रतिमासु न सचित्त-भोजनस्य त्यागः क्रियते तथापि सुनिश्चितमर्यादातः उपरि चूर्णादीनां जलादीनां औषधादीनाञ्च कदाचिदुपयोगः प्रमादतः स्यात्तदपि सचित्तभोजननामाऽतिचारः स्यात् अथवा सचित्तजलादीनां स्नानादिकर्मणि सचित्तानां त्वग्वस्त्रादीनामुपयोगः सचित्तपुष्पादिनां वा भोगः सचित्तत्यागप्रतिमासु सचित्ताहारः स्यात् । ततः पूर्वासु प्रतिमासु द्वितीयादिपु प्रतिमारूपेण सचित्तत्यागाभावेऽपि समुचितेष्वपि भोगेष्वुपभोगेषु यदि सचित्तत्यागः नियमरूपेण नियतसमयपर्यन्तमस्ति तदा मर्यादाकाले प्रमादतः तदुक्त कारेण सचित्तसेवने स्याद तिचारः । तथैव सचित्तभूमिपु गमनागमने अनवीक्षितमार्गपरिग्रहः अशोधितार्थानां सहसा ग्रहणं एतादृगन्यदपि स्यादति-चारः । तात्पर्यमेतत् यदत्र व्रतातिचारनिरूपणे सचित्तमिदमुपलक्षणम् । यदि व्रतेऽस्मिन् भोगोपभोगयोः स्वेच्छया सचित्तत्यागः कृतस्तदा प्रमादतस्तदुपयोगे स्यादतिचारः । तद्वत् यदि केनापि व्रतिना घृतादीनां रसानां त्यागः क्रियते नृत्यगीतगंधादीनां वा भोगोपभोगादीनां नियतकालमनियतकालं वा त्यागः क्रियते तथा यदि प्रमादतस्तदुपयोगः स्यात् तदा सोऽपि स्यादतिचारः । यथैव सचित्ताहारस्तथैव सचित्तसंबंधाहारसचित्तसंमिश्राहार-योरपि व्याख्या कार्या तथैव तावप्यतिचारौ स्याताम् । कामोद्दीपकानां पदार्थानामुपयोगे स्यादभिषवो नाम अतिचारः । यदि स स्याद् भोगेषु तदा भोगातिचारः स्यादुपभोगेषु तदोपभोगातिचारः स्यात् । दुःपक्वानामर्धपक्वानां पदार्थानां फलादीनां अन्नादीनामुपयोगे च दुःपक्वातिचारः स्यात् । एवं व्रतदूषणोत्पादकाः पापोन्मुखाः दोषाधायकाः किलातिचाराः व्रतिभिर्न सेवनीयाः । निरतिचारव्रतपालने हि स्वात्मा स्वस्थः स्यात् । अन्यथा संसारपरिभ्रमणमूल-बीजभूतकर्मणामास्रवणात् तत्फलानुभवनरूपदोषयुक्तत्वात् सरोगावस्थायामिव स्यादस्वस्थः ।।१६६।।

भोगोपभोग परिमाण व्रतके पाँच अतिचार बतलाए गए हैं (१) सचित्ताहार, (२) सचित्तसंबंधाहार (३) सचित्तसंमिश्राहार, (४) अभिषव और (५) दुष्पक्वाहार । इन पाँचोंसे उक्त व्रत दूषित होता है ।

(१) सचित्ताहार—सचित्तका अर्थ है सजीव अर्थात् जीव सहित पदार्थ । जिन पदार्थोंके सेवन करनेमें उस पदार्थमें स्थित जीवको बाधा उत्पन्न होती है उसका सेवन सचित्ताहार है । ऐसे पदार्थ भोजनादि भोगरूप और वस्त्रादि उपभोगरूप होते हैं । यद्यपि त्रस जीव सहित पदार्थोंके आहारका त्याग तो व्रतीके इसके पूर्व अष्टमूलगुणोंमें ही हो गया है अतः उसके ऐसे पदार्थोंके ग्रहणकी संभावना ही नहीं की जा सकती है । एकेन्द्रिय वनस्पत्यादि सहित होनेसे जो सचित्त कहलाता है उसके ग्रहणकी संभावना की जा सकती है । ऐसी स्थितिमें सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब एकेन्द्रिय वनस्पत्यादि सचित्ताहारका त्याग पञ्चम प्रतिमामें होता है तब द्वितीय प्रतिमाके भोगोपभोग प्रमाण व्रतवालेके सचित्ताहार दोषाधायक क्यों है ? यदि यहाँ ही दोषाधायक होनेसे उसका त्याग हो जाता है तब पाँचवीं प्रतिमा किसलिए है ? वहाँ क्या त्याग करता है ? यह एक प्रश्न है । इसका समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि यद्यपि यह व्रती त्रसहिंसाका त्यागी है और स्थूल तो क्या सूक्ष्म भी त्रसादिकी संभावना जहाँ की जा सकती है उसका भी दूरसे परिहार करता है तथापि ऐसे पदार्थ जिनकी मर्यादा शास्त्रोंमें नियमित समयतक बताई है । जैसे छने जलकी एक अन्तमुहूर्तकी और आटा अथवा पिसे हुए दूसरे अन्नादि पदार्थोंकी ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतुमें क्रमसे ५, ३ और ७ दिन की । परन्तु इन पदार्थोंकी मर्यादा समाप्त होनेपर प्रमाद या भूलसे यदि वे सेवनमें आ जायँ तो वह भी सचित्ताहार है ।

इसी प्रकार सचित्तत्याग प्रतिमावालेको स्नानादि कार्योंमें प्रमादसे कच्चे जलका, या वृक्षोंकी सचित्त छालके वस्त्रादिका उपयोग करनेमें आ जाय तो सचित्ताहार का दोष प्राप्त होगा । चूँकि

भोगोपभोग परिणाम व्रत द्वितीय प्रतिमासे ही प्रारम्भ हो जाता है तथा एकादश प्रतिमा तक रहता है, जिसके मध्यमें सचित्तत्याग नामक पाँचवीं प्रतिमा है अतः प्रतिमामें ये अतिचार जिस प्रकारसे संभावनीय हैं उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए।

कुछ विद्वानोंकी विवेचना इस सम्बन्धमें ऐसी है कि इस व्रतमें यहाँ (द्वितीय प्रतिमामें) सचित्ताहार (एकेन्द्रियादि सचित्ताहार) का त्याग नहीं है। तथापि यदि व्रती अपने भोगोपभोगमें ग्रहण करे तो मात्र अतिचार है, व्रतभंग नहीं। यहाँ इसका अतिचाररूपेण त्याग है, व्रतरूपेण नहीं। किन्तु सचित्तत्याग प्रतिमामें व्रतरूपेण त्याग है। यह विवेचना विद्वन्मान्य पं० आशाधार जीने सागारधर्मामृतमें की है। कुछ विद्वानोंकी यह विवेचना है कि अमर्यादित पदार्थका सेवन मूलगुणोंका अतिचार होना चाहिए, भोगोपभोग परिमाणका नहीं। त्रस सहित पदार्थके भक्षणका त्याग मूलगुणोंमें हुआ है। अतः अमर्यादित पदार्थका सेवन तथा अमर्यादित (छने हुए भी) जलका सेवन मूलगुणोंका ही अतिचार होगा।

ये मूलगुण पाक्षिकके ही सातिचार होते हैं और प्रथम प्रतिमामें निरतिचार होते हैं, अतः उक्त अतिचार दर्शन प्रतिमामें ही लागू हो सकते हैं, व्रतादि प्रतिमामें नहीं।

उक्त विवेचनोंको ध्यानमें रखते हुए इन अतिचारोंकी सही व्याख्या जानना आवश्यक है। हम ऐसा समझते हैं कि यद्यपि यह सही है कि सचित्ताहार (त्रसादि सहित) का मूलगुणों में त्याग है। अतः अमर्यादित पदार्थोंका, जिनमें आगमके आदेशानुसार त्रसकी संभावना हो जाती है, प्रमादसे ग्रहण करना अतिचार है। दर्शन प्रतिमामें मूलगुण निरतिचार हैं। अतः यहाँ इन अमर्यादित पदार्थोंका सेवन करना छोड़ देना उचित है। यदि प्रमादसे उक्त सेवन होजाय तो प्रतिमाके लिए अतिचार है। द्वितीय प्रतिमावालेके भी तथा और आगे पंचमादि प्रतिमावालोंके भी अतिचारोंकी संभावना है तथापि वे अतिचार मूलगुणोंके ही होंगे न कि भोगोपभोगपरिमाण के। तब यहाँ भोगोपभोगपरिमाणमें 'सचित्ताहार' से तात्पर्य क्या है, यह एक विचारणीय प्रश्न रह जाता है।

मेरी समझ ऐसी है कि यह भोगोपभोग व्रत है। भोगों और उपभोगोंकी संख्या नियत नहीं है, अतः इस व्रतमें यदि अतिचार होगा तो वह किसी एक पदार्थके निमित्तसे नहीं बताया जा सकता। जिनका इस व्रतमें त्याग है, यदि प्रमादतः अतिचार लगेगा तो उन त्यागे हुए विषयोंमें ही लगेगा। अन्यमें नहीं। जब कि त्यागे हुए विषयोंमें अनेकानेक पदार्थ हैं तब उनमेंसे किसी एकका नामोल्लेख कर उसे अतिचारमें बतलाना यह सूचित करता है कि वह उपलक्षण है, अर्थात् मात्र उदाहरण स्वरूप है। इससे यह फलित हुआ कि यहाँ सचित्ताहार आदिमें सचित्त पद उपलक्षण है। तब इसकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि सचित्तादित्याग किए हुए भोगोपभोग रूप पदार्थोंका प्रमादसे ग्रहण सचित्ताहार है। जैसे यदि किसी द्वितीय प्रतिमाधारीने सचित्त वनस्पति आदिका भोगोपभोग प्रमाणके रूपमें नियत काल तक अष्टमी चतुर्दशी अथवा आष्टाह्निक आदि पर्वोंमें त्याग कर रखा है। अथवा स्वेच्छासे यमरूप (आजीवन) उसका त्याग किया है। तब ऐसी अवस्थामें यदि प्रमादसे सचित्तका आहारमें, स्नानादिमें मर्यादाकालमें ग्रहण हो जाय तो वह सचित्ताहार नामक अतिचार होगा। इसी प्रकार यदि किसी भोगोपभोगत्याग व्रतीमें अपने इस व्रतमें सचित्त त्याग न करके घृत और मिष्ट आदि किसी रस विशेषका नियत या अनियत समयके लिए त्याग किया है। अब यदि प्रमाद या भूलसे

मर्यादाके भीतर त्यागकी अवधि पूरी न होने पर भी उक्त घृत और मिष्ट रसका सेवन करनेमें आ जाय तो वह सचित्ताहारादिके स्थानमें घृताहार घृतसम्बन्धाहार और घृतमिश्राहार ऐसे अतिचारके रूपमें बोला जायगा। अथवा मिष्टाहार, मिष्टसम्बन्धाहार और मिष्टमिश्राहार कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि सचित्ताहार सचित्तसंबंधाहारसे तात्पर्य केवल सचित्तसे ही नहीं है। सचित्तादिभोगत्यागाहार और सचित्तादिभोगसंबंधिताहारसे है। आदि शब्दसे जो भी भोग या उपभोग इस व्रतमें नियत या अनियत समयके लिए त्याग किए हों उनका मर्यादाकालके भीतर प्रमादसे ग्रहण करना उक्त व्रतीके लिए उक्त व्रतका अतीचार होगा ऐसी व्याख्या करना सुसंगत है।

उपभोगके संबंधमें भी ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिए। सचित्त उपभोगका यदि नियत या अनियत समयके लिए त्याग किया है तो उसे उक्त मर्यादा काल तक उसका निर्वाह करना चाहिए। यदि वह प्रमादतः मर्यादाकालके भीतर उन सचित्त पदार्थोंका उपभोग करे। जैसे वृक्षोंकी छाल आदि सचित्त वस्त्रोंका उपभोग, सचित्त पुष्पमालाका उपभोग, सचित्त मार्ग पर गमनागमन, हरी घास पर बैठना व सोना आदि तो ये सचित्तोपभोगत्यागव्रतके अतिचार होंगे। यहां भी 'सचित्त' शब्द उपलक्षण है। सचित्तके स्थानमें दूसरे प्रकारसे भी यदि उपभोगका त्याग किया है तब मर्यादाकालमें उसका सेवन भी अतिचार होगा। जैसे—यदि किसी भोगोपभोग व्रतमें यह नियम किया है कि मैं इतने समय तक सुवर्णके आभूषण नहीं पहिनूंगा अथवा रंगीन वस्त्रोंका उपयोग न करूँगा। ऐसी स्थितिमें यदि वह भूल या प्रमादसे उनका उपयोग करले तो सुवर्णाहार, चित्तवस्त्राहार इन नामोंसे उक्त अतिचारका उल्लेख होगा।

यहाँ आहार शब्दका प्रयोग ग्रहण अर्थमें है ऐसा हम पहिले ही लिख चुके है, अतः आहार शब्द पर शंका न करनी चाहिए। आहार का अर्थ मात्र भोजन यहाँ नहीं है। यदि ऐसा माना जायगा तो ये अतिचार मात्र भोगपरिमाणव्रतके होंगे। उपभोगपरिमाणव्रतमें अतिचारोंके वर्णनके अभावका प्रसंग आयगा।

सचित्तसम्बन्धाहार और सचित्तमिश्राहार इन दोनों अतिचारोंका तात्पर्य स्पष्ट है। सचित्त द्रव्यसे अथवा त्यागे हुए अन्य रसादि भोग या किसी उपभोग रूप पदार्थसे सम्बन्धित या उससे मिश्रित पदार्थका भूलसे सेवन करना सचित्तसम्बन्धाहार तथा सचित्तसम्मिश्राहार है। इस प्रकारकी व्याख्या द्वितीय, तृतीय अतिचारकी करनी चाहिए।

भोगरूप हों या उपभोगरूप कामोद्दीपन करानेवाले पदार्थोंका सेवन अभिषावहार है। अतिपक्क, अर्धपक्व, फलादि व अन्नादिका उपयोग करना दुष्पकातिचार है।

ये पाँच भोगोपभोग परिणामव्रतके अतिचार तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रंथोंके अनुसार त्यागनेका संकेत यहाँ आचार्य श्री कुन्थुसागरजीने किया है। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यजीने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें इन अतिचारोंके दूसरे नाम दिए हैं। उनके द्वारा उल्लिखित भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार ये हैं—

१—भोगोपभोगरूप इन्द्रिय विषयोंके प्रति प्रीति-भाव रखना।

२—पूर्व समयमें बाल्यावस्था या तरुणाईमें किये गये भोगोपभोगोंकी बार-बार याद करना।

३—नियमित और प्राप्त भोगोपभोगोंमें अत्यन्त गृद्धि रखना।

४—आगामी कालमें मैं ऐसे पदार्थ भोगूँगा। अब अमुक ऋतु आ रही है। उसमें ऐसे-ऐसे पदार्थ प्राप्त होंगे। मुझे उनका त्याग तो है नहीं, खूब भोगूँगा, ऐसी तृष्णा रखना।

५—विषय त्याग रहते हुए भी और उसे ग्रहण न करते हुए भी यह अनुभव कल्पनासे करना कि मैं अमुक पदार्थका भी भोग या उपभोग कर रहा हूँ।

इन अतिचारोंके वर्णनसे भी स्पष्ट है कि भोगोपभोग व्रतके अतिचार केवल भोजन मात्रसे संबंधित नहीं हो सकते, इसलिए सचित्त शब्दको उपलक्षण मानकर ऊपर जैसा हमने दिखलाया है वैसी व्याख्या करना आगमानुसार उचित होगा।

स्वामी समन्तभद्रजीने भोगोपभोगत्याग व्रतकी व्याख्यामें (१) त्रसहिंसा सहित (२) अनेक स्थावर (निगोद) की हिंसा सहित, (३) नशा या प्रमाद बढ़ानेवाले, (४) रोगोत्पादक और (५) लोक विरुद्ध ऐसे पाँच प्रकारके पदार्थोंका त्याग करना आवश्यक बताया है। इन पदार्थोंका त्याग यावज्जीवन है। अन्य भोग्य या उपभोग्य पदार्थोंमेंसे यथासंभव नियत समयके लिए विषयवैतृष्ण्यके अभिप्रायसे भी त्याग करना आवश्यक है। इस व्याख्याके अनुसार व्रती सचित्त (एकेन्द्रिय वनस्पत्यादि) द्रव्यका यद्यपि द्वितीय तृतीय चतुर्थ प्रतिमामें त्यागी नहीं है तथापि तृष्णा घटानेके अभ्यासके लिए उसका नियमित कालके लिए त्याग करता है। यही कारण है कि अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षण पर्व और अष्टाह्निका आदिके पुण्य दिवसोंमें हरी (सचित्त वनस्पति) के त्यागकी प्रथा जैन समाजमें पाई जाती है।

कोई कोई सज्जन यह तर्क करते हैं कि व्रतके दिन केवल हरीका त्याग कर दिया पर भोजन बनाने में भी तो आरंभ होता है और कच्चा पानी पीनेमें भी सचित्त भोजन होता है तब यह कैसा त्याग है? यह तर्क ठीक होता यदि तर्क करनेवाले सज्जन उक्त तर्कके आधार पर हरीके साथ साथ जलका तथा अन्य आरंभका भी त्याग कर देते। उनके लिए उनका तर्क लाभदायक होता और संभवतः दूसरोंके लिए भी आदर्श हो जाता, पर ऐसा देखा नहीं जाता। तर्ककर्त्ता वे होते हैं जो स्वयं कोई त्याग नहीं करते और अंशमात्र भी त्याग करनेवालोंकी उच्चता हमसे ज्यादा न मानी जाय इस अभिप्रायके अहंकारके कारण उक्त प्रकारका तर्क उपस्थित कर या तो उन्हें व्रतसे छुड़ाकर अपनी श्रेणीमें लाना चाहते हैं या समाजके सामने उस अंशमात्र त्यागीको मूर्ख सिद्ध कर देना चाहते हैं। इस रीतिसे जो तर्क अपने भी गिरनेका साधन हो और अन्यको भी गिरानेवाला हो वह कुतर्क है। उसका फल वह है जो धर्म और धर्मात्मा की अविनयका होता है, अथवा किसी प्रतिज्ञाबद्धको प्रतिज्ञाभ्रष्ट करनेके प्रयत्नका होता है।

यदि यह तर्क केवल प्रश्नके रूपमें जानकारी प्राप्त करनेके लिए ही वास्तवमें किया जाय तो दोषास्पद नहीं है। इस तर्कका यह समाधन है कि गृहस्थ देशव्रती है। वह क्रमशः पूर्ण व्रत की ओर जारहा है। जितना त्याग जहां कर सकता है करता है। अभ्यास करते-करते वह पूर्ण व्रती बनेगा। गृहीका व्रत महाव्रतकी प्राप्तिके लिये अभ्यास रूप व्रत है। अभ्यासकर्ताको उत्साहित करना चाहिये न कि कुतर्क द्वारा उसे गिराना चाहिये। सचित्तमात्रका या एकरसमात्रका या एकवार भोजनमात्रका त्याग करना अभ्यासरूप संयम है, भोगोपभोगपरिमाणव्रत है अतः कुतर्क को यहां स्थान नहीं।

उक्त सब बातों पर विचार रखकर व्रत पालनेवाला यदि अपने व्रतको निर्दोष बनानेका सतत प्रयत्न करता है तो भी वह व्रती संज्ञाको प्राप्त होता है। ऐसा होते हुये भी यह संभावना की जाती है कि कभी प्रमादवश उसके व्रतोंमें अतिचार आदि दूषण प्राप्त हो जाय तो ऐसी स्थितिमें प्रायश्चित्तादिके द्वारा

अपने परिणामोंको शुद्ध करके पुनः व्रतपर आरोहण करना चाहिये। प्रमादसे व्रतमें दूषण लगजाने पर ऐसा विचार करना कि अब तो व्रत नष्ट होगया है अब फिर पालनेसे क्या फायदा बहुत गलत विचार है। दूने उत्साहके साथ उस व्रतको पुनः पालना चाहिये।

व्रतीका तो मूलोद्देश्य ही पदार्थोंकी लम्पटतासे अपनेको छुड़ाकर स्वात्मावलम्बी बनानेका है, अतः वह तब तक चुप नहीं बैठ सकता जब तक अपने उद्देश्यमें सफल न हो। वह पापोन्मुख करनेवाले दोषाधायक इन तथा इन जैसे अन्य अतिचारों से अपने व्रतको बचावे जिससे वह इस परावलम्बनरूप महारोगसे उन्मुक्त होकर स्वस्थ हो जाय। १९९।

प्रश्नः—**अतिथिसंविभागस्य किं चिह्नं मे गुरो वद।**

गुरुदेव! अतिथिसंविभाग नामक व्रतका क्या स्वरूप है, कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

स्वानन्दसौख्यनिरताय चतुर्विधाय
संघाय धर्मरसिकाय निजान्यसिद्ध्यै॥
दानं क्षमादिजनकं हि चतुर्विधं यो
भक्त्या ददाति स जनोऽतिथिसंविभागी॥२००॥

स्वेत्यादिः—अतिथये संविभागः अतिथिसंविभागः। कोऽसावतिथिः? यस्यागमने गमने वा न तिथिर्नियता सोऽतिथिः इति तस्य व्युत्पत्तिः। तात्पर्यन्त्विदं यत् स्वगृहागताय रत्नत्रयपवित्रिताय दिगम्बराय भक्त्या आहारादिदानं यः करोति सः स्यादतिथिसंविभागव्रती। महाव्रतिनो दिगम्बराः साधवः स्वोदरगर्तपूरणार्थमसाधनाः वित्तहीनाः निरारम्भाः सन्ति। सर्वसाधनानां धनस्य च तैस्त्यागः कृतः स्वेच्छया। ते महाजनाः परावलम्बान् परित्यज्य स्वावलम्बिनः सन्तः विचरन्ति वने वने स्वात्मगुणसंपत्त्या स्वानन्दरसमास्वादयन्तः तज्जनितपरमाचिन्त्यानिन्द्रियसौख्यमनुभवन्तः तपस्यन्ति ते विजने। न तेऽनुभवन्ति कदाचिद् मनागपि दुःखमात्राम्। स्वात्मस्वरूपविमुखं पौद्गलिकं शरीरं न पोषयन्ति। पंचेन्द्रियविषयेषु निस्पृहास्ते क्रोधमानमायालोभादिभिर्मुक्ताः सन्तः स्वात्मन्येव निवसन्ति। एवं धर्मरसिकेभ्यस्तेभ्यः विशुद्धं तपसि सहायभूतं नातिरूक्षं नातिपौष्टिकं तत्प्रकृतियोग्यं भोजनादिकं प्रतिदिनं निर्दोषपद्धत्या दातव्यम्। उत्तमपात्रास्ते कलिकाले तु एतादृशानामहात्मनां विरलता दृश्यते। तदा कस्मै देयं दानमित्यपि प्रश्नः सञ्जायते। इत्यत्राचार्याः उत्तरयन्ति यत् मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकाभेदेन विभिन्नाय चतुर्विधाय संघाय आहारभैषज्यशास्त्राभयरूपं चतुर्विधमपि दानं यथावसरं यथायोग्यं यथावश्यकं देयम्। इत्यनेन प्रकारेण दानेन दातुर्गृहिणः दानपात्रस्य च कल्याणं भवति। धर्मपात्राणान्तेषान्तु धर्मसिद्धिर्भवति। तत्सहायकर्तॄणान्तु गृहिणां महत्पुण्योपार्जनं भवति। इत्युभयसिद्धिप्रदायकमेतद् व्रतमस्ति। धर्मप्रीत्या प्रतिग्रहणं उच्चस्थाने निवेशनं पादप्रक्षालनं तेषामादरः तेषु विनयः विशुद्धेन मनसा विशुद्धेन वचसा विशुद्धेन कायेन विशुद्धमाहारादिकं देयम्। एवं नवधा भक्त्या श्रद्धया सन्तोषबुद्ध्या विवेकेन उदारतया धीरतया स्वशक्तिमनिगूह्य यद् ददाति श्रावकस्तस्य स्यादतिथिसंविभागव्रतम्। प्रतिदिनं स्वयोग्यनिर्मापितभोजनादिद्रव्येषु अतिथिजनाय यद्विभागः क्रियते तद्गृहिणः धर्मस्नेहसूचकम्महत्कार्यमस्ति। एतेन तस्य प्रकृतिः सदोदारा भवति। त्यागमार्गे तु सहायिका सा प्रकृतिः सदादरणीया। श्रावकव्रतस्य मुकुटमणिरिव एतदतिथिसंविभागव्रतमस्ति।२००।

श्रावकके १२ व्रतोंमें अन्तिम व्रत अतिथिसंविभाग है। यह व्रत उसके सम्पूर्ण व्रतोंका

मुकुटमणि है। इस व्रतके द्वारा वह अपने भीतर उदार भावनाओंको प्रोत्साहित करता है और त्यागके मार्ग पर आनंद के साथ वृद्धिको प्राप्त होता जाता है।

अतिथि उन्हें कहते हैं जिनके आने व जानेकी कोई निश्चित तिथि याने दिन न हो। महाव्रती दिगम्बर साधु आत्मसाधनाके हेतु वनमें विचरण करते हैं। आत्मा और शरीरके भेदका विज्ञान प्राप्त हो जानेसे वे शरीरके सम्पूर्ण साधनोंका त्याग कर चुके हैं। केवल स्वात्मगुणोंके प्रेमी, उनकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही अनेकापदाओंका आश्रय करनेवाले धनरहित व परिग्रहरहित वे तपोधन एकान्त प्रदेशोंमें आत्मध्यान करते हैं।

आत्मगुणोंकी सम्पत्तिके स्वामी आत्मानन्द रसके आस्वादी परम अचिन्त्य अतीन्द्रिय सुखके भोक्ता वे महामुनि कठिन से कठिन तपस्याओंका अवलंबन करने पर भी किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं मानते। पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा क्रोध मान माया लोभ आदि कषायोंमें सर्वथा निस्पृह होकर वे अपनी धर्म संपत्तिको सम्हालनेमें ही लगे रहते हैं। उनका यही एक मात्र व्यापार है।

ऐसे सर्वोत्कृष्ट पात्र महामुनियोंको दोष और अन्तरायोंको, जिनका वर्णन इस ग्रंथके पूर्व भागमें (मुनिधर्मप्रदीपमें) आचुका है, टालकर विशुद्ध परिणामोंसे उनकी प्रकृतिके अनुकूल, न अतिरूक्ष, न अतिगरिष्ठ, सौम्य आहारादि द्रव्य दानमें देना अतिथिसंविभागव्रत है।

लोकमें व शास्त्रमें दानकी सर्वत्र महिमा गाई जाती है। देना सर्वोत्कृष्ट कार्य है इसमें सन्देह नहीं ; क्योंकि इस शुभ कार्यसे हमें त्यागकी महत्ताका बोध होता है। हम स्वयं भी त्याग करते हैं, और देते भी उन्हें हैं—जिन्होंने अपने जीवनमें त्यागकी प्रतिष्ठा की है। इस तरह त्यागियोंके प्रति स्नेह जागृत होनेसे त्यागकी भावना जागृत होती है। परावलंबको छोड़ने और स्वावलंबको प्राप्त करनेका यह दान बहुत सुन्दर मार्ग है। इसका आदि है पर अन्त नहीं। अनन्त क्षायिकदान गुणके अवलंबी सिद्ध परमात्माके पुनीत स्वरूपके अवलंबन मात्रसे अनन्त जीव मुक्ति पद प्राप्त करते हैं। उनका यह पवित्र दान अनंत काल तक चलेगा, अतः इस महान् अनंत कार्यका प्रारम्भ व्रती श्रावक परपदार्थके त्यागसे करता है।

उत्तम पात्र दिगम्बर मुनिजनोंके न प्राप्त होने पर आर्यिका व्रती श्रावक-श्राविका आदि मध्यम पात्रोंको अथवा वे भी न मिल सकें तो जघन्य पात्र व्रतरहित होनेपर भी जो धर्मका श्रद्धालु हो उसे दान देना उचित है। इस प्रकार मुनि आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकारके संघको अपनी श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विवेक, उदारता और धैर्यपूर्वक शक्तिके अनुसार दान देना चाहिए। उक्त सात गुण सहित दाता जब पात्रोंका प्रीति पूर्वक प्रतिग्रह करता है, उन्हें उच्चस्थान देता है, उनके पाद प्रक्षालन करता है, उनका आदर और विनय करता है, और उदार पवित्र मनसे, उत्तम वचनोंके साथ, पवित्रताके साथ आहार आदि देता है तब वह श्रावककी नवधा भक्ति कही जाती है। गुणवान् श्रावकके द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया दान कल्पलताके समान उत्तमोत्तम फलको प्राप्त होता है।

इस तरह उत्तम श्रावक द्वारा उत्तम पात्रोंके लिए उत्तम विधिसे दिया गया उत्तम वस्तुओंका दान उत्तम दान या अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है। उत्तम वस्तुसे तात्पर्य यहाँ पर बहुमूल्य वस्तुसे नहीं है। देय वस्तुकी उत्तमता इस संबंधसे जानी जाती है कि देय वस्तु संयमी पुरुषके ज्ञानार्जन ध्यान तप आदि आवश्यक धर्म कार्यमें सहायक शरीरके लिए कहाँ तक उपयोगी है। साधु व त्यागी धर्मात्मा पुरुष जो धर्मकी साधना करते हैं वे शरीराश्रयसे। शरीरमें क्षुधा-तृषाका अनादिका रोग है। इतनी ही

पराधीनता है जिसका सर्वथा त्याग साधु नहीं कर पाता। वह वस्त्रका त्यागकर दिगम्बर हो जाता है; शीत व उष्ण तथा वर्षाकी असह्य वेदनाओंकी परवाह नहीं करता। धनकी लिप्सा कुटुम्बियोंका स्नेह, गृहका मोह, दास दासियोंकी सेवा, शारीरिक शृंगार आदि सबका त्याग कर देता है। वह त्याग उसका जीवनपर्यन्तके लिए है। तथापि भूख प्यास आदि नियमित समय तक ही सह सकता है। उसे अभिभावित करने पर शारीरिक शक्तिका ह्रास हो जानेसे धर्मसाधनामें बहुत बड़ी बाधा आजाती है, अतः वे आहारके निमित्त श्रावकके घर आते हैं। गृहस्थके साथ उनका मात्र इतना ही संबंध है। यदि इतना कार्य श्रावकके आश्रयसे पूर्ण करनेकी आवश्यकता न होती तो साधु बन छोड़ नगरका शायद कभी आश्रय ही न करता। मुनि दर्शनको श्रावक वन वन भटकते और शायद मुश्किलसे कहीं दर्शन पाते।

इस तरह शरीरकी शक्तिको तपमें सहायक जानकर स्थिर रखनेके लिए आहारकी आवश्यकता है। वह आहार देनेका शुभावसर सदाचारी श्रावकको प्राप्त होता है। सर्वारम्भ परिग्रहके प्रति अपने स्नेहका त्याग करनेवाले उसे महान् उदार अतिकष्टसहिष्णु निरिच्छ पुरुषको कोई चक्रवर्ती भी अपने सर्वस्वका निछावर कर मात्र विशुद्ध आहारके और कुछ नहीं दे सकता। स्वर्गका इन्द्र महान् विभूतिका धारक होता है। अनेक ऋद्धियाँ तथा संपत्तियाँ उसकी दासीके समान सेवा करती हैं। वह चाहता है कि इन त्रैलोक्य प्रतिष्ठित साधुओंकी मैं कुछ सेवा करूँ। पर वह हताश हो जाता है कि मैं कैसे सेवा करूँ? मेरी तो कोई भी सेवा साधु ग्रहण नहीं करते। आहार मात्र जो लेते हैं वह भी अव्रती देवादिकके द्वारा नहीं। व्रती विशुद्ध श्रावकों द्वारा ही ग्रहण करते हैं। श्रावक चाहे वह मात्र मूलगुण धारी पाक्षिक ही क्यों न हो, इस नातेसे इन्द्रसे भी श्रेष्ठ है।

भोजनके सिवाय मुनिजनोंको यदि कुछ दिया जासकता है तो वह रोगित अवस्थामें औषधिका दान है। यह औषधि भी वे केवल भोजनके साथ उसे यथाभोजन मानकर ले लेते हैं। भोजनातिरिक्त समयमें उसे भी ग्रहण नहीं करते। मात्र शरीर पर लगानेकी औषधिका प्रयोग ही अन्य समय पर किया जासकता है। खाने पीनेकी औषधियोंका नहीं। यह औषधि भी त्रसघातादि दोषोंसे सर्वथा रहित हो और भोजन सामग्रीकी तरह ही विशुद्ध हो तो ही वह उनके लिए ग्राह्य होगी। अशुद्ध औषधियोंका उपयोग साधुजन कभी नहीं करते।

दैनिक स्वाध्याय (ज्ञानार्जन) के हेतु यदि कोई श्रावक भक्तिपूर्वक कोई आगमग्रन्थ उन्हें दे तो आवश्यकता होने पर उसे साधु ग्रहण कर लेता है। यह शास्त्र उसका परिग्रह नहीं है। मात्र स्वाध्याय हेतु ग्रहण करता है। स्वाध्यायपूर्ण होने पर उसे वे किसी श्रावकको, किसी मंदिरमें या किसी अन्य साधुको प्रदान कर देते हैं।

साधु सेवाके लिए जीवरक्षार्थ पीछी तथा शारीरिक शौचादि बाधा होने पर शुद्धिके लिए उपयोगमें आनेवाले जलको रखनेका कमंडलु भी दिया जा सकता है। वर्षा या शीत ऋतुके समय यदि कोई कुटी या कोई छोटासा स्थान यदि बना हुआ हो तो साधु वर्षायोगमें ४ मास और अन्य ऋतुमें ४-५ दिन ही साधारणतया उपयोगमें लेते हैं।

इनके सिवाय बीमारीमें कोई शारीरिक सेवा तथा विपत्ति आने पर कोई सुरक्षाका उपाय यदि श्रावक करे तो कर सकता है। उक्त सेवाओंके अलावा साधुको कुछ नहीं दिया जासकता और न कोई अन्य सेवा ही वे ग्रहण करते हैं।

उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधुके हेतु जो दान दिया जाता है वह आहार, औषधि, शास्त्र और स्थान ये चार ही हैं अन्य नहीं। जैनाचार्योंने दानके चार ही भेद किए हैं। कहीं-कहीं नाममें कुछ अंतर है। कोई-कोई शास्त्रकार शास्त्र दानके स्थान पर उपकरण दान शब्दका उपयोग करते हैं। उसकी व्याख्या यह है कि मात्र ज्ञान और संयमके साधनभूत उपकरण देना। ज्ञानोपकरण जैसे शास्त्र हैं वैसे ही संयमके लिए सहायक पीछी और कमण्डलु हैं। इस आधार पर भोजनके हेतु बरतन तथा वस्त्र आदिका दान उपकरण दान कहना न्याय तथा आगम सम्मत नहीं है; क्योंकि ये दोनों परिग्रह हैं संयमके साधन नहीं हैं।

हां वर्तमानमें चश्मा और घड़ीका उपयोग दिगम्बर साधुओंके द्वारा होता है। इनमें चश्मा शास्त्राभ्यासमें भी सहायक है और मार्गदर्शनमें जीवबाधा दूर करनेमें भी उसका उपयोग होता है अतः ज्ञान और संयम दोनोंका सहायक होनेसे दिया जा सकता है। किन्तु वह सुन्दरताकी दृष्टिसे कीमती न देना चाहिए और न उन्हें लेना भी चाहिए। घड़ी न संयमका साधन है और न स्वाध्यायका, अतः उसका दान उपकरण दान नहीं, अतः न यह देना चाहिए और न साधुको अपने पास रखना ही चाहिए। साधुके लिए प्रातः सायं और दोपहर सामायिकके काल हैं। प्रातःकाल सूर्योदयसे सायंकाल सूर्यास्तसे और मध्यान्हकाल मध्यसूर्यसे सहज ही जाना जाता है। करोड़ों ग्रामीण जनोंको बिना घड़ीके ही समय ज्ञान दिनमें तो सहजही होता है, रात्रिमें भी नक्षत्रोंके उदयास्तसे ज्ञान कर लेते हैं। अतः घड़ीका आदान प्रदान संयम साधक न होनेसे उपकरण दानमें सम्मिलित नहीं किया जासकता। हां चातुर्मास आदि समयमें वर्षा योगके कारण मेघाच्छन्न सूर्य होनेसे अथवा दैनिक कार्य क्रमसे विभिन्न धर्माराधनाओंके हेतु समयकी प्रतीतिमें बाधा होती हो तो श्रावक उस स्थान पर स्थानप्रबन्धकी तरह यदि घड़ी लगादे तो उससे समय देखनेमें साधुको कुछ बाधा नहीं, पर उस वस्तुको अपने साथ हमेशा रखा नहीं जा सकता।

वस्त्र और वर्तनकी तरह बैटरी, फाउन्टेन पेन, ग्रामोफोनके रिकार्ड, शब्दग्राही (रिकार्ड बनानेवाली) मशीनें, वस्त्रकी कुटीरें, चटाइयाँ, और बैठनेके काष्ठासन आदि भी साधु अपने साथ नहीं रख सकता। ये सब परिग्रहमें सम्मिलित हैं, अतः इनका दान भी उपकरणदान नहीं हैं। साधुके आने पर श्रावक इन चीजों को अर्थात् बैठनेको उच्चासन हेतु काष्ठासन, वेत्रासन तथा तृणासन दे सकता है। उनके लिए सामान्य कुटी और स्थानके अभावमें वस्त्रकी कुटी बनाकर उसमें ठहरनेका स्थान दे सकता है। रिकार्डिंग मशीन द्वारा उनके भाषणका रिकार्ड कर सकता है। ये सब साधन गृहस्थ द्वारा यथा समय उपयोगमें लाए जा सकते हैं। पर साधु इन साधनोंका उपयोग स्वीकार करके भी इन साधनोंको स्वीकार नहीं कर सकता। इनका स्वायत्तीकरण परिग्रह ही है। उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हुआ कि परिग्रहका दान साधुको नहीं दिया जा सकता। किन्तु मात्र ज्ञान और संयमके साधनभूत सुनिश्चित पदार्थोंका दान ही जिनकी चर्चा ऊपर आ गई है उपकरणदान के नामसे किया जा सकता है।

आवासदान के स्थानमें अभयदान शब्दका भी उपयोग ग्रन्थान्तरोंमें किया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्थानका दान उनकी रक्षाकी दृष्टिसे है वैसे ही अन्य अवसरों पर आवश्यकता होनेपर उनकी हर प्रकार रक्षा करना, रोगितादि अवस्थामें सेवा करना अभयदान है। आर्यिकाओंको उक्त दानोंके सिवाय एक साड़ीका दान भी दिया जा सकता है। श्रावक दानके लिए पात्र माना गया है अतः दानके प्रकरणमें किए गए भेदोंमें उसके योग्य भी पदार्थोंकी गणना की जा सकती

है जो उसके व्रतोंमें सहायता दें। उसे निराकुल बना सकें। किन्तु उसके परिगृहीत व्रतके लिए साधक हों बाधक न हों। जैसे क्षुल्लकोंके लिए लँगोटी और खण्डवस्त्र। ऐलकोंके लिए मात्र लँगोटी वस्त्रोंमें दी जा सकती है। क्षुल्लक एक भोजन पात्र भी साथ रख सकते हैं, अतः उन्हें एक भोजनपात्र भी दानमें दिया जा सकता है। शेष प्रतिमाधारी श्रावकों तथा अव्रती सम्यग्दृष्टियोंको उनके सम्यग्दर्शन व्रत और क्रियाओंके लिए साधनभूत साधनोंका देना, अथवा उनके व्रतोंमें बाधक कारणोंको दूर करना दान है। जैसे—

आजीविका रहित गृहस्थको आजीविकाके अहिंसक साधन प्रदान करना, अन्नादि देना, व्यापारको पूँजी देना आहारदान है। बीमारीकी स्थितिमें औषधियों द्वारा व वैद्य द्वारा सहायता पहुँचाना, उसकी शारीरिक सेवा टहल करना औषधिदान है। भोजनालय और औषधालय द्वारा सर्वसाधारण क्षुधित और रोगियोंकी सेवा करुणादान है। सज्ज्ञान वर्धक पुस्तकें देना, पठन-पाठनकेअन्य साधन देना, उक्त कार्यके लिए अध्यापक नियत करना, विद्यादानके स्थान बनवाना और छात्रवृत्ति देना आदि ज्ञानदान है। गृहस्थके धन-जनकी सुरक्षा करना, विपत्तिमें साथ देना, उत्पीड़न होनेपर मदद देना, उनकेधर्म साधनों पर बाधा उपस्थित हो जाय, आततायिों द्वारा आजीविका छीनी जाय, धार्मिक व सामाजिक सुविधाओं पर कुठाराघात हो, भेदों पर विपत्ति आ जाय, चोर व डाकुओंका उपद्रव बढ़ जाय, अग्निदाह आदि आकस्मिक आपत्तियाँ आ जायँ तो इन सबको यथाशक्ति तन, मन व धनसे दूर करनेका प्रयत्न करना अभयदान है।

इन सब चारों दानोंको देते समय यह भावना रहती है कि धर्मात्मा पुरुष अपना धर्मसाधन करें और मैं उनके धर्मसाधनके लिए जो भी सेवा कर सकूँ उसका करना मेरा कर्तव्य है। जो दान उक्त उद्देश्यसे नहीं किया गया, मात्र करुणासे दुःखी प्राणियोंके लिए किया जाय वह करुणादान है। समकक्षके श्रावकोंमें पारस्परिक सहानुभूति तथा प्रेम बढ़ानेके हेतु भोजन कराना, विवाहादि अवसरोंपर व्यवहारके रूपमें रुपया, जेवर वस्त्रादि देना, मरणादिके दुःखमें व्यवहारका निर्वाह कर उनके कुटुम्बियोंकी सहायता करना यह सहयोग पद्धति पर देना सम्पत्ति दान है। अपने कुटुम्ब वर्गको जिनका यद्यपि हमारे मरणोत्तर कालमें हमारी संपत्ति पर स्वयं अधिकार प्राप्त होगा तथापि हम अपने जीवन कालमें ही यदि संपत्तिसे मोह त्याग कर उन्हें दें तो वह अन्वयदत्ति नामक दान है।

कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं जो अन्वयदत्ति कोई दान नहीं है, वह तो कुटुम्बियोंका अधिकार प्राप्त द्रव्य है। दाता न भी दे तो अधिकारी कुटुम्बी स्वयं ले ही लेता। अतः इसे दानमें परिगणित नहीं करना चाहिए।

यह प्रश्न उचित है। इसका समाधान यह है कि अन्वयदत्ति की गणना श्रेष्ठ दानोंमें है, पर वह पात्रकी दृष्टिसे नहीं। जैसे शास्त्रदान, पात्रदान और करुणादानमें पात्रकी सुविधाकी प्रधान दृष्टि है, इसमें दाताको तो पुण्य बंध होनेसे परोक्ष फल है, प्रत्यक्षमें तो पात्रकी सेवा ही है, वैसे अन्वयदत्तिमें नहीं। इसमें पात्रके लाभकी दृष्टि गौण है, स्वयंके लाभकी दृष्टि अधिक है। स्वयं दाताका लाभ इसमें साक्षात् है परोक्ष नहीं। कारण यह है कि अपनी सम्पत्तिसे अपने जीवन कालमें मोह त्याग कर उत्तराधिकारीको देना अपनेको संसार कीचसे निवृत्त करनेका उपाय है। वह श्रावक संपत्तिसे तथा कुटुम्बसे भी मोह रहित हो आत्मसाधनके लिए धर्माचरणको अंगीकार करता है। अतः इसका साक्षात् लाभ है।

वह अपना धन अपने द्वारा पोषण किए जानेवाले पोष्य वर्ग, अपने द्वारा गृहस्थ श्रावकके नाते किये जानेवाले देवपूजन, गुरु-सेवा, पात्र-दान आदि धार्मिक कार्यके निमित्त उत्तराधिकारी पुत्र आदि को सौंपकर आप गृहारम्भसे निवृत्त हो जाता है। यह दान स्वयं दाताके लिए अत्यन्त लाभदायक है, अतः इसकी गणना भी दानके भीतर है।

क्षुधितके लिए भोजनकी तरह कामीके लिए स्त्रीदान, रतिदान व आराम और विषय-साधनोंके लिए बाग-बगीचाका दान, गीतदान, नृत्यदान, नाटक-सिनेमा-दान, तेल व इत्रका दान अथवा अन्य पापके साधनोंका दान मोह, संसारवर्द्धक व पापोत्पादक होनेसे कुदान हैं। ऐसे दानोंसे महत्पापोंका सञ्चय होता है, अतः ये अग्राह्य हैं, नरकादिबन्धके हेतु हैं। इनके साथ दान शब्दका उपयोग करना भी पापका हेतु है।

अतः दान या अतिथिसंविभागव्रतका पालन विवेकके साथ ही सम्भव है, अविवेकके साथ नहीं। श्री जिनेन्द्रकी अर्चा, पूजन, अभिषेक, रथयात्रा, धर्म प्रभावना, ज्ञानवर्धक पुस्तकोंका प्रचार, धर्मोपदेश देना, जैनधर्मके प्रचार, उसकी स्थिरता, उसकी कीर्तिके बढ़ाने हेतु जो-जो कार्य किए जायँ उनमें जो द्रव्यका, समयका तथा जीवनका उपयोग करते हैं वे सब उत्तम दानी हैं। दान स्वार्थ त्यागका दूसरा नाम है। अतः न केवल धन त्यागनेसे मनुष्य दानी होता है। किन्तु स्वार्थ त्याग किसी भी रूपमें किया जाय, यदि उसका उद्देश्य पवित्र है तो वह सब उत्कृष्ट दान है।

कुछ सज्जनों की ऐसी धारणा है कि धनी पुरुष ही दानका अधिकारी है। दरिद्रके पास कुछ है ही नहीं तब दान क्या दे? इस प्रश्नके संबंधमें भी विचार करना अत्यावश्यक है। जैनागमके अनुसार सर्वोत्कृष्ट दान तो मुनिके लिए दिए गए आहार औषध आदि हैं। साधुके हेतु किए गए दानमें द्रव्यके खर्चकी प्रमुखता नहीं है किन्तु श्रद्धा और भक्ति भावनाकी मुख्यता है। देना तो मात्र आहार है और वह भी अपने हेतु जो सादा साधारण शुद्ध भोजन आपने तैयार किया हो उसमेंसे ही कुछ अंश देना है, अतः इसमें द्रव्यके खर्चका प्रश्न ही नहीं है। धर्म प्रेमका ही प्रश्न है।

दानी से दानी व्यक्ति भी करोड़ोंका दान कर सकता है पर अपने पास यदि सीमित भोजन हो, और अन्य कोई भोजनार्थी आ जाय तो उसे अपना भोजन देनेमें कष्ट होगा। वह उसके एवजमें उससे चौगुना या अठगुना भी द्रव्य उसे दे सकेगा पर जो उसके उपयुक्त रखा हुआ सीमित भोजन है उसे नहीं दे सकेगा। ऐसा होने पर भी यदि उसका प्रिय पुत्र या अन्य इष्टतम संमुख आ जाय तो वह ममतासे उस भोजन को अपने इष्टतमको प्रेमसे खिला देगा। उस समय कुछ भी कष्टका अनुभव न करेगा बल्कि ऐसा करनेमें उसे प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार गृहस्थ भी अपने हेतु बनाए हुए नित्यके साधारण जीवन सहायक जीवनोपयोगी भोजनमेंसे समय पर पधारे हुए अन्य श्रद्धाके भाजन गुरुजनके आजाने पर बड़ी ममता, विनय और भक्तिके साथ उनकी आवश्यकता पूर्तिके लिए दान कर देता है और बड़ी प्रसन्नतासे अपने जीवन को धन्य मानता है।

धनी केवल उस धनका त्याग करता है जो उसके पास आवश्यकतासे अधिक संगृहीत है। निर्धन उस धनका त्याग करता है जो उसके पास उसकी अधिकसे अधिक जरूरी शारीरिक आवश्यकताओंके लिए संगृहीत है। धनी केवल धन दे सकता है पर निर्धन साधुकी तथा अन्य धर्मात्माओंकी अथवा साधर्मियोंकी अथवा दुःखी जनोंकी तनसे व करुणा बुद्धिसे सेवा, श्रद्धा, विनय और सहानुभूति यथायोग्य कर सकता है यदि वह करे तो। अतः उक्त प्रश्न निराधार है।

मनुष्य जितना अधिक अपने विषय साधनोंका त्यागी है वह उतना ही बड़ा दानी है। सर्वारम्भ परिग्रहके त्यागी भगवान् अर्हन्तकेवलीके क्षायिक दान नामक गुण कहा गया है। यदि द्रव्याश्रित ही दान हो तो भगवान् अर्हन्त सर्वोत्कृष्ट क्षायिक दानके दाता कैसे बन सकते हैं, अतः 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' स्वपर अनुग्रहके लिए स्वार्थका त्याग दान है यह भगवान् गृद्धपिच्छकी दानकी व्याख्या सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है।

भगवान् अर्हन्त तीन लोकके धनी हैं। समवसरणादि महान् विभूति उनके है। इन्द्रादि असंख्य देव तथा विद्याधर चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े उनके सेवक हैं, अतः इस सब विभूतिको त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेके कारण वे अनन्तदानी हैं ऐसा भी कोई कोई शंकाकार समाधान कर लेते हैं पर यह समाधान सही नहीं है यह आगमके सामान्य ज्ञाता भी जानते हैं।

तीर्थंकर भगवान् अर्हन्त सम्पूर्णतया रागद्वेष रहित होनेसे पूर्ण वीतराग हैं। उक्त विभूतियाँ इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदिके भक्तिके फलस्वरूप समवसरण आदिमें एकत्रित हैं। उनमें भगवान्को न राग है और न उनका स्वामित्व है। आप स्वामी हैं, तीन लोकके धनी हैं, अनुपम विभूतिके धारक हैं इत्यादि वाक्योंका उपयोग भक्तिवशात् ही किए जाते हैं। वस्तुतः उन पदोंका जो वाक्यार्थ है वह सही नहीं है। यथार्थ यह है कि तीन लोकके हितकारक होनेसे त्रिलोकके प्राणी उन्हें अपना स्वामी कह सकते हैं। उनकी भक्तिके वश जिस समवसरणकी रचना इन्द्रादि करते हैं उतनी विभूति तथा सर्वोत्कृष्ट सामग्री अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती इसलिए अनुपम विभूतिवान् कह देते हैं। पर उनकी वास्तविक विभूति तो उनके आत्मीय गुण हैं। बाह्य विभूतिके रूपमें तृणमात्र भी उनके द्वारा गृहीत नहीं है। तब जिन पदार्थोंका ग्रहण ही नहीं है अथवा जिनके ग्रहण करनेका भाव या रुचि ही नहीं है उनको वे त्याग कर क्षायिक दानी हैं ऐसा समझना भूल है।

क्षायिक दानी तो सिद्धपरमात्मा भी हैं। वहाँ तो कोई समवसरणादि भी नहीं है। इससे सिद्ध है कि परम वीतराग प्रभु अर्हन्त या सिद्धावस्थामें सिद्ध अपने परम पवित्र स्वरूप दर्शनसे ही असंख्य प्राणियोंके उद्धारक हैं उनके भव दुखःसे उद्धार होनेमें निमित्त हैं, अतः इस निमित्तासे वे दानी हैं। उनसे अधिक त्यागी कौन हो सकता है जिन्होंने न केवल बाह्य परिग्रहको किन्तु आन्तरिक रागद्वेषको भी त्याग दिया है अतः वे सर्वोत्कृष्ट त्यागी या दानी है।

इस प्रकार उक्त परमदाताकी पदवी प्राप्त करनेकी अभिलाषासे ही गृहस्थ उक्त मार्ग पर पदार्पण करनेवाले साधुवर्गकी, धर्मात्मा गृहस्थकी तथा सम्यग्दर्शनसंयुक्त प्राणीकी यथायोग्य वैयावृत्ति या अनेक प्रकारकी सहायता करता है यही अतिथिसंविभाग व्रत है। २००।

अतिथि संविभाग व्रतके अतिचार

(अनुष्टुप्)

ये सचित्तनिक्षेपाद्या अत्यया: पञ्चसंख्यकाः।
ते त्याज्या दुःखदा भव्यैः सुखी स्वात्मा भवेद्यतः॥ २०१॥

य इत्यादिः— सचित्तनिक्षेपः सचित्तापिधानं परव्यपदेशः मात्सर्यं कालातिक्रमश्चेति ये पञ्चातिचारा उक्ता अतिथिसंविभागव्रतस्य तेषामेवात्रवर्णनम्मभिप्रेतम्। तद्विस्तरः— (१) सचित्ते पत्रादौ अप्रासुकजलादिसंयुक्ते भाजने

अपक्वे मृद्भाजने वा आहारादिदेयद्रव्यस्य निक्षेपे सति तद् द्रव्यं न दानयोग्यम् । (२) तद्वत् सचित्तेन पत्रादिना अपक्वेन जलादिना संयुक्तेन भाजनेन पूर्वोक्तमृद्भाजनेन वा पिधाने न तद् द्रव्यं दानयोग्यं स्वीकृतम् । तथापि तद्द्रव्यस्य दाने स्यादुपयोगः तदा तौ स्यातामतिचारौ दानव्रतस्य । सचित्तद्रव्यं न स्वीक्रियते साधुजनैस्तथापि यदि तत्र प्रमादेन श्रवकैरेवं विधीयते तथा दातुर्विवेकाभावात् तौ तस्य स्यातामतिथिसंविभागस्यातिचारौ । अत्रापि सचित्तपदमुपलक्षणम् । सचित्तवत् अन्यानादेयपदार्थसंयुक्ते भाजने निक्षेपस्तथैव तेन भाजनेन पिधानञ्च स्यादतिचारः । दात्रा श्रावकेण खलु सविवेकेन भवितव्यम् । विवेकाभावेनैव स्यादतिचाराणां सम्भावना । (३) परव्यपदेशः यद्द्रव्यं स्वस्य नास्ति तदपि साधवे यदि ददाति तदा तत्परव्यपदेशनामातिचारः । अथवा स्वकीयमपि द्रव्यं न स्वयं ददाति परान् दानकरणे व्यपदेशयति स्वयं तु कार्यान्तराणि करोति तदापि स्यात्परव्यपदेशः । स्वस्यैव द्रव्यस्य दानस्याधिकारः न तु परस्वामिकस्य द्रव्यस्य तथापि प्रमादतः विवेकरहितभक्तितो वा तद्दाने स्यादतिचारः । (४) अन्यदातुः मात्सर्येण दानकरणमपि स्यादतिचारः । स्वेच्छया सहजौदार्यपरिणामेनैव दानं कर्त्तव्यम् । परासूयया परहीनताप्रदर्शनेन स्वोच्चताप्रकाशनाभिप्रायेण वा दानं न स्याच्छ्रेष्ठम् । तस्मात् यदि कश्चिदेवं करोति तर्हि स्यादतिचारः । (५) समागताय पात्राय समये दानं देयम् । तत्रापि कार्यान्तरवृत्तितया भाजनादिद्रव्य-निष्पत्तौ तन्निष्पत्तिकालपर्यन्तं वा समयं व्यतीत्य दानकरणं कालातिक्रमनामातिचारः स्यात् । परव्यपदेशकालातिक्र-मस्थाने केनचिद् ग्रंथान्तरे अनादरेण दानं दानस्य विस्मरणं तद्विधेर्विस्मरणं इति द्वावतिचारावुक्तौ । सर्वेऽप्येतेऽतिचाराः दानव्रतस्य सविवेकेन श्रावकेण खलु दानं देयम् । सप्तगुणसमाहितेषु श्रावकेषु न स्यादतिचाराणां संभावना । तथापि कदाचित्स्यात्प्रमादतस्तर्हि ते दुःखदाः भवन्ति ततो भव्यैस्सदा ते त्याज्याः ।२०१।

इस अतिथिसंविभाग व्रतमें पाँच प्रकारके अतिचारोंकी संभावना ग्रंथोंमें बताई गई है । उनकी ओर ही यहाँ आचार्यका संकेत है कि वे अतिचार अविवेकपूर्ण होनेसे व्रतके दूषक हैं, अतः उनका फल दुःख ही है । यह समझकर उक्त अतिचार या उन जैसे अन्य भी अतिचार भव्य पुरुषोंको नहीं लगाने चाहिए जिससे व्रत निर्मल हो और उसके परमोत्तम फलको प्राप्त कर वे सुखी बन सकें। अतिचारोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिन कार्योंके करनेसे मूलतः व्रत नष्ट न होते हुए भी अंशतः खण्डित होते हों अथवा जिनसे व्रतोंमें दोषोत्पादन हो ऐसे कार्य प्रमादसे हो जायँ तो वे अतिचार नाम पाते हैं । यहाँ अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार निम्न भांति कहे गए हैं—(१) सचित्तनिक्षेप, (२) सचित्तपिधान । अर्थात् सचित्त द्रव्य कमलपत्र या कच्ची मिट्टीके वर्तन आदिमें भोजनयोग्य द्रव्यको रखकर दान देना अथवा उससे ढक कर रखे हुए आहारादि द्रव्यको दानमें देना उक्त दोनों अतिचार हैं ।

साधुजन सचित्त द्रव्य ग्रहण नहीं करते । वे यह देखने नहीं आते कि आपने-अपने विवेकसे कार्य किया है या नहीं । वे आपके वचन पर भरोसा करके ही आहारको विशुद्ध मानकर आहारादि द्रव्यमेंसे लेते हैं । यदि गृहस्थ उसमें भूल करे तो उसे अतिचारादि दोष है, साधुके लिए नहीं । साधुको यदि प्रतीत हो जाय तो साधु भी उस दोषके परिमार्जनके लिए प्रायश्चित्त लेते हैं । अतः विवेकी श्रावकको इन दोषोंसे बचना चाहिए । सचित्त शब्द भी उपलक्षण है । ये दोनों अतिचार केवल सचित्त द्रव्यके निमित्तसे ही नहीं है । किन्तु सचित्त जैसे अन्य त्याज्य पदार्थोंके संपर्कसे सहित पदार्थोंका दान भी उक्त अतिचारोंमें सम्मिलित होगा ।

सचित्त शब्दकी व्याख्यामें इस समय कुछ विवाद खड़ा है । उसकी चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा, अतः विचार किया जाता है । वैसे तो सचित्तका अर्थ सजीव है । त्रसादि जीवसहित

पदार्थ भी सचित्त शब्द द्वारा कहे जा सकते हैं पर ऐसे सचित्तसे यहाँ तात्पर्य नहीं है। ऐसे सचित्तका त्याग तो श्रावकके पाक्षिक अवस्थामें ही हो चुका है। यहां सचित्तसे तात्पर्य एकेन्द्रिय पंच स्थावर जीव सहित पदार्थोंको सचित्त माननेसे है।

वृक्षमें वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीव है। यतः उसमें एक ही जीव है अतः उससे टूटे हुए पत्र या फलफूल आदि चाहे वे कच्चे हों या पक्के हों अचित्त ही हैं ऐसी मान्यता इस कालमें उत्पन्न हुई है और यह मान्यता कुछ विद्वानों द्वारा प्राचीन एवं शास्त्रोक्त मानी जाने लगी है। यहां यह विचारणीय है कि क्या यह मान्यता आगमानुकूल है या नहीं। हमारी (टीकाकार) की समझसे सचित्तका उक्तार्थ सही नहीं है। वनस्पति वृक्षादि यद्यपि जीव एकेन्द्रिय से अधिष्ठित होते हैं तथापि इसके प्रत्येक पत्र पुष्प फलादिमें पृथक् पृथक् एकेन्द्रिय जीव होते हैं। वे वृक्षमें ही लगते हैं, इससे उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, वे वृक्षके अंग हैं, जैसे हमारे हाथ पैर वगैरह ऐसी मान्यता सही नहीं है।

जब एकेन्द्रिय जीवके आंगोपांग नामकर्मका ही उदय नहीं है तब वृक्षके पत्रफलादिकोंको दानके मनुष्यके हाथ-पैरकी तरह एक जीवके शरीरके अंग मानना आगमविरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि जहां सचित्त निक्षेप नामक इस अतिचारका वर्णन है वहाँ उसकी व्याख्यामें पूज्यपादस्वामीने या राजवार्तिकमें भगवान् अकलंकदेवने "सचित्ते पद्मपत्रादौ" ऐसा अर्थ किया है अर्थात् सचित्त कमल पत्र आदिमें रखा हुआ आहार देना अथवा उससे ढका हुआ द्रव्य देना सचित्तनिक्षेप या सचित्तापिधान नामक अतिचार हैं, अतः इस व्याख्या के रहते हुए पद्मपत्र को सचित्त न मानना आगम विरुद्ध है।

यदि वृक्षमें संलग्न पत्रको ही सचित्त माना जायगा तो उक्त व्याख्याके अनुसार ये दोनों अतिचार संभव ही नहीं हैं। कारण यह कि यह सर्व विदित है कि कमल तालावमें उत्पन्न होता है, अतः सरोवरके जलके मध्यमें रहनेवाले संलग्न पत्र ही सचित्त पत्र होंगे और उस स्थानमें न तो श्रावक ही आहार देने खड़ा होगा और न कोई मुनि सरोवरके जलके मध्यमें खड़े होकर आहार ग्रहण करने जायंगे। उक्त सचित्त की व्याख्याके अनुसार तो सचित्त पद्मपत्रमें रखे या ढके हुए आहार संबन्धी अतिचार तब ही संभव होंगे जब श्रावक और मुनि सरोवरके जलमें घुसकर पद्मपत्रके पास जांय और वहां वृक्ष लग्न पत्रमें ही आहार रखा जाय या ऐसी ही हालतमें उससे ढका जाय। दोनों बातें संगत नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि अपने भोजन गृहमें लाए हुए कमल या केले आदिके पत्रमें यदि आहार रखा जाय तो उसे सचित्त निक्षेपाहार मानना उक्त दोनों महान् आचार्योंका इष्ट है, इसलिए ही उक्त व्याख्या उन्होंने की है।

उक्त मान्यताका संक्षेपमें विचारकर हम आगे बढ़ेंगे। इस मान्यताको लोक परम्पराका भी अनुमोदन प्राप्त नहीं है। जैन गृहस्थ न केवल दिगम्बर किन्तु श्वेतांबर परम्परामें भी अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षणी पर्व, अष्टाह्निका पर्व अथवा अन्य व्रतके दिनोंमें हरी वनस्पति शाक आदिका भोजनमें उपयोग नहीं करते। यदि वह अचित्त द्रव्य माना गया होता तो इस प्रकार की परम्परा न होती। हरी शाक फल आदिसे सचित्त न माननेवाले कुछ विद्वानों और साधुओं द्वारा आजकल गृहस्थोंको यह समझाया जाता है कि तुम्हारा शाकाहारका व्रतके दिनोंमें त्याग मिथ्यात्ववर्धक है, आगम विरुद्ध है। अतः व्रतमें भी शाकाहार किया करो, ऐसी विपरीत प्रवृत्तिको प्रोत्साहन दिया जाता है। किन्तु युक्ति, तर्क और प्रमाण के सिवाय परम्परा भी वस्तुके निर्णयमें प्रमाणभूत होती है। उस परम्परामें शाक आदि सचित्त ही माने गए हैं और इसीसे गृहस्थ व्रतके दिनोंमें उनका उपयोग नहीं करता।

कोई-कोई साधुने तो ऐसा भी हठ किया है कि जो गृहस्थ अष्टमी आदि पर्वमें हरित शाकाहारको सचित्त मानकर न खायगा उसके हाथसे आहार ग्रहण नहीं करेंगे। साधुकी इस अनुचित प्रतिज्ञासे

श्रावक धर्मसंकटमें पड़ गए हैं। वे यह सोचने लगे कि यद्यपि पर्वमें हरित खानेमें आगम विरुद्धता है तथापि न खानेसे साधुके आहार नहीं होते तो भी एक महान् दोष है। ऐसे धर्म संकटमें प्राण अटक जाने पर कुछ सज्जन साधुके आहार न देनेके पापसे भयभीत हो सचित्ताहार पर्वमें करने लगे और कुछने आगम विरुद्धाचरणके भयसे ऐसा नहीं किया। भले ही वे उस साधुको आहार नहीं दे सके। उन्होंने आहार दानका संवरण कर लिया पर आगम विरुद्ध मान्यताको स्थान नहीं दिया। विद्वज्जन और साधुगण उक्त विवेचन पर विचार करें और जो आर्षमार्गके अनुकूल हो उसे ही स्वीकार करें।

(३) यदि दाता स्वाधिकृत द्रव्यको दूसरेको सोंपकर आप कार्यान्तरके लिए चला जाय तो यह परव्यपदेश नामक दानका तृतीय अतिचार है। अथवा परकीय द्रव्यको दानमें देवे तो यह भी परव्यपदेश है। वर्तमानकालमें श्रावकजन फल आदि वस्तु या रुपया दूसरे श्रावकोंको दे देते हैं। इस अभिप्रायसे कि वे वह वस्तु या उस धनसे द्रव्य खरीद कर मुनियोंको आहार दानमें दे दें। यह पद्धति सदोष है। दाता यदि ऐसे द्रव्यका दान देता है तो वह परव्यपदेश है।

अनेक सज्जन दाता श्रावकको जो द्रव्य प्रदान करते हैं वे इस संकल्पसे देते हैं कि यह द्रव्य हम आपको मुनिदानके लिए देते हैं और गृहीता श्रावक ऐसे द्रव्यको ले लेता है। यदि उस वस्तुका जो फल या दूध आदिके रूपमें हो और यदि उस दिन साधु उक्त द्रव्योंको आहारमें ग्रहण न करे तब ऐसी दशामें उस वस्तुका उपयोग कौन करे? यह भी विचारणीय है। क्या दाता इस तरह संकल्पित द्रव्य-को अपने उपयोगमें लानेका अधिकारी है, कदापि नहीं। ऐसा करनेसे वह अनधिकार परद्रव्यका उपभोग करनेके कारण अपने व्रतमें दोष लगायगा क्योंकि इस पद्धतिमें उसका उपभोग व्रती श्रावकको भी हो जाता है, अतः न तो ऐसे संकल्पसे द्रव्य देना चाहिए और न लेना चाहिए।

गृहस्थ यदि देना ही चाहे तो श्रावकको ही संकल्प करके दे दे। गृहीता श्रावक उस द्रव्यका स्वामी बन जाने पर उस द्रव्यको दानमें भी दे सकता है और स्वयं भी उसका उपयोग कर सकता है। ऐसी स्थितिमें फिर किसी भी प्रकारके दोषकी संभावना इस सम्बन्धमें नहीं रहती। वस्तु देनेवाला श्रावक अपने मनमें भी यदि संकल्प रखेगा कि यह हम मुनिदान हेतु दूसरे श्रावकको दे रहे हैं तब यदि वह मुनिदानमें नहीं लग सकी तो उसे दुःख होगा। इसलिए इस सम्बन्धमें मनःसंकल्प भी उचित नहीं है।

(४) मात्सर्य—वह दोष है जो गृहस्थको स्वेच्छासे दान न देने पर भी दूसरेकी ईर्ष्यासे उसके दान देनेपर होता है। अनेक श्रावक अपने अन्य सहधर्मी भाइयोंको दान देते हुए देखकर उत्साहित होकर स्वयं दानमें प्रवृत्त होते हैं, उनको यह अतिचार या दोष नहीं है। जो श्रावक देना नहीं चाहते पर अपने प्रतिपक्षी दूसरे श्रावकको दान करते देख और उसकी कीर्ति बढ़ते देखकर उसे नीचा दिखानेके अभिप्राय-से उससे बढ़कर दान देनेको प्रस्तुत हो जाते हैं उनका यह भाव मात्सर्य नामा दोष है। इस प्रकारका दान यद्यपि दानकी पद्धतिसे दिया गया है तथापि मूल भावनामें ईर्ष्या होनेसे दान सदोष है।

(५) कालातिक्रम—समय पर दान न देकर असमयमें देना। आहार निमित्त साधुके आने व उसके प्रतिग्रहण कर लेनेपर आहारादिके तैयार होनेके लिए समय देनेके अभिप्रायसे अथवा स्वयंको अन्य कार्यकी आवश्यकता होनेके कारण साधुके पूजनादि कार्योंमें इतना समय लगा देना कि जिससे आहारका काल उल्लंघन हो जाय तो यह कालातिक्रम नामका पाँचवाँ अतिचार है।

अनादरसे दान देना, तथा दान देनेकी विधि, समय, योग्यता और विशुद्धि आदिको भूल जाना भी दानके अतिचार हैं। इनका भी उल्लेख परव्यपदेश और कालातिक्रमके स्थानपर किन्हीं आचार्योंने किया है। दानके वे भी अतिचार हैं।

विवेकी श्रावक दाताके सप्त गुणोंको धारण करके दान दे तो उक्त अतिचारादि दोष प्राप्त नहीं होते। ये दोष दाताके लिए दुःखदायक हैं, अतः दानके पूर्ण फलको प्राप्त कर जो सुखी बनना चाहते हैं उन्हें अतिचारादि दोष दूरकर व्रतोंको निर्दोष बनाना चाहिए। आहारदानकी प्रधानतासे कहे गए इन अतिचारोंकी औषधि, आवास और शास्त्र दानमें भी यथायोग्य रीतिसे संभावना कर उनसे बचना चाहिए।२०१।

उपसंहार

द्वादशव्रतचिह्नानि तदतीचारकाश्च ये।
ज्ञातास्ते वद मे शेषप्रतिमालक्षणं गुरो॥

हे गुरुदेव! श्रावकके १२ व्रतोंका स्वरूप तथा उनके अतिचार मैंने अच्छी तरह ज्ञात कर लिए हैं। अब श्रावककी शेष ९ प्रतिमाओंका क्या स्वरूप है, तथा उनकी परस्पर क्या विशेषता है, कृपाकर मुझे बतावें।

तृतीय सामायिकप्रतिमाका स्वरूप

(वसन्ततिलका)

त्यक्त्वा कषायनिचयं समतां विधाय
शुद्धात्मधर्मविषये सुखदे स्वभावे।
चिद्रूपचैत्यनिलये निवसेत्सदा यः
सामायिकप्रतिमया स विभूषितः स्यात्॥ २०२॥

त्यक्त्वेत्यादिः—श्रावकस्य अष्टौ मूलगुणाः द्वादशोत्तरगुणाश्च सन्ति। सर्वेषामप्येतेषां स्वरूपं निरूपितं प्राक्। यद्यपि व्रतप्रतिमायां द्वादश उत्तरगुणा सन्ति तथापि तृतीयादिप्रतिमासु कानि तानि व्रतानि सन्ति यतः प्रतिमाभेदः स्यात्? द्वितीयप्रतिमायामपि सामायिकशिक्षाव्रतमस्ति तदेव सामायिकं तृतीयप्रतिमायामस्ति न किंचिदन्तरमनयोः। कस्मात् तर्हि प्रतिमाभेदः क्रियते? इत्यत्रोत्तरयति—द्वितीयप्रतिमायां ये द्वादशोत्तरगुणाः कथिताः तेषु पञ्चाणुव्रतानि तु व्रतरूपाणि निरतिचाराणि सन्ति शेषाणि सप्त शीलरूपाणि सन्ति न व्रतरूपाणि, तेषां व्रतरूपत्वं तु तृतीयादिप्रतिमास्वेव। इदमेव तयोरन्तरम्। सामायिकस्य स्वरूपं सामायिकशिक्षाव्रतस्वरूपनिरूपणे प्रतिपादितम्। तदेव सामायिकं अभ्यासरूपेण प्रातः सायं वा उभयोरपि कालयोर्वा कालत्रयेषु प्रातःमध्याह्नसायन्तनेषु वा द्वितीयप्रतिमायां क्रियते। सामायिकस्य कालः जघन्यो घटिकाद्वयं मध्यमो घटिकाचतुष्टयं उत्तमस्तु घटिकाषट्कमस्ति। इत्यस्यायमपि अर्थः यत् एकवारमेव क्रियते तदा तत्स्यात् घटिकाद्वयपर्यन्तम्। प्रातः संध्यायाञ्च द्विवारं यदि सामायिकं क्रियते तदा तत्स्याद् घटिका-चतुष्टयपर्यन्तम्। सन्ध्यात्रयेऽपि यदि सामायिकं कुर्यात् तदा तत्स्याद् घटिकाषट्कपर्यन्तम्। अथवा प्रातः घटिकाद्वयं चतुष्टयं षट्कं वा तथैव मध्याह्ने संध्याकाले च क्रियमाणे जघन्यमध्यमोत्तमरूपं सामायिकं स्यात्। सामा-यिकप्रतिमायां न्यूनतः घटिकाद्वयपर्यन्तं उत्कृष्टतस्तु घटिकाषट्कपर्यन्तं सन्ध्यात्रयेऽपि करणीयम्। तत्रैव सामायिकं निरतिचारं व्रतरूपम्भवति। तस्मात् कषायविषयेभ्यः स्वात्मानं नियम्य इष्टानिष्टबुद्धिं परित्यज्य समभावमङ्गी-कृत्य योग्यकाले योग्यक्षेत्रे योग्यासने सविनयेन शुद्धेन मनसा कायेन वचसा च सुखदे स्वभावे शुद्धात्मधर्मविषये चिद्रूपचैत्यनिलये सदा यो निवसेत् स सामायिकप्रतिमया विभूषितः स्यात्। २०२।

श्रावकके १२ व्रतोंमें सामायिकशिक्षाव्रत है. यह व्रत द्वितीय प्रतिमामें श्रावक द्वारा धारण किया गया था तथापि वहां यह शीलरूप था। व्रतप्रतिमावाला सामायिक करनेकी आदत डालता है, अभ्यास करता है और उसके अतिचारोंको भी बचानेका प्रयत्न करता है तथापि यह कठिन व्रत है अतः अतिचार लग ही जाते हैं। इस प्रतिमामें यह व्रत सातिचार ही हो सकता है निरतिचार नहीं।

सामायिकका समय प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल है। तीनों कालोंमें कमसे कम २ घड़ी, मध्यम रीतिमें ४ घड़ी और उत्तम रूपमें ६ घड़ी सामायिक करना चाहिए। कोई कोई ऐसा कहते हैं जो सामायिकका काल मात्र २ घड़ी ही है। जो व्रत प्रतिमाधारी केवल प्रातःकाल ही सामायिक करते हैं वे २ घड़ी काल मात्र करनेके कारण जघन्य सामायिक करते हैं। जो प्रातः सायं दोनों कालोंमें करते हैं वे मध्यम ४ घड़ी सामायिकवाले हैं। इसी प्रकार तीनों संध्याओंमें दो दो घड़ी सामायिक करना ६ घड़ी समयवाली उत्तम सामायिक है। सामायिक प्रतिमावाला उत्तम सामायिक ही स्वीकार करता है, न कि मध्यम या जघन्य। व्रत प्रतिमावाला क्रमशः जघन्य मध्यम और उत्तम सामायिकका अभ्यास करता है। उभय व्याख्यानोंका निष्कर्ष इतना है कि सामायिक प्रतिमामें सामायिक शिक्षा व्रत पूर्णताको प्राप्त होता है। द्वितीय प्रतिमामें यह केवल अभ्यासात्मक है अतः अतिचारादि दोष उसे प्राप्त हो जाते हैं।

सामायिक प्रतिमावान् जो एकान्त हो, जन संपर्क रहित हो, जीवजन्तुकी बाधा रहित हो, अति शीत या अति उष्ण न हो ऐसे योग्य क्षेत्रमें योग्य कालका विचारकर खड्गासन या पद्मासनसे अथवा अर्धपद्मासनसे अत्यन्त विनय भावसे पंचपरमेष्ठीकी भक्तिको हृदयमें धारणकर उनके आदर्शपर पहुँचने की भावना रखता हुआ मानसिक वाचनिक तथा कायिक प्रवृत्तियोंकी चंचलताको रोककर उन्हें स्थिर कर स्वात्मध्यान करता है।

सुखमें दुःखमें, धनिकता और दरिद्रतामें, मृत्तिका और रत्नमें, शत्रु और मित्रमें, इष्टके संयोग में और उसके वियोगमें, महलमें और स्मशानमें, निन्दा करनेवालेमें और अपनी प्रशंसा करनेवालेमें, अपनेको मारनेवालेमें और अपने पर शस्त्र प्रहार करनेवालेमें प्रत्येक विरुद्ध स्थितिके रहते हुए भी जो अपनेको समान बुद्धिवाला बना सकता है वही सच्चा सामायिकी है। ऐसी समता बुद्धिका निवासी ही विषय कषायोंसे अपनेको बचाकर शुद्ध चिन्मय स्वात्ममन्दिरका प्रतिष्ठित देवता है। वही संवर और निर्जराको प्राप्तकर मोक्षका अधिकारी है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु ही इस खड्गधाराव्रत् कठोर व्रतका सच्चे स्वामी हैं। बिना सामायिकके मुक्ति प्राप्त नहीं होती। जितने भी व्रत हैं उन सबका एकमात्र उद्देश्य समता भावकी प्राप्ति ही है। यद्यपि साधु प्रतिसमय अपने परिणाम ऐसे ही समता रूप रखते हैं तथापि उस भावनाको उन्नत बनानेके लिए संध्यात्रयमें सामायिक करते हैं।

गृहस्थ भी देशव्रती है और महाव्रतका अभीलाषी है अतः उस महत्त्वशाली अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है। इस दृष्टिसे वह इस प्रतिमामें नियत काल तक उसे स्वीकार कर उतने समय महाव्रती की तरह विशुद्ध परिणामवाला बन जाता है। द्वितीय प्रतिमावाला इस व्रतका आरंभ करता है तथा तृतीय प्रतिमामें तथा उससे आगे आगे की प्रतिमाओंमें उस व्रतका पालन करते हुए वृद्धि होती है, और तब दिगम्बर मुनि अवस्थामें उसका पूर्णरूप प्राप्त करने की योग्यता आती है।

मन बड़ा चञ्चल है। अनादिसे बिगड़े हुए संस्कार इस पर हैं। उन संस्कारोंको दूर कर वायुवेगसे भी अत्यन्त चञ्चल और बिजली की चमकसे भी अधिक परिवर्तनशील उस मानसिक वृत्तिको सुसंस्कारोंसे संस्कारित करना बहुत कठिनतम कार्य है। यही एक मात्र कार्य है जिसकी सिद्धिके लिए

मुनिजन जीवनभर प्रयत्न करते हैं। अनेक प्राणियोंने तो अनेकानेक जन्मोंमें मुनिव्रत धारण कर इस पर आरोहण किया है तब कहीं जाकर सफलता पाई है। अनेक इतने प्रयत्नों पर भी सामायिक को प्राप्त करनेमें असफल रहे हैं। इस प्रकार इस एक मात्र लब्धभूत सामायिक की प्राप्तिके लिए बहुत सावधानीके साथ सामायिक प्रतिमावान् गृहस्थ नियत समय तक प्रतिज्ञा बद्ध होकर प्रयत्न करता है। गृहस्थके सप्त शीलोंमें सामायिक शील यहां पूर्ण होता है।

पूर्व या उत्तर मुख होकर खड़े होकर नमस्कार मन्त्रका नौवार स्मरण कर उस दिशामें होनेवाले केवली, श्रुतकेवली, आचार्य, उपाध्याय, साधुजन, जिनमन्दिर, जिनतीर्थ, चरणचिह्न और भगवान्के समवसरण आदि मंगलभूत वस्तुओंको बारंबार स्मरण कर प्रदक्षिणात्रयके प्रतीक तीन आवर्त पूर्वक उन सबको प्रणाम करे। ऐसा ही चारों दिशाओंमें करके पुनः पूर्व या उत्तर मुख हो जाय जैसा पूर्वमें था। इसके बाद त्रिलोकमें स्थित पंचपरमेष्ठीका तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोंका, तीर्थोंका, समवसरणादि समस्त धार्मिक स्थानोंका स्मरणकर उन्हें प्रणाम कर बैठ जाय अथवा खड़े रहकर सामायिक करे।

सर्व प्रथम अपने जीवनकालके या दैनिक जीवनके पापों और अपराधोंका विचार कर उनकी आलोचना करे। भगवान्से कृत कर्मोंके लिए क्षमा याचना करे। इसके बाद आगे कभी ऐसे पाप का अपराध मैं न करूं ऐसा विचार कर उनका त्याग करे। इस तरह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान विधिको करके विषय कषायोंकी चिन्तासे सब प्रकारसे मुक्त होकर समता भावका आसेवनकर स्वात्मावलंबियों व श्रेष्ठ पञ्च परमेष्ठियोंकी वन्दना करे व उनके गुणोंकी स्तुति करे। ऐसा करते करते व संसारकी दशाका विचार करते करते बारह भावनाओंका आलंबनकर शरीरसे भी ममत्व त्याग स्वात्मध्यानका अभ्यास करे। इसका नाम सामायिक है। पञ्चनमस्कार मंत्रका जप, सामायिक पाठ वाचन, अन्य कविकृत स्तुतियां व वन्दनाके पाठ ये सब उक्त कार्यके लिये आलंबनभूत हैं। इनका आश्रयकर अपने मूलोद्देश्यकी पूर्ति करे।

इस तरह सामायिक प्रतिमाका स्वरूप है। यह व्रती पूर्वोक्त पाँच अतिचारोंका बचाव तो करता ही है साथ ही सामायिकमें और भी अनेक दोष आ जाते हैं जिनको ३२ दोपोंमें नियुक्त कर उनके त्यागका उपदेश दिया गया है उनसे बचनेका भी प्रयत्न करना चाहिये। यही बात आचार्य आगे प्रतिपादन करते हैं।२०२।

(अनुष्टुप्)

द्वात्रिंशद्दोषाः कथिताः सामायिकविनाशकाः।
त्याज्याः स्वात्मा यतः स स्याच्छुद्धचिद्रूपनायकः ॥२०३॥

द्वात्रिंशदित्यादि :—सामायिकस्य विनाशकाः द्वात्रिंशद्दोषाः सन्ति। तथा सति न किंचिदुत्तमं फलम्भवति। अनादरात् गर्वात् कीर्तिसंपादनाभिलाषात् परपीडामवगणय्य कायमस्थिरीकृत्य वक्रमुखेन संकुचितशरीरेण ऊर्ध्वाधोभागसंचलनेन दुष्टपरिणामसहितेन आगमाम्नायविरुद्धेन सभयेन ग्लानिसहितेन स्वबुद्धिविद्याधनगौरवमनुभवता ज्ञानकुलोच्चत्वमनुभवता चौरवत् प्रच्छन्नरूपेण सामायिककालमुल्लंघ्य भयोत्पादककर्मणा सावद्यवचनोच्चारणपूर्वकं परनिन्दया भ्रूयुगं चालयता संकोचयता वा यत्र तत्रावलोकयता स्थानप्रतिलेखनमकृत्वा च अव्यस्थितमनसा यत्किंचिदपि विचारयता गुनगुनेति यत्किंचदपि उच्चारयता भेकवत् मध्ये मध्ये उच्चैर्वच उच्चारयता विस्मृतितया खण्डं पाठमुच्चारयता वा लौकिकवांछायुक्तचित्तेन यद्वा तद्वा सामायिकं न करणीयम्। तथाकरणे तस्य

किंचिदपि साफल्यं न भवति। निर्दोषसामायिकेन कर्मणां आस्रवो न भवति, संवरपुरस्सरं निर्जरा भवति संवर-निर्जराभ्यामेव मुक्तिर्भवति तस्मात् भवदुःखभीतेन सादरं यथासमयं विशुद्धपरिणामेन प्रमादरहितेनैव सामायिकं प्रीतिपूर्वकं कर्तव्यं यतः स आत्मा शुद्धचिद्रूपनायकः स्यात् ॥ २०२ ॥

सामायिकमें ३२ प्रकारके दोषोंकी संभावना शास्त्रोंमें बताई गई है। अनादरसे, गर्वयुक्त, दूसरोंसे कीर्ति मिले इसलिए, दूसरोंको पीड़ा उत्पन्न करते हुए, अपने शरीरको स्थिर न रखकर, अंग चलाचल करते हुए, तिरछे मुखसे अथवा संकुचित शरीरसे, ऊँचानीचा शरीर करते हुए, दुष्परिणामोंसे, आम्नायविरुद्ध, भयसहित, ग्लानिसहित, या अपने बड़प्पनका अनुभव करते हुए अपनी उच्चजाति कुलका गौरव समझते हुए और चोरकी तरह छिपते हुए, सामायिकके कालका उल्लंघन कर सामायिक करना उचित नहीं है। इसी तरह दुर्वचन, पापवचनोच्चारण पूर्वक, परनिन्दावचन उच्चारण पूर्वक, भौंह चढ़ाकर या संकुचितकर, स्थानकी शुद्धि न करते हुए भी चारों दिशाओंमें दृष्टि फेरता हुआ सामायिक न करे।

अव्यवस्थित चित्तसे अथवा जो समय पर मनमें आवे उसका विचार करता हुआ, चाहे जो कुछ बोलता हुआ, गूँगेकी तरह गुनगुनाता हुआ, मेढककी तरह बीचमें जोर जोरसे चिल्लाता हुआ, विस्मृतिके कारण अशुद्ध तथा खंडित पाठ पढ़ता हुआ और लौकिक लाभकी इच्छासे जो सामायिक करता है उसकी सामायिक सदोष होती है। उक्त ३२ दोषोंको तथा इसी प्रकार के अन्य दोषोंको जैसे सामायिकमें अँगड़ाई लेना, हाथ पैर पसारना, अंगुली चटकाना, नख तोड़ना, ताली बजाना, चुटकी बजाना, लवंगादि चबाना, शारीरिक शृंगार व वस्त्रोंकी सम्हाल पर बारबार ध्यान देना, असूयासे किसीका बुरा चिन्तवन करना, किसीको अनिष्ट कार्य करते देख चिन्तित होना, क्रोध करना और सामायिकके बाद अमुक कार्य करूँगा ऐसी चिन्ता करना इत्यादि अनेकानेक दोष सामायिकमें प्राप्त होते हैं उनसे बचना चाहिए।

सामायिक सब प्रकारसे अपनेको संकोचकर आत्मध्यानमें अपनेको लगानेका कठिनतर कार्य है। अनादि कालीन रागद्वेषके संस्कार बिना कारण भी प्रति समय सामने आते रहते हैं। व्यवहारमें यदि कोई यात्राकी तयारी कर रहा है तब उसमें व्यस्त होनेसे अन्य इन्द्रियोंके विषयोंको उक्त समय भूल जाता है इसी प्रकार जब नाटक देखता है तब कर्ण और नेत्रके विषयोंके सिवाय स्पर्शन रसन और घ्राणके विषयोंकी ओर चित्तवृत्ति नहीं जाती। पर सामायिकके समय चित्तके घोड़ेको दौड़नेके लिए खुला मैदान है अतः साधारण समयकी अपेक्षा वह न जाने कहाँ-कहाँकी दौड़ लगाता है। इसलिए अत्यन्त सावधानीके साथ अपने मन, वचन और कायको स्थिर करके अपना उपयोग ध्यानमें लगाना चाहिए। सामायिक संवर और निर्जराका कारण है। निर्जरा और संवर ही मुक्ति प्राप्तिके हेतु हैं, अतः संसारके दुःखसे जो भयभीत हैं उन्हें आदरसहित, निराकुलतासे, विशुद्ध परिणाम बढ़ाते हुए प्रमाद रहित होकर तथा अत्यन्त सावधानीसे सामायिक करना चाहिए।

सामायिक प्रतिमावान्‌के लिए सामायिकका कार्य मुख्य है। सामायिकके समय उसकी स्थिति महाव्रतीकी है। उतने काल तक आचार्योंने उसे उपचार से महाव्रती ही कहा है। शिक्षाव्रतके नाते ही यह मुनिव्रतकी शिक्षा देनेवाला व्रत है। इसलिए इसमें श्रावकको यह समझ कर बैठना है कि मैं इतने समयके लिए मुनि हूँ। मेरे पाचों पापोंका यद्यपि पूर्णतया त्याग नहीं है तो भी सामायिकके कालतक मैं सर्वदिशाओंमें आवागमनका तथा पाचों पापोंका सर्वथा त्याग करता हूँ। दुष्टविचारोंका, दुष्टवचनोंका तथा

काय संबंधी अन्य सम्पूर्ण कार्योंका मुझे त्याग है। मुनिके समान ही साम्यभावके धारक उस श्रावकके सामायिक कालमें यदि चोर चोरी करता हो, पुत्र मरणको प्राप्त हो जाय, स्त्रीवियोग हो जाय, गृह दाह हो जाय, कठिनतर उपसर्ग सामने आजाय, वज्रपात हो जाय और सर्पादि दुष्ट जन्तु शरीरपर आ जाय तो भी सामायिकसे विचलित नहीं होता।

विचलित न होने का यह अर्थ है कि वह चित्तमें विकल्प उत्पन्न नहीं करता। वह धन कुटुंब और विषयोंसे तथा शरीरसे भी उतने काल निर्मोही है। स्थिति तो यथार्थमें ऐसी ही होनी चाहिए। तब ही अनास्रवण अर्थात् संवर और निर्जरा होती है।

सामायिक एकान्तमें, जनकोलाहलशून्य और बाधा रहित स्थानमें करनी चाहिए। इस नियमका तात्पर्य ही यह है कि चित्तकी चञ्चलताके कारण पहले ही दूर करदे। फिर भी यदि उक्त करण आ पड़े तो चित्तको ग्लानियुक्त न करे। स्थान छोड़े नही, शरीर मोड़े नहीं। कठिनसे कठिन हानिको समता पूर्वक सहले।

इस समय एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनेक प्रतिभावान् सज्जन जो तीसरी प्रतिमाके धारी हैं अथवा उससे भी अधिक प्रतिमाओंका पालन करते हैं; ग्यारहवीं प्रतिमा धारण कर जिन्होंने क्षुल्लक व्रत भी धारण किए हैं अथवा ऐलक हैं, आर्यिकाएँ या क्षुल्लिकाएं हैं अथवा दिगम्बर मुनि हैं। इनमें जो रेल, मोटर, वायुमान आदि द्वारा यात्रा करते हैं वे सामायिक उन सवारियोंमें ही करते हैं या समय चले जाने पर किसीभी अन्य समयमें सामायिक करते हैं सो यह उचित है या नहीं।

उत्तर इसका सहज है। यह प्रश्न ही इस बातका सूचक है कि सामायिकके स्वरूपको देखते हुए यात्रामें (रेल मोटर आदिमें) सामायिक नहीं हो सकती और चूंकि ज्ञानवान् विद्वान् त्यागी वर्ग भी रेलमें सामायिक करता है तब उसके परिणाम स्थिर कैसे रह सकते हैं।

यथार्थमें सामायिक प्रतिमावालेको अपनी सामायिकको प्रमुख मानकर अन्य कालमें ही रेलयात्रा आदि करनी चाहिए। भले ही ऐसा करनेमें समय अधिक लगे, मार्गमें उतर जाना पड़े, कुछ पैदल यात्रा भी करनी पड़े। यदि इतना त्याग भी मनमें न आया हो तो सामायिक प्रतिमा या आगेकी प्रतिमाएँ स्वीकार नहीं करनी चाहिए।

जिस व्रतको पालन करनेकी सामर्थ्य न हो उसे अभिमानसे, लौकिक कीर्तिकी अभिलाषासे अथवा तात्कालिक उन्नत भावनासे धारण कर लिया हो तो उसका यथोचित निर्वाह करना ही अपने लिए श्रेयस्कर है। यदि पालन करना शक्य न हो तो जितने व्रतोंका निर्दोष पालन हो उतनी ही प्रतिमाएँ रखनी चाहिए। शेषकी भावना रखनी चाहिए।

ऐसा करनेसे प्रतिज्ञा भंग होगी, अतः ऐसा उपदेश देना कार्यकारी नहीं है ऐसी आशंका यहाँ हो सकती है। इसका समाधान यह है कि जो कोई व्रती व्रत पालना चाहता है और कोई उसे व्रत त्यागका उपदेश देते हैं तो उपदेशक अवश्य पापी हैं। ऐसा उपदेश 'पापोपदेश' होगा, तथा दूसरोंको व्रत भ्रष्ट करानेका महान् दोष उपदेष्टाको लगेगा। यहाँ यह स्थिति नहीं है। स्थिति यह है कि भावनावश या दुर्भावनावश किसीने प्रतिमा ग्रहण कर ली है और वह उसका निर्वाह नहीं कर रहा है तो उसके लिए प्रथम उपदेश तो यही है कि उसे हर प्रकारकी शक्ति लगाकर अपनेको व्रतके वास्तविक रूप पर ले आना चाहिए। इतनी प्रेरणाके बाद भी यदि कोई व्रत नहीं पालता है, केवल व्रतकी खोल ओढ़े है,

तब उसे यह उपदेश ही दिया जा सकता है कि इस झूठी खोलको ओढ़कर दूसरोंको धोखा न दे और अपनेको कूपमें न ढकेल। इससे जिनमार्गकी अप्रभावना भी होती है। इसलिए यदि कोई अपनी शक्ति और परिणाम विशुद्धिके अनुसार व्रतोंका (प्रतिमाओंका) पालन करेगा तो जितना पालन करेगा उतना लाभ मिलेगा। यद्यपि पूर्व व्रतका यह भंग होगा और व्रत भंगका दोष उसे आयगा, पर वह तो इससे पूर्व भी आता था; क्योंकि व्रत तो उससे पलता नहीं था, केवल उसका ढोंग (वेष) था। इस मिथ्या वेषसे वह भी धोखे में था और दूसरे भाइयोंको धोखा देता था। इस मायाचारीसे वह बच जायगा। अतः विशेष कहनेसे क्या? मिथ्या वेष रखकर ऊँचा बतानेकी अपेक्षा नीचा भेष रखकर शक्तिके अनुसार व्रत पालना उत्तम है। इससे व्यक्तिको तो दोष होगा पर उसे मार्गको दूषित करनेका जो महान् पाप है वह न होगा।

रेल, मोटर आदि सवारीमें बैठकर सामायिक करना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। मात्र समय पर उसकी यादगार है। यदि येन केन प्रकारेण भी सामायिक कर सकता नहीं तो पछताता है। न तो वहाँ एकान्त है, न योग्य क्षेत्र है और न स्थिरता है। जहाँ सामायिकमें शरीरका भी हलन चलन करना निषिद्ध है वहाँ सामयिकी मजेमें सवारीपर सवार हो सैकड़ों मील चला जा रहा है। स्त्री पुरुष बच्चोंका संघर्ष होता जाता है। सामानका परिग्रह साथ है उसे कोई ले न जाय यह चिन्ता है। टिकट कलेक्टर टिकट मांगने आ जाय तो धर्मसंकट है। स्टेशन पास आ रही हो तो जपने या पाठ पढ़नेकी अतिशीघ्रता है। ऐसा कोई दोष नहीं जो न लगता हो। दोष लगना तो दूरकी बात है वहां तो सामायिक व्रतका पालन ही नहीं है।

जो व्रत प्रतिमाधारी हैं जिन्हें सामायिक सातिचार है वे भी रेलपर सामायिक नहीं कर पाते हैं। उन्हें समय पर केवल स्तुति वन्दना आदि पाठके द्वारा सामायिकके कालको उत्तम रीतिसे व्यतीत करना चाहिये और यात्राकी समाप्तिके स्थानपर योग्यतानुसार सामायिक करना चाहिये। यद्यपि ऐसा करनेमें कालका उलंघन होगा और यह अतिचार होगा तथापि प्रसंगतः ऐसा अतिचार व्रत प्रतिमामें लग सकता है इसीलिए उसके ये व्रत निरतिचार नहीं हो सकते। इन अतिचारोंसे रहित सामायिककी प्राप्तिके लिए यह तीसरी प्रतिमा है। यहां भी यदि जानबूझकर यात्राको प्रमुख कार्य मानकर व्रतको गौण कर दोष लगाए जांय तब तीसरी प्रतिमाका वर्णन ही व्यर्थ हो जायगा।

सारांश यह है कि विवेकसे ही कार्य करना श्रेयस्कर है। अन्यथा हानिप्रद भी है। ऐसा नहीं है कि जितना सधे उतना अच्छा। यदि ऐसा ही है तो उच्च भेषकी घोषणा नहीं करनी चाहिए, जो बने सो ही पालन करे। कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमाका स्वरूप है। उसका यथोचित निर्वाह करनेवाला ही उसके वास्तविक लाभको प्राप्त कर सकता है।२०३।

प्रोषधोपवास नामक शीलव्रतकी पूर्णता चतुर्थ प्रोषधोपवास नामक प्रतिमामें होती है, अतः उसका स्वरूप कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

त्यक्त्वा कषायविषयान् गृहकर्मसक्तिं।
भुक्तिं प्रमादजननीञ्च चतुर्विधां यः।
कुर्वंश्च पर्वदिवसेषु सदोपवासं।
नूनं चतुर्थप्रतिमाव्रतपालकः सः।२०४।

त्यक्त्वेत्यादिः— सप्तशीलेषु शिक्षाव्रतेषु वा मुनिव्रतशिक्षाराधनार्थेषु प्रोषधोपवासव्रतस्य निरूपणं कृतम्। यत्प्राक् प्रोषधोपवासः व्रतप्रतिमायां शीलरूप आसीत् स एव चतुर्थप्रतिमायां व्रतरूपोऽस्ति। अत्रैव तस्य परिपूर्णता भवति। व्रतेऽस्मिन् पर्वदिवसेषु अष्टम्यां चतुर्दश्याञ्च कषायविषयान् क्रोधाहङ्कारकपटलोभादिकान् पञ्चेन्द्रियविषयान् गृहकर्मशक्तिं व्यापाराद्यारम्भासक्तिं प्रमादजननीं चतुर्विधां भुक्तिञ्च त्यक्त्वा यः सदोपवासमुत्तममध्यमजघन्यभेदगर्भं यथानियमं कुर्वन्नास्ते स नूनं चतुर्थप्रतिमाव्रतपालकः स्यात्। प्रोषधोपवासस्य त्रयो भेदाः प्राक् प्रतिपादिता एवातो नेह प्रतन्यते। उप-समीपे स्वात्मनि निवासः स्यादुपवासः। स्वात्मध्यानं स्वस्यैवालम्बनं स्वोद्धारस्यैव चिन्तनं स्वात्मभिन्नशरीरचिन्तापरित्यागः पञ्चेन्द्रियविषयचिन्तात्यागः कषायनिमित्तभूतार्थचिन्तापरित्यागः गृहोद्योगारम्भयोरपि चिन्तापरित्यागः कौटुम्बिकमोहविरागः समताभावश्च चतुर्थप्रतिमायां नियमेन स्यादिति तात्पर्यम्। २०४।

पहिले व्रत प्रतिमामें सामायिक शीलकी तरह शिक्षा व्रतोंमें प्रोषधोपवास भी एक शील रूपसे वर्णित किया है। उस व्रतका प्रारंभ यद्यपि व्रत प्रतिमामें ही हो गया है तथापि उस व्रतकी परिपूर्णता अर्थात् निरतिचार आवश्यक परिपालन इस प्रतिमामें होता है। वहाँ यह व्रत अभ्यासरूपमें था, अतः अतिचारों की संभावना थी, यहाँ चतुर्थ प्रतिमामें अब वह व्रतरूपताको प्राप्त हो जाता है अतः उसका निरतिचार प्रतिपालन इस प्रतिमामें आवश्यक है।

यह बताया जाचुका है कि श्रावकके उत्तर व्रत कुल १२ हैं। जिनका प्रारंभ द्वितीय प्रतिमामें हो जाता है। किन्तु उन व्रतोंकी पूर्णता वहाँ नहीं होती है। वहाँ केवल पञ्चाणुव्रत निरतिचार पालन होते हैं। शेष सात उत्तरगुण शीलव्रत हैं अर्थात् व्रती उन्हें अपने अभ्यासमें लेता है और तद्रूप अपने स्वभावको बनाता है। इस प्रयत्नमें अनभ्यासके कारण कभी अतिचारादि दोष लग जाते थे। अब उन सातोंकी पूर्णताके हेतु ही आगेकी सम्पूर्ण प्रतिमाएँ हैं।

श्रावकके व्रत एकदेश हैं। एकदेशका अर्थ है असंपूर्ण। अपूर्णतामें अनेक भेद होते हैं। पूर्णताका कोई भेद नहीं होता। एक रुपयामें एक आना रुपयेका अपूर्णरूप है और पन्द्रह आना भी अपूर्ण रूप है तथापि दोनों में कई गुना अन्तर है। इसी प्रकार देशव्रती होनेपर भी द्वितीय प्रतिमाके और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमाके श्रावकों में बहुत बड़ा अन्तर है। श्रावक जितनी अधिक प्रतिमा बढ़ाता जाता है उतना ही वह श्रावकव्रतोंको पूर्ण कर महाव्रतोंकी प्राप्तिकी ओर जारहा है।

सामायिक व्रतमें जिस प्रकार सामायिकका काल उसी व्रत की तरह व्यतीत करनेका उपदेश दिया था उसी प्रकार इस प्रतिमावाला श्रावक अपने पर्वके दिनोंका अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशीका सम्पूर्ण समय समधी होकर व्यतीत करता है। वह उस दिन कितना भी घोर उपसर्ग आवे क्रोध नहीं लाता। कितनी ही हानि हो किसीको धोखा नहीं देता। कितना भी लाभ का सुयोग हो लोभ नहीं करता। भोजन मात्रका परित्याग करनेसे अथवा रसरहित भोजन अंगीकार करनेसे रसनेन्द्रिय के विषयसे दूर रहता है। तेल, इत्र, पुष्प, केसर, धूप आदि घ्राण इंद्रियके विषयोंका उपयोग नहीं करता। विभिन्न प्रकारके दृश्य, नाटक, खेल तमाशे नहीं देखता। अनेक प्रकारके नाटक संगीत वाद्य नृत्यादि जो कर्णेन्द्रियके लिए मनोरम विषय हैं उनके सुननेका त्याग करता है। अपनी मानसिक वृत्तिको वशमें रखकर धर्मध्यानमें लगाता है।

स्वाध्याय, पूजन, धर्मोपदेश, धर्मश्रवण, धर्मध्यान इतना ही उसका कार्यक्रम उस दिनका है। उसके सम्मुख पुत्र हो या मित्र हो या शत्रु हो सब पर समव्यवहार करता है। किसीसे रागद्वेष नहीं करता। मोहका त्याग करता है और पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक आत्मस्वरूपके प्राप्त करनेकी चिंता रखता है।

इस व्रतमें केवल भोजनका त्याग प्रमुख नहीं है। विषय, कषाय, रागद्वेष, आरंभादि गृहकार्य और निद्रा आलस्यादि प्रमाद ये मुख्यतया वर्जनीय हैं। इनका प्रभाव अपने ऊपर न हो इसलिए आहारका त्याग करना पड़ता है। जो पूर्णतया आहार त्यागमें असमर्थ हैं, बिना आहारके परिणाम स्थिर न हो रहते, संक्लेश होता है वे एक बार आहार करके भी इस व्रतका पालन करते हैं। वह आहार रसरहित हो, जिह्वाका स्वाद न रहे और भूखके कष्टको दूरकर अपने उपयोगकी अस्थिरता मिटाकर धर्मध्यानमें सहायक हो सके यह प्रयत्न होना चाहिए।

भोजनके त्यागके क्रममें एक बार भोजन, अल्पभोजन, रसरहित भोजन या सम्पूर्ण भोजनका त्याग ही शास्त्रविहित है। इन्हें एकाशन, ऊनोदर, रसपरित्याग और अनशन ऐसा क्रमशः शास्त्रोक्त नाम प्राप्त हैं। वर्तमानमें इस त्यागमें भी कुछ मनोकल्पित पद्धतियां स्वीकार करली गयीं हैं यथा—पर्वके दिन अन्नका त्याग कर फलादिका, दुग्धादि रसोंका व मेवा आदि गरिष्ठ पदार्थोंका सेवन। कुछ व्रती अन्नादि आहार ग्रहण कर भी जलका त्याग कर देते हैं और दुग्धादिपान द्वारा जलकी कमी को पूरा करते हैं। टीकाकार की दृष्टिमें ये दोनों विधियां आगममें कहीं नहीं बतायी गयीं हैं।

अन्नाहारका त्याग करके अन्य आहार रखनेका क्रम सल्लेखनामें बताया गया है। जहां आहार मात्रके त्यागकी भावना है वहां आहारकी कमीकी पूर्तिके लिए अन्नके स्थानमें विभिन्न रसों व फलोंके ग्रहण की बात नहीं कही गई है। किन्तु नीरस आहारका विधान है। यदि पेय पदार्थोंका उपयोग भी है तो केवल दुग्ध या छाछ आदि या उसके बाद गरम जलमात्रकी विधि बताई गई है। अथवा रात्रि भोजन त्यागमें चतुर्विधाहारका त्याग न कर सकनेवालेको तीन प्रकारके आहारके या दो प्रकारके आहारके या एक प्रकारके ही अन्नाहार के त्याग की चर्चा है। उसका प्रयोजन इतना ही है कि अन्नाहारत्यागी रात्रिमें अन्य पदार्थोंका ही उपयोग कभी कभी करेगा। अन्नाहारी तो नित्य आहार करेगा। अन्न तो प्रधान भोजन है। यदि वह दिनमें नहीं किया गया तो वह रात्रिमें नियमित चलेगा जो ठीक नहीं। यदि दिनमें अन्नाहार द्वारा शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो गई है तो फिर रात्रिमें आहार ग्रहण न करे और धीरे धीरे संपूर्ण आहारके त्यागका अथवा दो तीन प्रकारके आहारके त्यागका प्रयत्न करेगा।

उक्त दोनों अवसरोंसे प्रतिमाधारीके पर्वके दिनका आहार त्याग दूसरे प्रकारका है। नहीं तो अनशन, अवमौदय और रस त्याग आदिका विधान ही क्यों है अतः ये नए प्रकारके त्याग त्यागके उद्देश्य को पूरा नहीं करते अतः ग्राह्य नहीं हैं। विधि विहित नहीं हैं। अपितु त्यागके मार्ग की अपेक्षा रसनेन्द्रियके विषयमें प्रवृत्तिकारक होनेसे अग्राह्य हैं।

प्रथम तो कल्पित प्रवृत्ति करना उचित नहीं है और यदि करना भी हो तो वह उस प्रतिमा या व्रतके उद्देश्यको पूरी करती हो तभी वह ग्राह्य हो सकती है, अन्यथा वह एक आत्मवञ्चना होगी।

इसी प्रकार जो लोग मात्र चतुर्विधाहारका त्याग कर देते हैं और क्रोधादि पर विजय प्राप्त नहीं करते, इन्द्रिय विषयोंसे विरक्ति नहीं करते, व्यापार या आरंभादिकी प्रवृत्ति बराबर बनाए रखते हैं वे भी व्रतके उद्देश्यको पूरा नहीं करते। व्रतीको हर प्रकारका प्रयत्न कर अपनी प्रवृत्तिको उस रूपमें लाना चाहिए जिससे कि उसकी वैराग्य भावनाको प्रोत्साहन मिले, परावलम्बन छूट जाय, स्वावलंबनकी वृद्धि हो। यही मुक्तिका मार्ग है, अन्यथा वह संसारका ही मार्ग होगा।

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है। निवृत्ति ही इसका उद्देश्य है। प्रवृत्तिका उपदेश यहाँ कदाचित् भी नहीं है। यदि कहीं है भी तो निवृत्ति मार्ग पर बढ़नेके लिए महान् प्रवृत्तियोंको रोककर अल्प-

प्रवृत्तिको प्रोत्साहन दिया गया है। अतः व्रतीको यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हमारी वृत्ति और हमारे कार्य उक्त उद्देश्य की पूर्तिकी ओर जा रहे हैं या नहीं। यदि जा रहे हों तब तो उसके व्रत निर्दोष पलते जांयगे और यदि नहीं तो वह क्रमशः अव्रती दशा को प्राप्त होगा। ऐसे व्यक्ति स्वाभिमानके वश होकर व्रतके बाह्यरूपको बनाए रखते हैं और अन्तरंगमें उससे रहित हो जाते हैं। यह मायाचार पूर्वक क्रिया अव्रतकी क्रिया है। इतना ही नहीं. मायाचारके कारण वह दुर्गतिका भी कारण है। अन्यधर्मात्माओं की ठगी का कारण होनेसे धर्मका मार्ग भ्रष्ट करनेके कारण वह नरकादि दुर्गतियोंका भी कारण है। अतः व्रतके उद्देश्यको पूर्ण करते हुए आगमोपदेशित पद्धतिके अनुसार प्रोषधोपवास करनेवाला चतुर्थ प्रतिमाका धारी है। २०४।

पञ्चमप्रतिमाचिह्नं किमस्ति मे गुरो वद।

हे गुरुदेव पञ्चम प्रतिमाका क्या स्वरूप है, कृपाकर कहें—

(वसन्ततिलका)

अग्न्यादिपाकरहितस्य फलादिकस्य
कार्यं न सेवनमितीह निजात्मविद्भिः॥
आत्मा स्वयं ह्यनुपमो विमलो यतः स्यात्
स्वस्थो मनोक्षविजयी कृतकृत्यभाक् सः॥ २०५॥

अग्नीत्यादिः—यत् सचित्तं पत्रादिकं फलादिकं वा अग्न्यादिपाकरहितं अप्रासुकमित्यर्थः तस्य निजात्मविद्भिः सेवनं कदापि न कार्यम्। अग्न्यादिसंस्काररहितानि जलानि फलानि पत्राणि पुष्पाणि मूलानि च सचित्तानि भवन्ति। तेषु स्थावरप्राणिनां सद्भावो विद्यते। यद्यपि श्रावकेण किल त्रसघातस्यैव त्यागः कृतः न स्थावरघातस्य तथापि दयापरस्य किलास्य वर्तते एवं परिणामः यत् सचित्तं द्रव्यं न भोक्तव्यं अचित्तेनैव स्वोदरपूरणकरणं श्रेयः। सचित्तेषु पुष्पाणां त्यागः मधुव्रत एव कृतः। कन्दानां मूलानाञ्च बहुस्थावरघातत्वात् अनन्तनिगोदाश्रयत्वाच्च अभक्ष्यत्याग एव त्यागः कृतस्तथापि उदाहरणरूपेण सचित्तेषु तेषामत्र चर्चा कृता। प्रत्येकानाम्फलानां तद्रूपाणां पत्रादीनाञ्च चतुर्थप्रतिमापर्यन्तं ग्रहणमासीत् ततस्तेषां पञ्चमप्रतिमायां त्यागो विधीयते। भोगोपभोगेष्वेवं विवेककरणेन तद्व्रतस्याभिवृद्धिर्भवति। इन्द्रियविषयविजयेन स्वात्मा विमलीभवति। निजात्मनः समीपतां याति व्रती। स्वाराधितव्रतसम्पत्त्यभिवृद्धितः स आत्मा अनुपमो विमलः स्वस्थो मनोऽक्षविजयी कृतकृत्यश्च भवति। २०५।

वृक्षसे पृथक् होने पर भी पत्र, फल, पुष्प, कन्द और मूल आदि सचित्त (एकेन्द्रिय जीव सहित) होते हैं। इनमें कन्द, मूल और पुष्पोंका त्याग पूर्वमें अभक्ष्य त्यागमें हो चुका है तथापि सचित्तके उदाहरण स्वरूप उनके नाम गिनाए हैं। चतुर्थ प्रतिमा तक प्रत्येक (जिस वनस्पतिमें एक शरीरका एक ही एकेन्द्रिय स्वामी है) वनस्पति रूप फलादि व पत्रादिका अथवा सचित्त (कच्चे) जलादिका ग्रहण चतुर्थ प्रतिमा तक यदा कदाचित् हो जाता था। यद्यपि पर्वादि दिनोंमें अथवा भोगोपभोगत्यागमें सचित्त द्रव्यके लक्षण का त्याग चतुर्थ प्रतिमा तक भी था। तथापि इस प्रतिमामें उस सचित्त द्रव्यका सर्वथा त्याग व्रती कर देता है। इसलिए इस प्रतिमाका नाम सचित्तत्यागप्रतिमा है।

ये सचित्तद्रव्य अग्निसे पकाने पर, नमक आदि क्षार द्रव्यसे संयुक्त होने पर अथवा चाकू आदिके द्वारा छोटे छोटे टुकड़े करने पर या सिल लोढ़ा आदिसे कुचल जानेपर अचित्त हो जाते हैं। इस प्रतिमा

वाला ऐसे अचित्त द्रव्योंका ही उपयोग करता है। सचित्तपदार्थोंका प्राणान्त होने पर भी भक्षण नहीं करता। इस व्रतके परिपालन करनेसे भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें अभिवृद्धि होती है, परिणामोंमें विशेष दया उत्पन्न होती है, मन और इन्द्रियोंके विषय पर विजय होती है, प्राणी स्वात्माके समीप आता है, पर पदार्थोंमें विरक्ति बढ़ती है और परिणाम निर्मल होते हैं। स्वयं आराधना किए गए अपने व्रत रूपी सम्पत्तिमें वृद्धि होनेसे वह अपनेको कृतकृत्य मानता है। इसलिए इस प्रतिमाको स्वीकार करता है। ऐसा पंचम प्रतिमाका स्वरूप है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि श्रावक एकदेश व्रती है, उसने त्रसघातका त्याग किया है। उसके स्थावर घातका व्रत नहीं। यद्यपि संकल्पसे स्थावरका भी घात नहीं करता तथापि गृहारम्भमें भोजनके आरम्भमें और रसोई बनाने आदिमें स्थावर हिंसाका त्याग संभव नहीं है अतः उसके स्थावरका घात होता है तब सचित्त द्रव्यका त्याग श्रावकके व्रतोंमें क्यों रखा गया है। उत्तर यह है कि यद्यपि प्रश्नमें दिखाई गई सभी बातें सही हैं तथापि यह प्रतिमा भोगोपभोगोंमें न्यूनता करनेके हेतु तथा अहिंसाणुव्रतको अहिंसा महाव्रतके रूपमें परिणत करने हेतु प्रयास रूप है। आगे-आगेकी सभी प्रतिमाओंका उद्देश्य अणुव्रतोंमें उत्तमता लाते-लाते उन्हें महाव्रत रूप परिणत करानेका है इसलिए सचित्त त्याग भूषणस्वरूप ही है।

कोई सज्जन ऐसा विवेचन करते हैं कि इस प्रतिमामें सचित्तको अचित्त करनेका कार्य भी नहीं करना चाहिए, केवल अचित्त द्रव्योंका उपयोग करना चाहिए। पर यह विवेचन प्रतिमाधारीकी उत्कृष्टता-का प्रतिपादक होनेपर भी साधारण नहीं है। आगममें गृहारम्भ त्याग आठवीं प्रतिमामें निरूपित किया गया है। उसका नाम ही आरम्भ त्याग प्रतिमा है। अतः इस प्रकारका त्याग वहाँ ही सम्भव है। यदि यहाँ ही यह त्याग होता तो आठवीं प्रतिमाका निरूपण नहीं होता। उसका उपदेश व्यर्थ हो जायगा। हाँ, बिना प्रयोजन यह हरी घास आदि पर पैर भी नहीं रखता। यदि कार्यवश रखना ही पड़े तो उसे बहुत दुःख होता है।

अतः यह निर्णय होता है कि प्रतिमारोहण त्यागका क्रम है। यद्यपि आरम्भका त्याग भी इष्ट है तथापि वह यहाँ नहीं है। यहाँ पहिले सचित्त भोजनका त्याग कराया गया है। पीछे आठवीं प्रतिमामें उसके आरम्भका भी त्याग कराया गया है। ऐसा विवेचन आगमानुसार सुसंगत होगा।२०५।

इस प्रकार पंचम प्रतिमाका स्वरूप हुआ। अब छठी प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

(वसन्ततिलका)

वाक्कायिकस्वकृतकारितसम्मतैश्च
यो रात्रिभोजनमथो दिनमैथुनञ्च।
सम्यग्विहाय सुखदे स्वपदे च यः स्यात्
त्यागोऽस्ति तस्य सुखदा निशिभोजनादेः ॥२०६॥

वागित्यादिः—दिवामैथुनत्यागः रात्रिभुक्तिश्चेति नामद्वय षष्ठप्रतिमायाः। वचसा कायेन च कृतकारितानुमतैश्च यः किल कामभोगान् दिवसे परित्यजति। रात्रावेव कदाचित् कामसेवनं करोति। दिवसे तु परिपूर्णं ब्रह्मचर्यं सेवते तत्स्यात् रात्रिभुक्तिव्रतम्। रात्रावेव कामभोगान् सेवयामः न दिवसे एवं व्रतं येषामस्ति ते रात्रिभुक्तिव्रतिनः। अथवा दिवासमये पूर्णरूपेण कामभोगान् परित्यजामः न काचिदपि मनसा वचसा कायेन वा

वाञ्छामः नान्यान् प्रेरयामः न तत्कारकाननुमोदयामः इत्येवं व्रतधारकाणामपि स्यादेतत् व्रतम्। एवं अस्य व्रतस्योभयं नाम एकार्थप्रतिपादकं न त्वत्र भिन्नार्थकत्वमित्येका व्याख्या। द्वितया तु व्याख्या यः दिवस एव भोजनङ्करोति कारयति च। रात्रिभोजनं न करोति न कारयति न चानुमोदते तस्य स्यात् षष्ठी प्रतिमा। स किल दिवससमये मैथुनमपि परित्यजति वचसा कायेनापि च न तत् कारयति न चानुमोदते इति। यद्यपि द्वाविंशत्यभक्ष्य-परित्यागसमय एव रात्रिभोजनस्य त्यागो जातः। तथापि कारितानुमोदनसंबंधिदोषाणां सम्भावना पञ्चमप्रति-मापर्यन्तं वर्तते पष्ठयां तस्या अपि परित्यागः। इत्येवंप्रकारेण वचसा कायेन कृतकारितानुमोदैश्च यः रात्रौ भोजनं दिवसे मैथुनञ्च परिहरति स षष्ठप्रतिमाधारी। स स्वजन्मार्धं ब्रह्मचर्येणोपवासेन च नयन् ज्ञानात्मके परमा-नन्दात्मके विलीनः प्रशस्यते।२०६।

इस प्रतिमाके प्रथम तो नाममें ही द्वैविध्य है। इसके दो नाम हैं। १–दिवामैथुनत्याग और २–रात्रि भुक्तिव्रत। अर्थात् जो दिनमें परिपूर्ण ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है। यह वचन कायादि व्यापारसे स्वयं मैथुन सेवन नहीं करता दूसरोंको ऐसा करनेकी प्रेरणा नहीं करता, करनेवालेकी प्रशंसा नहीं करता वही दिवामैथुनत्यागी है। वही रात्रिभुक्तिव्रती है। रात्रिभुक्तित्याग ऐसा इस प्रतिमाका नाम नहीं है। किन्तु रात्रिभुक्ति व्रत ऐसा नाम है। जिसका अर्थ है रात्रिमें ही भोगग्रहण, प्रकारान्तरसे दिनमें भोग त्याग ही है। दूसरी व्याख्या ऐसी भी की जाती है कि यह प्रतिमा रात्रिभोजनत्याग रूप व्रतके लिये है। यहां एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि क्या पंचम प्रतिमा तक रात्रि भोजन चालू था जो इस प्रतिमामें इसकी चर्चा आई। इसका उत्तर यह है कि अभी तक व्रती स्वयं चारों प्रकारका रात्रि भोजन नहीं करता था पर गृहाश्रममें छोटे छोटे बच्चे होते हैं उन्हें प्रसंगानुसार थालीमें भोजन करना पड़ता था। जैनेतर अतिथियोंको भोजन देना ही पड़ता था। अथवा ऐसा करनेवालोंकी प्रशंसा या अनुमोदना करनी पड़ती थी। इस प्रतिमासे इसका भी त्याग हो जाता है। दोनों व्याख्याएं इष्टाधायक हैं। २२ अभक्ष्यके त्यागमें रात्रि भोजन त्याग प्रथम प्रतिमामें ही हो गया तब छठी प्रतिमामें रात्रि भोजन त्यागकी बात कहना संगत नहीं है तथापि कारित और अनुमोदनासे रात्रि भोजनका त्याग इतः पूर्व संभव न था अतः यहाँ उसका बुद्धिपूर्वक त्याग किया गया है।

जो श्रावकोत्तम उक्त प्रकार उभय व्याख्याओंको स्वीकारकर षष्ठ प्रतिमाको पालता है वह व्रतियोंमें प्रशंसाके योग्य माना जाता है। इन बंधनोंसे मुक्त होनेवालेका ही स्वानन्दस्वरूप मुक्ति सुखमें निवास होता है।२०६।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका स्वरूप—

(वसन्ततिलका)

स्त्रीणां कथापि किल मानवमात्रकस्य
चेतोविकारजननीति विचार्य तास्तत्।
त्यक्त्वात्मसौख्यनिलये निवसेत् सदा यो।
ब्रह्मव्रती स निपुणो भुवि भाग्यशाली ॥ २०७ ॥

स्त्रीणामित्यादिः—तात्पर्यमेतत् येन व्रतिना भावितद्वादशभावनाभिर्जगत्स्वरूपं परिज्ञातं पञ्चेन्द्रिय-भोगानां भुजङ्गता च निर्णीता। संसारपरिभ्रमणात् भीतेन तेन तन्मूलकारणं स्त्रीपरिग्रहं निश्चित्य स्त्रीशब्द-श्रवणमात्रमपि व्यथाकारकमित्यनुभूयते। यस्याः स्मरणमात्रमपि सुखानुभूतिमुत्पादयति स्म सा अधुना स्मरण-

मात्रेणैव दुःखकारणभूता प्रतिभाति। तद्विषयविरक्तस्तु सः विचारकः विचारयत्येवं यत्–अस्मिन्नेव जन्मनि बाल्ये मया स्वातन्त्र्यसुखमनुभूतम्। विषयवाञ्छया सुखपरम्पराप्राप्त्यभिलाषेण स्वर्णकायवद्दैदीप्यमानज्वलज्ज्वलने पतितपतङ्गवत् स्त्रीसौन्दर्यमोहितमतिः दुःखपरम्परामाप्तवान्। स्त्रीपुरुषसंयोगादेव द्रव्यसंसारस्य पुत्रपौत्रादि-रूपस्य भावसंसारस्य रागद्वेषरूपस्य चोत्पत्तिर्भवति। पुत्रादीनामुत्पत्तौ इष्टसंयोगाभिमननाद् रागोत्पत्तिः। तेषा-मानुकूल्येन प्रवृत्तौ तु रागवृद्धिः। प्रतिकूल्येन प्रवृत्तौ च द्वेषः। इति रागद्वेषमूलौ किल इष्टसंयोगानिष्टसंयोगौ भावसंसारस्य कारणभूतौ। कामावेशात् मलमूत्रजं मलमूत्रोत्पादकं मलमूत्रस्थानभूतमपि शरीराङ्गं अवाञ्छनीयमपि वांछति। तत्रैव मुह्यते। जन्मपूर्वकं हि मरणं। जन्ममरणयोर्जन्म एवानिष्टम्; तस्यैव बाल्ययुवाप्रौढजरावस्था-कीर्णदुःखहेतुत्वाङ्गीकारात्। मरणन्तु नानिष्टम्। तत्तु एतज्जन्मसंबंधिदुःखमोचनहेतुः मुक्तेरपि हेतुरित्यभ्युपगमात् कामाङ्गभूतैरेवाङ्गैर्जन्मसम्भवात्। अतः निश्चीयते यत्संसारदुःखकारणभूतजन्महेतुकामविकारेणैव दुःखानां परम्परा प्राप्यते। एतद्विचार्य यः स्वशक्तिमवलम्ब्य जन्ममरणभवभीतः न कदाचिदपि अधीरतां भजति न मैथुन-मुपसेवते, स्वप्नेऽपि न स्त्रीं पुरुषं अभिवाञ्छति सः खलु ब्रह्मचारी। भोगापभोगयोः कामभोगस्य प्रधानता वर्तते। तत्त्यागिनः भोगोपभोगपरिमाणव्रतं भवति। पुत्रार्थमेव परिग्रहस्यातिसञ्चयो भवति। स्त्रीमात्र-त्यागात्तु न सन्तानस्य महती अभिवृद्धर्भवति, तदनभिवृद्धेर्न परिग्रहातिसञ्चयः सञ्जायते। परिग्रह एव पापस्य मूलं इति तदभावे पापस्यापि क्षीणता जायते। तस्मादादेयं ब्रह्मव्रतम्। सप्तमप्रतिमाधारकस्य संसाराद् भीरुता संवेगश्च भवति। संवेगवैराग्याभ्यां कर्मनिर्जरा स्यात्। साधुपदारोहणाय ब्रह्मव्रतं किल बीजभूतमस्ति। बीजेन विना यथा नान्नमुत्पद्यते तथैव ब्रह्मचर्यं विना न मुनिपदयोग्यव्रताङ्कुरा उत्पद्यन्ते। तस्मात् सत्प्रयत्नतः अष्टादश-सहस्रशीलसम्पादकं ब्रह्मव्रतमङ्गीकार्यम्। २०७।

सातवीं प्रतिमा ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा है। छठी प्रतिमामें ही श्रावकने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि स्त्री परिग्रह हेय है। तथापि सर्वथा त्यागमें असमर्थ होने से क्रमशः त्यागका मार्ग अंगीकार किया था। जिस ब्रह्मचर्यका साङ्गोपांग पालन वह छठी प्रतिमामें मात्र दिनको करता था, उसी ब्रह्मचर्यका अब रात्रि दिन स्वीकार करता है।

विषय भोग भुजंगके समान हैं। जैसे भुजंग डस लेता है उसी तरह विषय भी प्राणीको डस लेते हैं और उसके धर्मरूप प्राण नष्ट हो जाते हैं। जैसे स्वर्णके समान उज्ज्वलवर्ण अग्निमें आगत पदार्थ भस्म हो जाता है उसी तरह स्वर्णकाय स्त्री या पुरुष प्रतिमाको कामके वशीभूत हो कर यह प्राणी अपना कर संसारके महान् तापसे संतप्त होता है। संयोग दुःख मूलक है। यद्यपि संयोग को लोग इष्ट मानते हैं, और वियोगको अनिष्ट, तथापि यह तो सुनिश्चित है कि संयोग पूर्वक ही वियोग होता है। पुत्र वियोगका दुःख उसे होगा जिसके पुत्र हो। धन चोरी चले जानेका दुःख उसे होगा जिसे धनका संयोग हुआ हो। स्त्री पुरुषका संयोग ही सन्तान परम्पराका उत्पादक है जो द्रव्यरूप संसार है। तथा उनके संयोगके मूलहेतुभूत रागादि परिणाम हैं जो भावसंसारके उत्पादक हैं। पुत्र पौत्रादिकी अनुकूल प्रवृत्ति हो तो उनमें रागभाव बढ़ता है। यदि प्रतिकूल प्रवृत्ति हो तो द्वेष बढ़ता है। इस प्रकार इष्ट संयोग और अनिष्ट संयोग रागद्वेषके हेतु हैं और रागद्वेष ही हमें संसार परिभ्रमणके हेतुभूत हैं।

कामके वशीभूत जीव मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थोंसे उत्पन्न और उन्हीं अपवित्र पदार्थोंके उत्पादक, शरीरके अंगोंकी जो यथार्थमें उनके लिए वाञ्छनीय नहीं हैं, पीड़ा करता है। उनमें ही मोहित होता है। और उनके लिए अनेक प्रकारके दुःख उठानेको कटिबद्ध है। मरण जन्म पूर्वक होता है। जन्म

और मरण इनमें यदि विचार किया तो जिस जन्मका हम महोत्सव मनाते हैं वह उत्सव मनानेयोग्य नहीं है। जन्म ही तो मरणको आमंत्रण देता है। जिसका जन्म नहीं उसका मरण भी नहीं। जन्मके बाद ही बाल्यावस्था, युवावस्था, जरावस्था और रोगितावस्था आदि अनेक अवस्थाओंके दुःख प्राप्त होते हैं। अतः जन्म दुःख परम्पराका कारण होनेसे इष्टरूप नहीं है। मरण इसलिये अनिष्ट और शोकोत्पादक नहीं है कि वह जन्मके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त स्वरूप है। उसके द्वारा जन्मका नाश होजानेसे उस जन्म सम्बन्धी दुःखोंका भी नाश हो जाता है। मुक्ति प्राप्तिके लिए भी मरण ही हेतु है। जिस मरणसे केवल एक जन्म नष्ट होता है वह एक जीवन के दुःखोंसे छुटकारा करा देता है और जिस मरणके बाद जन्ममात्रका अभाव हो जाता है फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता वह श्रेष्ठ मरण परम महोत्सव है इसीलिए जैन परमम्परामें उस परम श्रेष्ठ मरणको (मोक्ष दिवस को) कल्याण-कारी मानकर उसे परम पवित्र दिन माना जाता है। इस दिन शोक न मानकर परम हर्ष मनाते हैं।

श्री भगवान् महावीर स्वामीका निर्वाणदिवस दीपावली महोत्सवके रूप में इसलिए प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि भवधारण रूप जन्म ही जो काम वासनाकी पूर्तिसे उत्पन्न होता है दुःख परंपराका मूल हेतु है। इस प्रकार अपने विवेकसे विचार करके जो धीर वीर प्राणी अपनी आत्मशक्तिका अवलम्बन कर कभी भी अधीरतामें कामोपसेवनमें तत्पर नहीं होता, स्वप्नमें भी स्त्री या पुरुष संयोगकी इच्छा नहीं करता वही ब्रह्मचारी है।

भोगोपभोगोंमें कामभोग प्रधान है। उसका त्याग करनेसे भोगोपभोग परिमाण व्रतमें उन्नति होती है। विषयभोगोंके लिए तथा पुत्र पुत्रादिके लिए लोग परिग्रह का सञ्चय करते हैं। कामभोगका त्याग करनेपर न संतानकी वृद्धि होती है और न वह व्यक्ति अधिक परिग्रहका ही संचय करता है। परिग्रह पाप मूल है। उसकी कमीसे पाप की हीनता स्वयं हो जाती है। इसलिए ब्रह्मव्रतका स्वीकार करना ही चाहिए।

सप्तम प्रतिमा धारण करनेवाले को संसार परिक्रमणसे भीरुता और वैराग्य हो जाता है। संवेग और वैराग्य ही कर्म निर्जराके हेतु हैं। मुनिव्रत स्वीकार करनेके लिए ब्रह्मचर्य व्रत मूलभूत है। बिना ब्रह्मचर्यके मुनि पदके योग्य व्रत रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता। अतः सर्व प्रकारके प्रयत्नसे १८००० शीलव्रतके सम्पादक ब्रह्मचर्य व्रतका स्वीकार करना श्रेष्ठ है। यही सप्तम प्रतिमाका व्रत है।

ब्रह्मचारी पुरुष अपना रहन सहन सादा रखे, भोजन सादा करे, गरिष्ठ आहार जैसे बादाम पिश्ता आदिका सेवन तथा रसायन आदि औषधियोंका सेवन न करे, मावा या उसके बने हुए विविध पक्वान्नादि उसके लिए त्याज्य हैं। वृष्येष्टरस त्याग ब्रह्मचर्यकी भावना में परिगणित है। अर्थात् जो अपनी सदा भावना ऐसी रखे कि मैं सादा सात्त्विक भोजन करूँ गा। पुष्टकर और कामोद्दीपक भोजन नहीं करूँ गा। जो ऐसी भावना रखेगा वही ब्रह्मचर्य प्रतिमाका पालन कर सकेगा। अथवा कामोत्तेजक पदार्थोंके सेवनसे शरीरमें कामका विकार जागृत होगा और ऐसी स्थितिमें साक्षात् व्रतका कठोरतासे पालन करते हुए भी स्वप्नादि दशामें व्रत भंग होजानेकी सम्भावना होती है। अतः ऐसे रसोंका सेवन ब्रह्मचर्य व्रतका घातक होनेसे व्रतीके लिए दोषास्पद है। भोगोंमें लम्पटताका सूचक होनेसे ऐसा भोजन ग्रहण करना भोगोपभोग व्रतका भी अतिचार है। योग्य द्रव्यका दान न देनेके कारण दाता को भी दूषण लगता है। अतः ऐसे पदार्थोंका सेवन व दान देना ही दूषित हैं। अतः सेवन न करें। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मचारी सादे श्वेत वस्त्र धारण करे। कहीं कहीं शास्त्रोंमें भगवा वस्त्रका भी वर्णन है पर भगवा वस्त्र

अन्य साधुओं द्वारा भी परिगृहीत है, अतः जैन ब्रह्मचारीकी पहिचान उनसे नहीं होती अतः जहां तक हो श्वेत वस्त्र ग्रहण करना उपयुक्त है तथापि यदि कोई भगवा वस्त्र ग्रहण करे तो वह शास्त्रविरुद्ध नहीं है।

विविध फैशनोंके वस्त्रादि पदार्थोंका त्यागकर लँगोट, धोती, सादा कुरता या विना सिला हुआ चादर आदि पास रखना चाहिये। सिर के केश या तो मुंडन कराना उचित है, या सादे बाल रखना उचित है। डाढ़ी, मूँछ रखनेकी आवश्यकता नहीं है। सुगंधित तेल इत्र तथा अन्य ऐसे सुगंधित पुष्पमाला आदि पदार्थोंका ग्रहण भी वर्जित है। पशु, स्त्री तथा पुरुष आदिके कंधों पर चलनेवाली सवारीका कदाचित् भी उपयोग न करे। सिनेमा, नाटक, खेल, तमाशे जिनमें ब्रह्मचर्य को दूषित करनेवाले चित्र हों या अभिनय हों न देखे। ऐसे चित्रपट भी अपने पास न रखे न अपने आवास स्थानमें लगावे। ऊनी, रेशमी वस्त्र तथा चमड़ेकी चीजोंका उपयोग तो व्रत प्रतिमामें ही त्याज्य है। रेशम यद्यपि स्वयं अशुद्ध नहीं है तथापि उसकी प्राप्तिमें रेशमके कीड़ोंका घात होता है अतः हिंसामूलक होनेसे अहिंसाणुव्रतीको ग्राह्य नहीं है। ऊन बालोंसे बनता है जो स्वयं देहका अपवित्र अंग है तथा अनेक त्रसोंकी उत्पत्तिके लिए योनिभूत है अतः ग्राह्य नहीं है। जिस मृत पशुको स्पर्श करने पर स्नान किए बिना शुद्धि नहीं उसके मृत चर्मको स्पर्श करनेपर भी वही दोष प्राप्त होता है अतः उसके जूता पहिनना या उन जूतोंको पहिनकर लाई गई भोजनादि सामग्रीका उपयोग करना वर्जित है।

नियमित परिसंख्यात वस्त्र और अन्य अल्प परिग्रहका ग्रहण ही ब्रह्मचारीके लिए श्रेयस्कर है। यह प्रतिमा वर्तमान युगके लिए अत्यन्त उपयोगी और जनकल्याणकारी है यदि प्रतिमार्थी इसका सदुपयोग करे। यह ब्रह्मचारी अहिंसक व्यापार कर सकता है और अपनी आजीविका स्वयं चला सकता है। शिक्षकीय कार्य, लेखन कार्य, (क्लर्क मुनीमी, पुस्तक लेखन, ग्रन्थ सम्पादन आदि) बैंकिंगका काम, अहिंसक मजदूरी तथा वाणिज्य आदि कार्य कर सकता है। यदि कुछ रुपया अपने पास हो तो अल्प व्याज पर (जिससे कर्जदारको आन्तरिक कष्टका अनुभव न हो) दिया जासकता है।

जुआ-सट्टा-लाटरी आदि कार्य प्रत्यक्षसे हिंसाकारक प्रतीत न होने पर भी अनेक अनर्थों व पापों के उत्पादक हैं अतः ये व्रतीमात्रको (द्वियीय प्रतिमा से ही) ग्राह्य नहीं है।

इस प्रतिमाका धारी यदि गृहत्यागी नहीं है तो उद्योगसे द्रव्योपार्जनकर अपनी अत्यल्प आयसे भी आजीविका चलाकर पराश्रित न हो, भिक्षाटन न करे, दानस्वरूप द्रव्य न लेवे। मात्र आहार ले सकता है यदि उसे प्रीति और पदके योग्य सम्मानपूर्वक कोई दे तो। जिसने गृहका त्याग कर दिया है वह गाँव-गाँव जाकर जनताको धर्मोपदेश सरलतासे दे सकता है। गृहत्यागके कारण यदि अपने कुटुम्बवर्गसे सहायता लेनी व देनी छोड़ दी है तब वह केवल धर्मसाधन करने और धर्म प्रचार करनेका कर्म करे। ऐसी अवस्थामें जो उसका साधारण स्वार्थ है उसे यदि गृहस्थ वहन करें तो उसे स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं है।

आरंभत्याग आठवीं प्रतिमामें हो जाता है। सातवीं प्रतिमावाला श्रावक व्यापारकी तरह रसोई बनाना आदि आरम्भका त्यागी नहीं है। उसे चाहिए कि अपने पास थोड़ी-सा २, ४ दिनके योग्य अन्नादि सामग्री रखे व भोजन बना सकने योग्य वर्तन रखे। किसी भी स्थान पर धर्मोपदेश देने जाय, तो उस ग्रामके बन्धुओंसे निमंत्रणकी न प्रेरणा करे और न अपेक्षा करे। कोई अत्यन्त धर्म प्रीतिसे आमंत्रण दे तो उसे स्वीकार कर ले। उसे विभिन्न प्रकारके भोजनोंको तयार करनेके लिए बाध्य न करे। जिह्वा इन्द्रियको वशमें रखकर उदर पूरणमात्रके लिए सदा अल्पमूल्यका आहार ग्रहण करे। यदि

कोई प्रीति पूर्वक आमंत्रण न करे तो स्वयं भोजन बनाकर करे और धर्मस्नेह पूर्वक अपना कल्याण समझकर धर्मोपदेश तथा धर्म प्रभावनाके कार्य करे।

ब्रह्मचारी यह अनुभव कभी न करे कि हम धर्मोपदेश देकर जनताका उपकार करते हैं अतः हमारे प्रति इनको कृतज्ञ होना चाहिए। बिना किसी लौकिक वांछाके दिया गया धर्मोपदेश कल्पवृक्षके समान उन्नतिके पद पर पहुँचा देता है। इसके विपरीत धनलाभ, वस्तुलाभ, भोजनलाभ, वस्त्रलाभ, कीर्तिलाभ आदि किसी प्रयोजनके निमित्त किया गया उपदेश उपदेश नहीं मात्र आजीविका है।

इस प्रकारके परमार्थसेवी ब्रह्मचारियोंकी सेवा ही समाज को उन्नत बनानेमें समर्थ हैं। पूर्वकालमें यह कार्य तपस्वी साधुओं द्वारा होता था। कालकी हीनतासे दि० जैन मुनियोंका प्रायः अभावसा हो गया। श्रावकों का स्वयं का खान पान शुद्ध न होनेसे साधुओंकी चर्या कठिन हो गयी। यदि कदाचित् साधुओंका कचित् विहार होता है तो चर्याहेतु शुद्ध आहार खास तौर पर बनाना पड़ता है जिससे उद्दिष्टाहार का दोष साधुओंको प्राप्त होता है। यह दोष श्रावकाश्रित है अतः श्रावकके निमित्तसे आज-कल मुनि धर्मको दोष प्राप्त होता है। अतः निरारंभी साधुके विहारमें कठिनता होनेसे अल्पारंभी ब्रह्मचारी श्रावक ही यदि यत्र तत्र भ्रमण करें और धर्म प्रभावना करें तथा स्वाध्याय द्वारा स्वयंको भी धर्मसे प्रभावित करें और अन्यको भी उपदेश दें तो धर्मकी बहुत बड़ी अभिवृद्धि तथा स्थिरता रह सकती है।

ब्रह्मचारीका पद उदासीनका पद है। उदासीनका अर्थ संसार व विषय भोगोंसे विरक्त होना है, धर्म और धर्मसेवासे उदासीन होनेका नहीं। उससे 'उदासीन' तो मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि तो धर्ममें, धर्मके हेतु जुटानेमें, उसके कार्यों में तथा धर्मात्माओंमें सदा सोत्साह रहता है। अतः प्रीतिपूर्वक करना चाहिये।

अपने व्रतको अक्षुण्ण रखनेके लिए कुछ और भी विचार आवश्यक हैं। १—स्त्रियोंके निवास-स्थल पर निवास न करें। २—उनसे प्रेमालाप न करें। ३—उनका वार-वार निरीक्षण न करें। ४—संगीतादिका श्रवण न करें। ५—धार्मिक उत्सवोंको छोड़कर बाजार व मेले-ठेलेमें न घूमे। ६—किसीके श्रृंगारादिका अवलोकन राग भावसे न करें। ७—स्वयं किसी प्रकारका श्रृंगारादि न करें। ८—स्त्री-पुरुषोंके द्वारा उपयोगमें लाए जानेवाले वस्त्र, आसन और शय्या आदिको स्वयं उपयोगमें न लावे। ९—भूल-कर भी कभी कामकथा न करें। १०—भोगे हुए भोगोंका न चिन्तवन करे और न कथन करे। ११—साबुन, और उबटन आदिका उपयोग न करे। १२—अत्यन्त कोमल शय्या तथा पलंग आदि पर शयनासन न करे। १३—नेत्रोंमें शौकसे अंजन लगाना आदि कार्य न करे। १४—अपने वस्त्र अपने आप धोवे। १५—अपने काम आप करे। अन्यसे न करावे। १६—किसी पुरुषके साथ एक शय्या पर न सोवे। १७—हास्यके वचन, श्रृंगारके वचन तथा व्यंग कथानक आदि न करे। इत्यादि अनेक प्रकारके कामके विकारको बढ़ाने वाले या विकारजन्य कार्य या चेष्टाएँ व्रतको भंग करनेवाली हैं अतः उनका सदा परिहार करे।

सामान्यतः ब्रह्मचारीके पाँच भेद हैं। १—ब्रह्मचर्य सहित विद्याभ्यासी उपनय ब्रह्मचारी। २—अदिक्षा ब्रह्मचारी जो ब्रह्मचारीका भेष धरे बिना ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है। ३—क्षुल्लक वेषमें ब्रह्मचर्य धर विद्या पढ़े वह अवलंब ब्रह्मचारी है। ४—मुनि वेष धर ब्रह्मचर्यसे रहे और विद्या पढ़े वह गूढ़ ब्रह्मचारी है। ये चारों ब्रह्मचारी बाल्यावस्थामें विद्याभ्यास मात्रके लिये व्रती हैं। विद्याभ्यास समाप्त होने पर ये सब विवाह कर लेते हैं पर पांचवाँ भेद नैष्ठिक ब्रह्मचारीका है। जो सप्तम प्रतिमा धारण करता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। इस प्रसंगमें इसीकी चर्चा है अन्य चार प्रकारके ब्रह्मचारियोंकी नहीं।

ब्रह्मचारीके आत्मसक्तिका विकास होता है और विकार दूर हो जाते हैं। परीषह चिन्तन करनेके लिये बल प्राप्त होता। उपसर्ग विजयी होता है। जो परीषह, उपसर्ग या अन्य कष्टोंसे डिग जाय वह लौकिक दशामें भी किसी भी कामको करनेके अयोग्य होता है। मोक्षमार्गमें चलनेवालेको तो कष्टसहिष्णु होना ही पड़ेगा। अतः सर्वशक्तिकी मूलभूत इस ब्रह्मचर्य व्रतप्रतिमाको, जो मुनिव्रतकी जड़ है, अंगीकार करनी चाहिये। २०७।

आरम्भत्यागचिह्नं मे विद्यते किं गुरो वद।

हे गुरुदेव कृपाकर आरम्भत्याग प्रतिमाका स्वरूप मुझे कहें—

(इन्द्रवज्रा)

वाणिज्यसेवासिमषीकृषिष्वा—
रम्भं व्यथादं प्रविहाय सर्वम्।
शुद्धस्वभावे रमते सदा य
आरम्भत्यागीति स एव शुद्धः ॥ २०८ ॥

वाणिज्येत्यादिः—पूर्वं तु दिग्व्रतदेशव्रतयोः व्यापारादिजनितलोभापकर्षात्तज्जनितस्यारम्भस्य न्यूनता यतः स्यादेवं विचार्य यमरूपेण तदन्तर्गतक्षेत्र एव नियमरूपेण दशस्वपि दिशासु गमनागमनयोर्नियमः कृतः। अधुना अस्यां प्रतिमायां वाणिज्यं व्यापारः सेवा शिल्पादिना अन्येन वा प्रकारेण जनसेवया जीविकानिष्पादनं असिरिति क्षात्रवृत्तिः मषिरिति लेखनादिकार्यं कृषिरन्नाद्युत्पादनं इत्येवंप्रकारेण षड्वृत्तिरूपव्यापारजनितारम्भादिकं हिंसामृषावादपरधनापहरणभोगादिमेलनार्थार्थसञ्चयरूपं अत एव व्यथाकारकं सर्वमप्यारम्भं कुट्टनं पेषणं चुल्ली-गृहस्वच्छता मृदादिना गृहलेपः अग्निज्वालनं तत्सन्धापनं वाटिकारोपणं जलादिसेचनं वायुसञ्चालनं भूमिखननं वनस्पतिच्छेदनं इत्यादिगृहभोजनादिसहायकरूपमप्यारम्भं सर्वं प्रविहाय परित्यज्य यः निजशुद्धस्वभावप्राप्त्यर्थमेव सदा चिन्तनशीलः स्वगृहीतपञ्चाणुव्रतेषु महाव्रतत्वापादनाय प्रयत्नशीलः विशुद्धपरिणामी साहसकः धर्मनिष्ठः अष्टमीं आरम्भत्यागप्रतिमामाराधयति स एव शुद्धः आरम्भत्यागीति निश्चीयते। अस्यामेव प्रतिमायां पञ्चाणु-व्रतविशुद्धिपूर्वकं दिग्व्रतदेशव्रतानां पूर्णता भवति। २०८।

आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमामें उस उद्देश्यकी पूर्ति की जाती है जिसे सामने रखकर दिग्व्रत और देशव्रत धारण किए गए थे। दशों दिशाओंमें आवागमनकी मर्यादा करनेका प्रयोजन यही था कि हम अपने लोभादि कषायोंका संवरण कर व्यापार और तज्जनित आरंभको नियमित क्षेत्रमें करके तद्बहिः क्षेत्रमें आरंभादिकका त्याग करें।

आरंभ और परिग्रहमें बहुत कुछ न्यूनता सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमामें आचुकी है; क्योंकि ब्रह्मचारीके लौकिक कुटुम्बसे भी मोह छूट जाता है, अतः उसके पास अब केवल स्वजीविका निर्वाहार्थ आरंभ व्यापारादि शेष रह गए थे। इस प्रतिमामें उस वीर ब्रह्मचारीने बहुत बड़े साहसकी बात विचारी है। इसलिए उसने सर्वथा व्यापार आदि आरम्भ कार्योंका त्याग किया है और दिग्व्रत देशव्रतकी पूर्णता की है। आरंभ त्याग आठवीं, नौवीं और दशमी इन तीन प्रतिमाओंमें पूर्ण होता है। आठवींमें स्वयं आरंभ नहीं करता, दूसरोंको भी प्रेरणा नहीं करता तथापि अभी परिग्रह शेष है अतः कारित और अनुमोदन संबंधी दोष प्राप्त हो जाते हैं। यदि उसे आजीवन भूखा रहने पड़े, भोजनके न प्राप्त होनेपर समाधि भी लेनी पड़े तो भी अष्टम प्रतिमावान् स्वयं आरम्भके द्वारा भोजनका प्रयत्न नहीं करता। यदि उसे प्रासुक जलमात्र

प्राप्त हो जाय तो केवल उसीसे निर्वाह कर लेगा अथवा कच्ची दाल पानीमें फुलाकर खायेगा या सूखे मेवादि मोल लेकर जल प्राप्तिकी अवस्थामें खाकर निर्वाह करेगा। ऐसा करना उसकी प्रतिमामें त्याज्य नहीं है। कदाचित् प्रासुक जलकी प्राप्ति न हो सके तब वह उक्त प्रकारके भोजन पानसे भी वञ्चित रहेगा पर स्वयं जल निकालने या प्रासुक करनेका आरंभ नहीं करेगा।

इस प्रतिमाकी आराधनामें उसे विशेष कष्टका अनुभव होगा तथापि वह साहसी पुरुष स्वपौरुषसे ही उस पर विजयी होगा। उसने अपनी पूर्व प्रतिमाओंमें भोगोपभोगोंको कृश करके, पर्वमें सर्वारम्भ और परिग्रहका, त्यागकर क्षुधा, तृषा तथा लोभादि पर विजय प्राप्त करके, नित्य समता भावका अभ्यास करके, ब्रह्मचर्यको स्वीकार कर तथा कुटुंबादि संबंधी मोह और उनके सहारेका त्याग करके अपने को इस योग्य बना लिया है कि वह शरीरमें भी इस प्रकार निस्पृह बना रहता है।

इस प्रतिमाका पालन सरल नहीं है। अपने पास धनके रहते हुए, सर्वसाधनोंके रहते हुए स्वयं पाकादि करनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी वह स्वयं कोई भोजनादिकी व्यवस्था नहीं करता है। भोजन न करके क्षुधादि पर विजय प्राप्त करना, चित्तको म्लान न करना, समता-परिणामोंकी वृद्धि करना व लौकिक कार्यों पर विजय प्राप्तिका महोत्सव मानना इस प्रतिमावाले महापुरुषकी विशेषता है।

अष्टम प्रतिमावाला या तो गृहत्याग कर देता है और यदि घरमें रहता भी है तो पर घरकी तरह। वह उसे अपना घर और अपने कुटुंबको अपना कुटुंब मानकर वहाँ नहीं रहता। हाँ कुटुंबके प्रति किंचिन्मोहके कारण वहाँ ठहरा है वह भी अपने स्वार्थकी पूर्ति हेतु नहीं, किन्तु अन्तरंगमें जो परिग्रह और कुटुंबजनोंके प्रति रागांश है उसके कारण रह रहा है।

अपने घरमें भी अपने लिए एकान्त स्थल चुनकर और वहाँ ही रहकर स्वाध्याय और सामायिकमें अपना समय व्यतीत करता है। अथवा उक्त उद्देश्यको सामने रखकर चैत्यालय या धर्मशाला आदि निरुपद्रव स्थानका ग्रहण करता है। प्रासुक जल प्राप्त होनेपर यद्वा तद्वा शुद्धि मात्रके लिये स्नान करता है। नित्य देववन्दना, स्तुति, सामायिक, जप और स्वाध्याय पूर्वक धर्मध्यानसे समय व्यतीत करता है। आरंभके अभावमें प्रासुक द्रव्य द्वारा द्रव्य पूजन और प्रासुक द्रव्यके अभावमें केवल भाव पूजन करता है। भोजनके समय यदि कोई बुलाने आवे अथवा प्रभात कालके समय आमंत्रित करे तो स्वीकार कर लेता है। पर स्वयं किसीसे भोजन हेतु प्रार्थना नहीं करता और न प्रेरणा करता है। इस प्रतिमासे भोजनादिकी व्यवस्था बहुत कुछ अंशोंमें श्रावकोंके आधीन हो जाती है। स्वाधीन व्यवस्थाका भंग हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसी पराधीनता स्वीकार करनेसे तो स्वाधीन रहना अच्छा है। यथार्थमें भोजन की आधीनता ही पराधीनता है। रागादिकी प्रबलताके कारण ही हम आरंभका त्याग नहीं कर पाते। पर को पर और स्व को स्व जानकर भी हम स्वेच्छासे मोहके कारण व अपनी कायरताके कारण पर पदार्थका आश्रय पकड़ते थे। अब मोह का बहुत अंशोंमें त्याग हुआ, जिसकी यह परीक्षा है कि वह स्वेच्छया अपने लिए आरंभ नहीं करता। स्वेच्छया आरंभ करनेवाले पुरुष अपनी रसनादि इन्द्रियोंके भी दास हैं। वे अपनी इच्छाओंको रोकनेमें समर्थ नहीं अत: मनमाने व्यञ्जनादि भी बनाकर कभी खा लेते हैं। इस प्रतिमावाला पर घर या स्वगृह पर जब कोई आमंत्रित कर ले जाय और जो कुछ आहार देदे उसे ही सन्तोषपूर्वक उदरपूर्त्यर्थ ग्रहण कर लेता है। चाहे वह नीरस हो, बेस्वाद हो, प्रकृतिके अनुकूल हो या न हो, उसके निमित्तसे चित्तमें कोई संकल्प विकल्प नहीं लाता। इस तरहसे शरीर तथा

भोगेच्छासे ममत्वका त्याग इस प्रतिमामें प्राप्त हो जाता है जो कि मुनिपदके लिए अत्यावश्यक है। सप्तम प्रतिमासे ही मुनिपद योग्य व्रतोंका प्रारंभिक अभ्यास प्रारंभ हो गया है जो क्रमशः वृद्धिके हेतु अष्टमी प्रतिमामें इस रूपमें आया है।

यह व्रती प्राप्त अर्थमें न्यूनता करने व कौटुम्बिक मोहके छोड़नेके अर्थ अपना गृहाश्रम का भार अपने पुत्रादिकोंको सौंप देता है। स्वयं व्यापार, खेती और शिल्प आदि क्षत्रियवृत्ति तथा अन्य लेखनादि कार्य द्वारा आजीविकाका त्याग कर देता है। अर्थलिप्साका यहां अभाव हुआ। साथ ही अन्नादिका कूटना, पीसना, पानी भरना, आग जलाना, हवा करना, वनस्पतिछेदना, भूमि खोदना, घर बनाना, उसकी स्वच्छता करना, रंग करना, सफेदी करना, झारना-बुहारना, वस्त्रादिकोंमें साबुन आदि लगाना, शरीर पर साबुन आदि द्रव्योंका प्रयोग करना, बाग बगीचा लगवाना, गर्मी लगने पर स्वयं पंखा चलाना बिजलीके पंखोंका प्रयोग करना और आदि आरंभोंका त्याग कर देता है।

यह अल्प सादे स्वच्छ वस्त्रोंका उपयोग करता है। प्रासुक जलसे अपने वस्त्र स्वयं निचोड़ लेता है। अपने भोजनके बर्तन यत्नाचार हेतु स्वयं स्वच्छ कर प्रासुक जलसे धो लेता है। यदि दूसरा व्यक्ति भी उसकी उक्त सेवाओंको करना चाहे तो निषेध नहीं। तथापि यह ध्यान रखना है कि असंयमी पुरुष मेरे लिए उक्त कार्य अप्रासुक जलादिमें व सोडा साबुन आदि अन्य द्रव्योंके उपयोगसे तो नहीं करते। यदि करते हों तो वह ऐसी सेवा उनसे न करायगा, स्वयं वस्त्र धोलेगा। वस्त्र मलीन हो जानेपर अन्य वस्त्र स्वीकार करेगा।

ग्रामान्तरमें जाने हेतु जहांतक संभव होगा निर्जीव सवारियोंका भी कम उपयोग करेगा। सवारी पर चलना आरंभ ही है। उसके उपयोगसे आरंभ जनित दोष लगता है। अतः इस प्रतिमासे ही सवारीके उपयोगका त्याग प्रारंभ हो जाता है। जहां घोर जंगल है, जन निवास नहीं है अथवा बड़ा भारी जलाशय लांघनेकी जरूरत आपड़े वहां पर निर्जीव सवारीका उपयोग यदि करना ही पड़े तो उसका प्रायश्चित उसे करना पड़ेगा।

यदि उक्त कठिन अवसरों पर निर्जीव सवारीका उपयोग करना पड़े तो जो सवारी खास अपने लिए ही किसीको न चलाना पड़े ऐसे रेल, वायुयान, मोटर सर्विस आदिसे ही गमनागमन करना अल्पदोषाधायक होगा ऐसी मेरी समझ है। सामान्यतः सदा ऐसी भी सवारीका उपयोग नहीं करना चाहिए। पूर्व तृतीय प्रतिमावालेको भी अपने सामायिककी क्रियाको साधनेके निमित्त उस कालमें सवारीके उपयोगका निषेध किया था, यहाँ आरंभत्यागके अभिप्रायसे सामायिकके बाहरके कालमें भी यथासम्भव सवारीके उपयोग न करनेकी बात कही गई है।

उक्त प्रकारसे अपना निर्वाह करता हुआ सर्वारम्भका त्यागी पुरुष शरीरसे भी निर्ममत्व परिणाम हो कर अष्टमी प्रतिमाका आराधन कर्त्ता है।२०८।

परिग्रहपरित्यागचिह्नं मे शान्तये वद।

गुरुदेव! परिग्रह त्याग नामक नवमी प्रतिमाका स्वरूप शान्ति प्राप्तिके हेतु मुझे बताइए—

(वसन्ततिलका)

अन्यत्र पात्रवसनादिकतः समस्तं
द्रव्यं विहाय भवदं विषमं व्यथादम्॥

शुद्धेऽचले निजपदे निवसेत् सदा यो
ज्ञेयः परिग्रहविवर्जितधीः कृती सः ॥ २०६ ॥

अन्यत्रेत्यादिः—परिग्रहत्यागप्रतिमायां पात्रवसनाभ्यां विना अन्यः सर्वः धनधान्यादिकः दशप्रकारको बहिरङ्गो मिथ्यात्वकषायवेदादिकश्च चतुर्दशप्रकारकोऽन्तरङ्गपरिग्रहः परित्यजनीयः यतः परिग्रह एव सदैव भवभ्रमणकारणम्भवति। मिथ्यात्वपरिग्रहेण योऽनादित एव संसारचक्रे बम्भ्रमीति। कषायादिनैव धनधान्यादि-सञ्चयं करोति। वेदादिनैव मैथुनसंज्ञामवाप्य नानानर्थानुत्पादयति अतो यो नानादुःखप्रदं पारस्परिकविषमताहेतुभूतं परिग्रहं विहाय निष्परिग्रहत्वमालम्बते सः परिग्रहत्यागव्रती कथ्यते। एषोऽपि स्त्रीपुत्रादिममत्वमुत्सृज्य निर्ममतामापन्नः गृहे तिष्ठन्नपि वैराग्यमालम्बते। कौपीनं अधोवस्त्रं उत्तरीयं शिरश्छादनं अन्यदपि अल्पपरिमाणेन वस्त्रं तथा भोजनाद्यर्थं शौचार्थञ्च द्वित्रिपात्रमात्रञ्च स्वीकरोति। अन्यत् सर्वं धनंधान्यं सुवर्णरूप्यं नानाभरणं शृंगारादिकञ्च परिहरति। अष्टमीप्रतिमायान्तु आरंभत्यागे कृतेऽपि धनादीनामपरित्यागः। अत्र तु तत्यागः क्रियते। अयमपि प्रासुकजलेन शुद्धिमात्रं विधाय केवलभावपूजां करोति। न द्रव्यपूजात्र विहिता, द्रव्यस्य परित्यागात्। केनाप्यार्थितः सदाशयेनामंत्रितश्च भुञ्जीत। स्वगृहभारं पूर्णतया पुत्रादिषु निक्षिप्य स्वयं तद्भारं भारवत्समुत्सृज्य निर्भारभरः परावलम्बनेन मुक्तः स्वेऽचले शुद्धे स्वभावे वसति स एव बुद्धिमान् नवमप्रतिमापालने समर्थः।२०६।

आरम्भ त्याग प्रतिमवान जब अपने द्वारा परिग्रहीत परिग्रहको मुर्देके शृंगारकी तरह व्यर्थ समझता है तब उसके भी त्यागकी ओर प्रवृत्त होता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि मैं ब्रह्मचारी हूँ, स्त्री पुत्रादि कुटुम्बी अपने-अपने आत्माके व अपने-अपने पुण्य पापके स्वयं स्वामी हैं। मुझे पहिनने के दो चार वस्त्र और शौचादि निमित्त अथवा भोजनादि निमित्त १-२ वर्तनोंके सिवाय अन्य परिग्रह का कोई उपयोग अपने लिये नहीं ज्ञात होता। तब इस भारको कब तक सिर पर रखे रहूँ। वह ऐसा विचार करता है। वह यह भी देखता है कि पुत्रादि जन उस परिग्रहके आकांक्षी हैं। उन्हें उसकी आवश्यकता है। मुझे वह भाररूप है। उपयोगमें आता नहीं, रक्षाकी चिन्ता और साथमें लगा है। तब वह अपने पुत्रादिको अन्य कुटुम्बवर्ग या अन्य साधर्मीजन पुरजन या परिजनके समक्ष बुलाकर विधिवत् उन्हें गृह भार सौंप देता है और स्वयं अपनेको उस परिग्रहसे मुक्त कर लेता है।

व्यापारके लेन देनमें, गृह कार्योंमें, पुत्रादिके विवाह आदिमें, संबंधियोंके व्यवहार आदिमें, तथा अन्य सामाजिक व सांसारिक कार्योंमें वह भाग नहीं लेता। न उनके अधिकारियोंको उसके लिए कोई प्रेरणा करता है। यदि कोई उत्तराधिकारी इस प्रतिमाधारीसे सम्मति मांगे और अपना अभिप्राय और उद्देश्य प्रकट करे तो उसकी उचितता और अनुचितताको प्रतिपादन करनेवाली अनुमति देता है। इतना मोह उसे शेष है। प्रेरणा फिर भी नहीं करता। अपनी सम्मत्यानुसार यदि पुत्रादि कार्य न करें तो अपने चित्त में दुःखी नहीं होता। उन्हें आर्थिक हानि लाभ होने पर शोक या हर्ष नहीं मानता।

मोहके परित्यागके लिये यह अत्यावश्यक है। बिना मोह त्यागके यदि कोई उक्त पदका अवलंबन करे या आगेकी प्रतिमाओं पर अथवा मुनिपद पर आरोहण करे तो नियमसे उसे मार्गभ्रष्ट होना पड़ेगा। त्यागका यह क्रम उसे उस पवित्र स्थितिमें पहुँचा देता है, जिसकी आकांक्षासे वह इस मार्ग पर आया था।

वह खेत, जमीन, मकान, बाग, कुआँ, बावड़ी, सोना, चाँदी, मोती, माणिक, रुपया पैसा, नोट, चेक, हुंडी, कंपनियोंके शेयर, वस्त्र, अन्य अनेक प्रकारसे व्यापारिक वस्तुएँ, शस्त्रास्त्र, गाड़ी, मोटर, साइकिल, तांगा, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, पक्षी, नौकर चाकर सेविकाएँ,

अनेक धातुओंके वर्तन, आभूषण, तथा काष्ठके धातुके अथवा अन्य पदार्थोंके बने हुये सामानको परिग्रह मान कर परित्याग करता है।

वह इन बाह्य परिग्रहोंकी तरह इनके मूल कारणभूत मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और नव नोकषाय ऐसे १४ प्रकारके अन्तरंग परिग्रहोंको भी जो अनादिकालसे ही जीवके स्वभ्रमणके लिए तथा नाना प्रकारके पर पदार्थोंके सञ्चयके लिए अथवा कामादि विकारके उत्पादक होनेसे तन्निमित्त स्त्री आदिके ग्रहणरूप कायरताके लिए हेतु भूत हैं, त्याग देता है। इन आन्तरिक परिग्रहोंके त्याग किए बिना बाह्य परिग्रहका त्याग संभव नहीं है। इनकी विद्यमानतासे बाह्य परिग्रहका सञ्चय स्वयं हो जाता है। इस लिए अन्तरंग परिग्रहका त्यागका क्रम ही प्रतिमा धारण है। प्रथम मिथ्यात्वका वमन कर सम्यग्दर्शनको स्वीकार किया था। तदनन्तर अभक्ष्य अन्याय रूप पदार्थों और कार्योंमे राग घटाया था। तदनन्तर क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करनेके लिए अणुव्रत दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत आदिका तथा सामायिक आदि साम्यभाव पूर्वक व्रतोंका आश्रय किया था। वेदकी वेदनाको दूर करने हेतु ब्रह्मचर्य धारण किया था; परिग्रहकी प्रीति घटाने और अपनी कायरता दूर करनेके लिए आरंभ त्याग किया था। अब वह समय आ गया है जिसने आन्तरिक कषाय भावोंकी न्यूनता होनेसे परिग्रहीत परिग्रहके त्यागके लिए साहस उत्पन्न कर दिया।

नवम प्रतिमावाला अत्यन्त वैराग्यभावनासंपन्न होता है। परिग्रहको भारवत् समझता है। वह अपनेको उस भारसे मुक्त होनेके लिए आकुलित है। अपने शरीराच्छादन मात्रके हेतु सामान्यतः लंगोटी, धोती, ओढ़नेके एक दो वस्त्र और चटाई आदि पदार्थ ही अपने पास रखता है। शौचके लिए एक तथा भोजनादिके लिए १-२ वर्तन लोटा थाली गिलास आदि रखकर अन्य सबका त्याग कर देता है। अत्यल्पपरिग्रही होनेसे इसका नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है।

यह निष्परिग्रही प्रासुक जलसे शुद्धिमात्रके लिए यद्वा तद्वा स्नान करता है। नित्य देव वन्दना, स्तुति, सामायिक, जप और स्वाध्याय द्वारा ही अपने जीवनके क्षणोंका सदुपयोग करता है। द्रव्यका त्याग होने के कारण द्रव्यपूजा नहीं करके मात्र भाव पूजा करता है। जो परिग्रहमें आसक्त व रागी है उसे देव पूजनादि कार्योंमें द्रव्यका उपयोग कर शुभरागकी ओर प्रवृत्ति करनेका उपदेश था। अब जब बाह्य द्रव्योंमें ही राग घट गया तब शुभराग करनेका भी उपदेश नहीं रहा। अब जीवनमें वीतराग धर्मकी ही प्रधानता रहती है।

उक्त प्रकारका वीतरागी आमंत्रित होने पर स्वयंके या किसी दूसरे साधर्मीके यहां शुद्ध प्रासुक भोजन ग्रहण करता है। तथा आगामी प्रतिमारोहणकी प्राप्तिकी अभिलाषा करता हुआ अपने गृहीत व्रतोंका परिपालन करता है। वह नवम प्रतिमाकाधारी है ॥ २०९ ॥

वदानुमतित्यागस्य किं चिह्नं वर्तते गुरो।

गुरुदेव! अनुमतित्याग नामक दशमी प्रतिमाका क्या स्वरूप है, कहिए—

(वसन्ततिलका)

संसारभोगविषये विषमे व्यथादे
लग्नादिकार्यकरणेऽनुमतिर्न यस्य।
वन्द्यः सतामनुमतेर्विरतः स धीरः
वासं तनोतु सततं निजमन्दिरे सः ॥२१०॥

संसारेत्यादि :—दशमप्रतिमाराधकः परिग्रहविषये आरंभविषये विवाहादिके वा कदाचिदपि स्वानुमतिं न ददाति । मनोवचःकायैः कृतकारितानुमोदनैरपि सर्वारम्भपरिग्रहत्यागः सञ्जायतेऽत्र । केवलमल्पवस्त्रमात्र-परिग्रहोऽस्य । नवमप्रतिमावत् शुद्धिमात्रस्नानं विधाय देववन्दनास्वाध्यायाध्ययनेषु समयं यापयति । जिनचैत्यालय-प्रदेशे स्वाध्यायरतं तं भोजनसमये यः कश्चित् श्रावकः समागत्य भोजनाय प्रार्थयति तस्यैव गृहे आहारग्रहणं करोति स्वगृहे परगृहे वा । न स्वपरगृहयोरस्य कश्चिद्भेदः । न च कस्यापि पक्षमोहः । सर्वत्र समतापूर्णभावेनैव व्यवहारोऽस्य । स्वस्य पुत्रपौत्रादिकेभ्यः कस्मिंश्चिद् विषये याचितसम्मतिं कदाचिदपि न ददाति । तत्र हानिः स्यात् लाभो वा, उभयत्र समभावस्तस्य । स्थानग्रहणे, शयने, आसने, वस्तुग्रहणे निक्षेपे च मृदुवस्त्रादिना प्रति-लेखनङ्करोति । गृहमोहत्यागात् स्वगोत्रजजन्ममरणसंबन्ध्यशौचं न तस्य भवति । न च भोजनात्प्राग्भोजनस्यामन्त्रणं स्वीकारोति । तत्स्वीकरणे तस्यैव भोजनाद्यारंभाय अनुमतिदानस्य स्याद्दोष । तस्मात् भिक्षावृत्तेरस्वीकारेऽपि भिक्षुवदेव तस्य वृत्तिः । अनाहूते केनचित्स्यादुपवासः । इत्येवं कठिनव्रताराधनात् तस्य वैराग्यपरिणामाभिवृद्धेः मुनिपदाधिष्ठानाय योग्यता संपद्यते ॥२१०॥

दशमी प्रतिमाका धारी श्रावक परिग्रहके सञ्चयादिमें, गृहारम्भके कार्योंमें व विवाहादि कार्योंमें अपने कुटुम्बी जनोंके द्वारा प्रार्थना किए जाने पर भी अपनी सम्मति नहीं देता। यही विशेष त्याग इस प्रतिमामें होता है। मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे इसे आरम्भ परिग्रहका त्याग है। मात्र दो तीन वस्त्रोंके व भोजन और शौच हेतु एक दो वर्तनोंके तथा शयनासनके हेतु चटाई आदिके अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह इसके पास नहीं है। इस प्रतिमामें नवम प्रतिमाके परिग्रहकी अपेक्षा और भी न्यूनता आ जाती है।

यह गृह कुटुम्ब तथा धनादिसे विरक्त हो व भोजनार्थ भी आरम्भका त्यागी हो देव वन्दना, स्वाध्याय, सामायिक और जप आदि कार्योंमें अपना समय लगाता है। किसी के द्वारा यदि भोजनके लिये आमंत्रण दिया जाय तो उसे अपने लिये भोजन सम्बन्धी आरम्भकी अनुमतिका दोष मान कर स्वीकार नहीं करता।

पर भोजनके समय यदि कोई सज्जन चाहे, उसके अपने पूर्व गृहके हों या किसी अन्य घरके हों, बुलानेके लिये आकर भोजनकी प्रार्थना करें तो बिना किसी स्वपर भेदके समता बुद्धिपूर्वक उसी घरमें भोजनके हेतु चला जाता है। स्वगृहका कोई पक्ष मोह उन्हें नहीं है। सब ही लोगोंके साथ उसका समान व्यवहार है। न किसीसे राग विशेष है और न किसीसे बैर। शरीरसे भी मोह नहीं है तब अन्य वस्तुसे मोह होनेकी बात दूर ही है।

यह अपने पास नरम वस्त्र आदिकी एक प्रतिलेखनी रखता है। मयूर पिच्छ तो ग्रहण करनेकी आज्ञा नहीं है तथापि कोई भी मृदु उपकरणसे प्रतिलेखन करके ही स्थान, शयन, आसन, अथवा किसी पदार्थके उठाने रखने आदिका वह अभ्यास करता है। जीव दयाकी उठी हुई भावना उसे ऐसा करनेको बाध्य करती है।

भिक्षु संज्ञा प्राप्त न होने पर भी इसकी रुचि भिक्षुवत् ही है। इससे आगेका पद भिक्षाका है। प्रकारान्तरसे यह पद भोजन प्राप्तिकी अपेक्षा भिक्षुके पदसे भी कठिन है। भिक्षु तो भिक्षार्थ श्रावक गृह तक स्वयं जाता है पर यह धीर वीर स्वेच्छासे श्रावक घर नहीं जाता। बुलानेपर ही जाता है और यदि कोई

उसे भोजनके समय न बुलावे तो संतोष रख कर उपवास ही करता है। इस प्रकारके कठोर व्रतका धारक अनुमतित्यागी दशम प्रतिमाधारी होता है। २१०।

उद्दिष्टाहारत्यागस्य किं चिह्नं क्षुल्लकस्य हि।

गुरु श्रेष्ठ ! ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमामें प्रथम भेद क्षुल्लकका क्या स्वरूप है ? कृपया कहिए—

(वसन्ततिलका)

स्वीयेषु मातृपितृबन्धुजनेषु मोह—
मन्येषु क्लेशमथवा मनसा विहाय।
कौपीनखण्डवसनो गुरुपार्श्ववर्ती
स्यात् क्षुल्लकः शुचिमनाः समताभिलाषी ॥ २११ ॥

स्वीयेष्वित्यादिः—स्वीयेषु मातृपितृभ्रातृस्वसृमित्रकलत्रपुत्रपौत्रादिषु जनेषु मनसा मोहं ममतां परित्यज्य अथवान्येषु स्वविरुद्धाचाराचारकेषु आत्मचरनिन्दकतथा लोचकाकीर्तिकारकमिथ्याप्रवादप्रचारकेषु क्लेशं ईर्ष्याद्वेषसंक्लेशादिकञ्च परित्यज्य गुरुपार्श्ववर्ती नानासंक्लेशरहितत्वेन स्वयं शान्तिरूपं अन्येषामपि भवभीतित्रस्तानां शान्तिदायकं विषयेच्छाविरहितत्वात् निरारम्भपरिग्रहत्वाच्च ज्ञानाराधनतपानुष्ठानतत्परं दिगम्बरं परमगुरुं संप्राप्य तत्पार्श्ववर्ती तत्सन्निधावेव तिष्ठन् कौपीनखण्डवसनः कौपीनमात्रं खण्डवसनञ्च धारयन् शुचिमनाः समताभिलाषी क्षुल्लको भवति। एकादशप्रतिमायाः उद्दिष्टाहारत्यागरूपायाः द्वौ भेदौ। क्षुल्लकः एलकश्च। तयोः प्रथमस्य क्षुल्लकस्येदं स्वरूपमुक्तम्। अस्यामेव प्रतिमायां श्रावकस्य द्वादशव्रतानां परिपूर्णता भवति। सः कर्त्तर्या क्षुरेण वा निजमस्तकश्मश्र्वादानां केशान् दूरीकरोति। मासद्वये मासत्रये मासचतुष्टये वा यदाकदाचिल्लोचमपि कुर्यात् अभ्यासार्थम्। शौचोपकरणं कमण्डलुं प्रतिलेखनाय पिच्छिकां मृदूपकरणमन्यद्वा गृह्णाति। भाजनपात्रं चैकं दधाति। भिक्षुकवत् श्रावकगृहमागत्य भक्तिपूर्वकं तद्दत्तमाहारं भुंक्ते। रात्रौ एकान्ते सर्वाण्यपि वस्त्राणि परित्यज्य दिगम्बरसाधुवत् आत्मध्यानं करोति। चतुर्ष्वपि पर्वदिनेषु नियमतः उपवासं करोति। ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये स्पर्शशूद्रेष्वपि च भवत्येतद् व्रतम्। क्षुल्लकः खलु एकभिक्षानियमः अनेकभिक्षानियमश्चेति भेदद्वयमापन्नः। यस्त्वेकभिक्षानियमः स तु दिगम्बरमुनिष्वाहाराय प्रस्थितेषु तदनन्तरं भिक्षार्थमटति। क्वचिदपि एकस्मिन्नेव श्रावकगृहे यत्प्राप्तमन्नं तदेव भुंक्ते। वर्णत्रयक्षुल्लकानामेष एव विधिरिति केषाञ्चिद् ग्रन्थकाराणां मतम्। शूद्रवर्णक्षुल्लकास्त्वनेकभिक्षानियमाः। ते अनुमुनि आहाराय गच्छन्ति। अनेकगृहेभ्यः स्वभाजने अन्नं यत्किञ्चिल्लब्धं तत्सर्वमेकत्रीकृत्य यत्रापि प्रासुकमम्भो लभेत तत्रैव भुञ्जन्ति। कैश्चिद् ग्रन्थकारैस्तु न कृत एष भेदः। ते सामान्यतया चतुर्वर्णेष्वपि क्षुल्लकेषु उभौ भेदौ वर्णयन्ति। क्षुल्लको मौनपूर्वकमेव श्रावकगृहमागच्छति। मौनेनैव किञ्चित्कालं क्षणमात्रं वा बहिरेव स्थित्वा निर्गच्छति। एतदन्तरे यदि केनचित् श्रावकेण आहाराय प्रतिगृहीतस्तर्हि तत्रैव तिष्ठति। अन्यथान्यद्गृहं गच्छति। धर्मलाभो भवतु इत्येवमाशीर्वचनमुच्चार्य अहमत्रागत इति संकेतं प्रदाय अन्यत्र गच्छेत् इत्यपि आचार्याणामभिमतम्। प्रतिग्रहानन्तरं श्रावकस्तं उच्चासने विनिवेशयेत् अङ्घ्रिप्रक्षालनञ्च कुर्यात्। यथायोग्यं सम्मानादिकं अर्घञ्च प्रदाय विनयेन मनःशुद्धिपूर्वकं कायशुद्धिपूर्वकञ्च आहारादिकमपि निर्दोषमस्ति इति सूचयेत्। परमश्रद्धया सन्तुष्टेन भक्तिमता ज्ञानवता च श्रावकेण धैर्यमालम्ब्य उदारचित्तेन स्वशक्त्यनुसारं यद्दानं नवधाभक्तिपूर्वकं दीयते तदेव ग्राह्यम्भवति क्षुल्लकस्य नान्यथा। दत्तमेवंविधमन्नं स्थित्वा स्वभाजने श्रावकप्रदत्तभाजने वा अत्ति। स्वाध्यायध्यानतत्परः सः गुरुकुलेष्वेव वनेषु वसेत्। न तु क्षुल्लकः स्वातंत्र्यमर्हति। गुरोरभावे जिनमंदिरे तीर्थंकरप्रतिमासन्निधावेव व्रतं धारयेत् तथा चैत्यालये वने वा

समानाचारधारकैः श्रावकैः सह वसेत् । स्वगुरूणां अन्यसधर्मणाञ्च यथायोग्यं सेवाञ्च कुर्यात् । तेषां हस्तपादादि-मर्दनं रुग्णावस्थायां असहायावस्थायां वा यत्र तत्र मलमूत्रश्लेष्मादिविसर्जने कृते तदपाकरणं आर्षवाक्यश्रावणेन तेषां मनःसंक्लेशदूरीकरणं समाधिसमये स्वस्वार्थहानावपि तेषां समाधिसाधनं एवमनेकविधं वैयावृत्यं कुर्यात् । क्षुल्लकस्य एतदेव स्वरूपं संक्षेपतः ॥ २११ ॥

ग्यारहवीं प्रतिमाका नाम है उद्दिष्टत्याग प्रतिमा । इसके दो भेद हैं—प्रथमका नाम क्षुल्लक और दूसरे भेद का नाम है ऐलक । क्षुल्लक का अर्थ है छोटा और ऐलक का अर्थ है बड़ा । इनमेंसे पहिले भेद क्षुल्लकके स्वरूपका वर्णन इस श्लोकमें आचार्य ने किया है ।

दशम प्रतिमाधारी क्रमसे इसे स्वीकार करता है तथा जो अन्य प्रतिमाधारी इस प्रतिमाका आलंबन करना चाहता है वह अपने माता पिता भाई बहन स्त्री पुत्र मित्र आदि बंधु बांधवोंसे मोह ममताका त्याग करता है । अपने प्रतिकूल चलनेवाले अपनी निन्दा करनेवाले, अकीर्ति मिथ्यापवाद करनेवाले, आलोचना करनेवाले अथवा बिना कारण ही अपनी दुष्टतासे वैर करनेवाले शत्रुओंमें जो द्वेष ईर्ष्या असूया आदि नहीं करता । सबको समान दृष्टिसे देखता है वह विचार करता है कि अपने शुभाशुभ कर्मका फल ही जीव इस संसारमें भोगता है । यथार्थतया न कोई बंधु है न कोई शत्रु है । राग द्वेष कषायोंके वशीभूत होकर ही यह जीव स्वानुकूल वर्तन करनेवालों पर राग और प्रतिकूल चलनेवालों पर द्वेष करता है ।

इस सांसारिक व्यवहारमें पंचेन्द्रियोंके विषयमें साधक या सहायक व्यक्ति या पदार्थ ही इष्ट मान लिए जाते हैं । जो भोगोपभोगमें बाधक हैं ऐसे व्यक्ति या पदार्थ अनिष्ट माने जाते हैं । सांसारिक स्वार्थ केवल पंचेन्द्रियोंके विषय और क्रोधादि कषायें हैं । वास्तवमें परमार्थसे विचार किया जाय तो आत्माके हितके ये दोनों विरोधी हैं । श्री दौलतरामजी कविने अपनी भाषा स्तुतिमें बहुत सुन्दर शब्दोंमें लिखा है और भगवान्से प्रार्थना की है कि इन शत्रुओंसे हम बच सकें यही आपसे हमारी इष्ट प्रार्थना है । जैसे—

आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परणति न जाय ।
मैं रहूँ आपमें आप लीन, सो करहु होंहु ज्यों निजाधीन ।

इस प्रतिमाधारीने इसका पूर्ण रहस्य समझ लिया है, अतः न केवल प्रार्थना करता है बल्कि निजाधीन होनेके प्रयत्नमें सफलता की कोटिके समीप पहुँच जाता है । वह पर पदार्थ मात्रमें इष्ट या अनिष्ट कल्पना छोड़ चुका है । वह सतत प्रयत्नशील है कि किसी भी समय पंचेन्द्रिय विषयोंमें अथवा मान आदिमें चित्त न जाय । मैं सदा अपने आपमें स्थिर रहूँ । अपने निर्विकार स्वरूप स्वभावसे कभी विचलित न हो जाऊं । इसी महान् प्रयत्नमें अपना जीवन व्यतीत करता है यह उसका महा पुरुषार्थ है । इसी पुरुषार्थसे वह संसारमें दुःखरूप बंधनोंसे मुक्ति पायगा यह उसका निश्चल दृढ़ विश्वास है ।

यथार्थमें पांचों ही इन्द्रियां ज्ञानके लिए साधनभूत हैं । यदि उनका उपयोग पदार्थके स्वरूपमात्र जाननेके लिए किया जाय तो कोई अनिष्ट नहीं है । यदि आप मिष्टान्न खाते हैं तो उसे मीठा समझिए और कड़वा पदार्थ खाते हैं तो आपकी जिह्वा उसे कड़वा कहे, इसमें कोई पाप नहीं है । यह तो पदार्थके स्वरूपका निरूपण है । इतने ज्ञानमात्रसे कर्मबन्ध नहीं होता । बन्ध तब होता है जब हम मिष्टान्नके ग्रहणके प्रति रागी हो उठते हैं । उसकी प्राप्तिके लिए स्वयं भी अनेक कष्ट सहते हैं और दूसरोंको भी कष्ट पहुँचाते हैं । उस मिष्टान्नके रागके कारण जो हमने कष्ट उठाए अथवा दूसरोंसे विरोध होनेके कारण जो कष्ट होंगे उन सब ही कष्टोंका हेतु मिष्टान्न का राग है । यदि वह न होता तो हम इन आपत्तियोंको अपने

पास न बुलाते। अतः यह सिद्ध हुआ कि राग दुःख परम्पराका मूल कारण है। उससे जो सुख की कल्पना है वह तो क्षणमात्र है पर उसकी प्राप्तिमें, उसके संरक्षणमें, उसके भोगमें, उसके परिपाकमें उसकी प्राप्तिमें बाधा देनेवाले व्यक्तिओंके साथ संघर्ष करनेमें जो महान् कष्ट उठाने पड़ते हैं उनसे जन्मान्तरके लिए भी दुःखी हो जाते हैं न केवल इसी जन्मके लिए।

कुछ भाइयोंको यह प्रश्न होता है कि संसार दुःखमय ही है ऐसा एकान्त कथन उचित नहीं है। जैनाचार्यों द्वारा जहां अनेकान्त सिद्धान्तको अंगीकार करनेका उपदेश दिया गया है, वहीं पर संसारको एकान्त दुःखमय बताया जाय यह कथन अपने ही सिद्धान्तके विरुद्ध होनेसे उचित और न्यायसंगत मालूम नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ हम मिष्टान्न खाते हैं, नाटक देखते हैं, सुगंधित पुष्पोंको सूंघते हैं, सुन्दर गान सुनते हैं तथा कामभोग करते हैं। इन सब कार्योंमें सुखका अनुभव होता है। ऐसा होते हुए भी हमें वे सुखरूप नहीं किन्तु दुःखरूप ही हैं, ऐसा जैन साधुओंका कथन मिथ्या है। जो बात प्रत्येक संसारी प्राणीके प्रत्यक्ष अनुभव गोचर है उसे मिथ्या कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे स्वयं मिथ्या है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न सहज ही होता है कि जैनाचार्योंने इतने महान् सुखदायक विषयोंको मिथ्या समझ कर किस लिए कठोर तपस्याको अंगीकार किया और क्यों अन्य व्यक्तियोंको भ्रममें डाला है। ऐसा करनेसे उन्हें क्या लाभ है और किस सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न अवश्य विचारणीय है। कोई भी उपदेश कितना ही सुन्दर हो और लाभदायक हो पर जब तक वह अपने अनुभवसे लाभदायक प्रतीत न हो तब तक उसे कोई ग्रहण नहीं करना चाहता। यहां पर हमें अपने ज्ञान और सुखकी कोटिका विवेक पूर्वक विचार करना है। यह बात हम संक्षेपमें लिख चुके हैं कि इन्द्रियों द्वारा हमें ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ये केवल ज्ञानसाधक हैं, सुख दुःख साधक नहीं। सुख और दुःख तो हम मानसिक कल्पना द्वारा करते हैं! मन विचारक है वह स्वयं पदार्थके इस रूपादिका ज्ञान नहीं करता। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान सामग्रीका वह चर्वण करता है। दूसरोंकी कमाई ही खाता है। स्वयं कुछ नहीं कमाता। स्वयं वह केवल कल्पनाके आकाशमें उड़ा करता है। भ्रम उसे ही होता है और सम्यग्ज्ञान भी उसे ही। वह जितना बाधक है उतना ही साधक भी है।

जब हम स्पर्शन इंद्रिय द्वारा पदार्थका स्पर्श करके शीत उष्ण, कोमल, कठोर आदि आठ स्पर्शों का ज्ञान प्राप्त करते हैं वहां मात्र ज्ञान तो हमारा है। अन्य पदार्थका संबंध केवल शरीरके साथ ही है। जब हम काम भोग करते हैं तब भी स्त्री या पुरुषको शरीर स्पर्शका ज्ञान स्पर्शन इंद्रियसे होता है इतना मात्र तो इंद्रियका कार्य होनेसे वह तज्जन्य ज्ञान आत्मा भोगता है, बाकी शारीरिक संबंध तो शरीरसे ही होता है। स्पर्श आत्मा तक नहीं पहुँचता है। रसना द्वारा किया गया मिष्टान्न भोजन उदर तक पहुंचता है, वह अनेक रसादि रूप परिणत होकर शरीरका अंगभूत होजाता है, अथवा मल मूत्र कफ पसेव आदि रूप होकर बाहिर निकल जाता है, आत्माके पास उसके एक भी परमाणुकी पहुँच नहीं है। आत्मा उसे भोग नहीं सकता वह केवल उस मिष्टान्नमें होनेवाले रसज्ञानको भोगता है रसको नहीं भोगता।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रियके द्वारा सुगंधि, संगीत तथा विविध दृश्योंके ज्ञानमात्रको आत्मा भोगता है। गंध, गान और दृश्य या तो शरीरसे संबंध करते हैं या जहांके तहां उन्हीं पदार्थोंमें सीमित रहते हैं। आत्मा अमूर्त होनेसे उसमें इन मूर्तिमान पदार्थोंका संयोग नहीं होता और न हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वास्तवमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दरूप विषयके ज्ञान मात्रका भोक्ता आत्मा है। इन विषयोंका भोक्ता त्रिकालमें भी नहीं है। यदि ये भोगे जायँ तो पुद्गल द्रव्य

उक्त गुणोंसे रहित हो जाय। यह बात केवल आत्माके सम्बन्धमें ही नहीं, प्रत्येक द्रव्यके लिए है। यह जैन धर्मका अकाट्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमें है अपने स्वरूपका परित्याग नहीं करता।

यहाँ एक उपप्रश्न हो सकता है कि जीव पुद्गलके सिवाय अन्य द्रव्य अपने रूपका त्याग नहीं करते यह मानना ठीक है, पर इन दो द्रव्योंका तो परस्पर ऐसा सम्बन्ध अनादिसे है जिसमें आत्मा अपने स्वभावका परित्याग कर विकृत हो रहा है। तब यह कहना कैसे सुसंगत है कि वह अपने रूपका परित्याग नहीं करता।

इसका उत्तर यह है कि आत्माकी विकार परणति भी होती है और वह पुद्गल कर्मके निमित्तसे होती है। पर वह परणति पुद्गल निमित्तजन्य होने पर भी पुद्गल रूप नहीं है। अपने गुणोंका विकार अपनी आत्मामें होगा और पुद्गलमय विकार पुद्गलमें होंगे। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुखशक्ति अथवा क्षमा, विनय आदि गुण यदि कर्मके निमित्तसे बिगड़ेंगे तो उनका उन्हींमें परिवर्तन होगा। मिथ्यात्वके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा, सुख दुःखरूप परिणत होगा, शक्ति स्वात्महित रूप न होकर अहित रूपमें परिणमन करेगी, क्षमा क्रोधरूप बन जायगी, विनय अहंकारका रूप धारण कर लेगा। यह सब गुणोंके विकार अवगुण बन जायँगे पर पुद्गलके गुणोंके रूपमें न बनेंगे। गुणोंकी अवगुण रूप परणति निमित्तजन्य होनेसे विकृति है। यथार्थमें वह अपनी मर्यादाको छोड़कर नहीं है। पुद्गल कभी क्रोध या अहंकार रूप नहीं हो सकता; क्योंकि क्षमादि शक्तियाँ उसमें नहीं हैं अतः उन गुणोंके विकार भी उनमें नहीं हो सकते। रूप रसादिरूप अथवा कर्म नोकर्मरूप या परमाणु, स्कन्धरूप, वर्ग वर्गणारूप परणति पुद्गलकी ही होगी, क्योंकि वह उसके स्वभावकी विकृति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव और पुद्गल परस्पर निमित्त नैमित्तिक भावको प्राप्त होकर भी अपने स्वरूपका परित्याग करके परिणमन नहीं करते किन्तु अपने लक्षणको अपनेमें रखते हुए ही विकृत होते हैं। अतः यह सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपका त्याग नहीं करता।

ऐसी स्थितिमें आत्मा अपने ज्ञान स्वरूपका त्यागकर विषय ग्रहणके समय विषय रूप नहीं हो सकता, अतः वह विषयोंका भोग नहीं कर सकता। वह केवल विषय जनित ज्ञानका ही भोक्ता है। सुख दुख कर्मफलका भोक्ता मात्र व्यवहारसे कहा जाता है परमार्थमें ऐसा है नहीं। श्री नेमिचंद्राचार्यने द्रव्यसंग्रह नामक छोटे निबंधमें इस संबंधमें जो लिखा है वह इस पूर्वोक्त कथनको प्रमाणित करता है। जैसे—

ववहारा सुहदुःखं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्चयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।

अर्थात् आत्मा सुख-दुख रूप कर्म फलका भोक्ता है यह केवल व्यवहार कथन है। निश्चयनयसे तो वह अपने चैतन्य भावका ही भोक्ता है।

उक्त कथनसे यह सिद्ध है कि आत्मा प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा केवल पदार्थका ज्ञानमात्र करता है। उन पदार्थोंमें जिन पर मनकी इष्ट कल्पना है उन्हें सुखदायक मानता है और जो उसे अच्छे नहीं लगते उन्हें अनिष्ट समझ दुःखदायक मानता है। अर्थात् सुख-दुःखकी कल्पना मनके द्वारा हुई। वास्तवमें तो जीवने केवल पदार्थके ज्ञानका भोग किया है। वह उसका लक्षण या स्वरूप है, अतः उसीके भोगनेमें वह

समर्थ है अन्य पदार्थको भोगनेमें उसकी सामर्थ्य नहीं है, तथापि पदार्थको सुखदायक मानकर उसमें भ्रमवश इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है। जो पदार्थ एकके लिए इष्ट है वही दूसरेके लिए अनिष्ट है। जो एक प्राणीके लिए अनिष्ट है, वही दूसरेके लिए इष्ट है। जैसे किसी व्यक्तिको मिर्च खानेकी आदत पड़ गई है, यद्यपि मिर्चका स्वाद चरपरा है फिर भी वह उसे इष्ट है। वही अन्य अनभ्यस्त पुरुषके लिए या बालकके लिए अनिष्ट है। इसी तरह जो पदार्थ किसी क्षेत्रमें इष्ट है वही उस व्यक्तिके लिए दूसरे क्षेत्रमें अनिष्ट रूप है। जैसे घर में साधारण धोती या बंडी पहिनना ही इष्ट है पर सभा आदिमें जाने पर वह वेष-भूषा अनिष्ट है। जो पदार्थ किसी कालमें इष्ट है वही दूसरे कालमें अनिष्ट है। जैसे ग्रीष्मकालमें महीन वस्त्र इष्टकारक थे वे ही शीत ऋतुमें अनिष्टकारक हो जाते हैं। जो पदार्थ एक अवस्थामें इष्ट हैं दूसरी अवस्थामें अनिष्टकारक हो जाते हैं, जैसे जो दूध स्वस्थ अवस्थामें मीठा और इष्टकारक लगता है पित्त ज्वरकी दशामें वही कड़वा लगता है और अनिष्ट हो जाता है।

इसतरह द्रव्य क्षेत्र काल भावकी परिवर्तित अवस्थामें पदार्थ इष्ट और अनिष्ट रूप हो जाते हैं, जिन्हें एक बार सुखदायक माना जाता है उन्हें ही वह दूसरी बार दुःखदायक मानने लगता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थोंमें यदि एकान्ततः सुखदायकत्व या दुःखदायकत्व होता तो वे सदा प्रत्येक क्षेत्रमें और प्रत्येक अवस्थामें प्रत्येक प्राणीको सुखदायक ही रहते अथवा दुःखदायक ही रहते पर ऐसा नहीं देखा जाता अतः पदार्थोंमें सुख दुःखकी कल्पना प्राणी स्वयं करता है। सुख दुःखदातृत्व उनका स्वरूप नहीं है। तब उन पदार्थोंमें मोह और ममता करने का क्या प्रयोजन है?

अब रही सुख प्राप्तिकी बात सो हमें जो सुख संसारमें प्राप्त होता है वह वास्तवमें अपनी इच्छाकी पूर्तिमें होता है। अर्थात् जो इच्छा उत्पन्न हुई सो ही हम दुःखी हुए। जबतक उस इच्छा की पूर्ति नहीं हुई तबतक दुःख रहेगा। ज्यों ही पूर्ति हुई कि सुखानुभाव हुआ। यह सुख यथार्थमें नहीं था, हमारी इच्छारूप-दुःखके नाशसे सुखका जन्म हुआ है। अर्थात् जब हमको यह संतोष हो गया कि हमें अब उक्त पदार्थ नहीं चाहिए तब हम सुखका अनुभव करते हैं। सारांश यह कि या तो हमें पदार्थ ज्ञानके अनुभवमें सुखका आभास मिला या सन्तोष उत्पन्न होने पर सुख मिला। यह सुख क्षणस्थायी है, यह सन्तोष परपदार्थाधीन है अतः इसे सुख रूप न कहकर दुःखरूप ही आचार्योंने माना है। जो स्थायी है। परनिमित्तजन्य नहीं है और स्वात्मोत्थ है वह वास्तवमें सुख है। संसार सुख दुःखकी न्यूनता मात्र है, अर्थात् कभी दुःखी प्राणीको दुःख कम हो जाय तो उसमें सुख मानता है। जैसे एकके सिर पर एक मन बोझ लदा हुआ है। यदि वह बीस सेर कर दिया जाय तो वह सुखी हो जाय। वह बीस सेरका बोझ ऐसे मनुष्यके सिर पर रखा जाय जिसके सिर पर अभी कोई बोझ नहीं था तो वह उस बोझमें दुःखका अनुभव करेगा। कारण इसका स्पष्ट है कि प्रथमका दुःख न्यून हो अतः सुखी हुआ। दूसरेके दुःखमात्र बढ़ा अतः दुःखी हुआ। बोझ दोनों पर बराबर है पर एक सुखी एक दुःखी हुआ। अतः दुःखकी न्यूनतामें सन्तोष उत्पन्न होनेसे, इच्छारूप महान् दुःखकी न्यूनतासे या इच्छानुकूल पदार्थके ज्ञानका भोक्ता होनेसे सुखका अनुभव होता है। यह सुख अस्थायी है। मोहके कारण इच्छाओं की न्यूनता नहीं है। प्रति समय नवीन-नवीन इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। उनकी पूर्तिके हेतु अनेक पदार्थोंकी ओर यह दौड़ लगाता है, उनका संग्रह करता है, उनके संग्रहमें कष्ट उठाता है और संग्रह हो जाने पर रक्षाकी चिन्तामें दुःख उठाता है। उस संग्रहीत पदार्थोंमें अनेकोंकी इष्ट कल्पना है अतः उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले बहुत हैं। वे उसे ले न जांय अतः सतर्क रहना पड़ता है। यदि वे लेने आवें, बाधा दें और शक्तिका उपयोग करें तो

उनके साथ संघर्ष करनेमें महान् दुःख उठाना पड़ता है। यदि उस संघर्षमें विजय नहीं हुई और वह संगृहीत परिग्रह छिन गया तो इष्टवियोगज महान् दुःख हो गया।

पर पदार्थ द्वारा इच्छापूर्ति कर सुख प्राप्तिकी अभिलाषा स्वप्नवत् है। ऐसा वस्तुका स्वरूप समझ कर जो बुद्धिमान् उन पदार्थोंसे मोह ममताका त्याग कर उनके बिना भी अपने मनमें सन्तोष उत्पन्न कर लेते हैं वे ही परम सुखी हैं। वह स्वात्मोत्थ संतोष सुख है। स्वजन्य ज्ञानका सुख है। पर निमित्तजन्य न होनेसे वह स्थायी है। उसीके प्रयत्नमें यह एकादश प्रतिमाधारी प्रयत्नशील है। अतः जो थोड़ी सी कमजोरी शेष है उसके कारण मात्र एक लंगोटी, एक खण्ड वस्त्र, एक कमंडलु और एक भोजनपात्र बस इतना परिग्रह रखता है शेष सब प्रकारके पदार्थोंसे उसने मोहका त्याग कर दिया है। कितना भी कष्टका अनुभव करना पड़े वह उसमें सुखी है।

ग्यारहवीं प्रतिमाके प्रथम भेद क्षुल्लक पद प्राप्तिकी जिन्हें इच्छा होती है वे ऐसे गुरुके पास जाते हैं जो स्वयं संसार परिभ्रमणसे त्रस्त हैं और उससे उन्मुक्त होनेके लिये प्रयत्नशील हैं। स्वयं आरम्भ परिग्रहसे विरक्त हो कर अशान्तिके बीजभूत मोहका त्याग कर चुके हैं। परम दिगम्बर मुद्राको धारण कर जो अपनी मुद्रा ही से स्वावलम्बनका पाठ पढ़ाते हैं। जो असंतोष, शोक, ईर्ष्या, वैर, माया, ममता और घृणा आदिका कभी अनुभव नहीं करते। ऐसे शान्ति-सुखके प्रदायक स्वगुरुकी शरण में जाकर अपने कल्याणका मार्ग उनसे पूछते हैं। उनके बताए हुए सन्मार्गको पूर्णरूपसे ग्रहण करनेमे असमर्थ होनेके कारण क्षुल्लक व्रतकी दीक्षा लेते हैं।

इस व्रतका धारी कतरनी या छुरा द्वारा अपने केवल मस्तक तथा दाढ़ी मूंछोंके बालोंको दूर करता है। इन्हें दूर कर लेनेका प्रमाण कमसे कम दो माह मध्यम तीन माह और अधिकसे अधिक चार मास है। यदि वह चाहे तो केशोंका लोच भी अपने हाथोंसे कर लेता है। लोच करनेमें भस्मकी सहायता ले लेता है। भस्म लगाने पर बालोंमें रूक्षता होनेसे पकड़नेमें ठीक आजाते हैं, इतना मात्र प्रयोजन है। भस्मके सिवाय अन्य किसी वस्तुका प्रयोग नहीं करता जो बालोंके उत्पाटनमें सहायक हो। लोचक्रियाका प्रयोग इसलिए करता है कि कतरनी या छुराका आवश्यकता भी न्यून हो जाय। लोचका काल भी ऊपर लिखे प्रमाण है। इससे अधिक काल तक केश रखनेसे जीवोत्पत्तिकी संभावना रहती है।

जब तक केशोत्पाटन या दूरीकरणक्रिया नहीं होती तब तक जो केश मस्तकपर रहते हैं उनका तेल आदिसे कोइ संस्कार नहीं करता। दाढ़ी या मूछोंके बालोंकी कोई साज संभाल नहीं करता। वे अपने स्वभाव रूपमें रहते हैं और वैसे ही घासकी तरह उखाड़ कर फेंक देते हैं। अपने पास लंगोट (कौपीन) तथा एक खण्ड वस्त्र रखता है। खण्ड वस्त्रसे यह तात्पर्य है कि जो वस्त्र अधिकसे अधिक तीन सवा तीन हाथ ही लम्बा हो और अधिक चौड़ा न हो। जिसे यदि ओढ़ कर सोया जाय तो साढ़े तीन हाथके पुरुष शरीरको पूरा न ढक सके। यदि पैर ढके हैं तो सिर और सिर ढाका जाय तो पैर उघाड़ रह जाय। यह इसलिये कि अपने आगम प्रतिमाभेदमें ही वह इस परिग्रहसे भी अपनेको मुक्त कर लेना चाहता है। इसके पास एक कमण्डलु रहता है जो शौच क्रियाके लिये प्रासुक जल रखनेके प्रयोगमें आता है। मृदु वस्तु या अभारोंकी पिच्छिका अथवा मयूर पिच्छिका द्वारा प्रतिलेखन करता है। प्रतिलेखनका अर्थ है जीव जन्तु जो प्रत्यक्षगोचर नहीं होते हैं या नेत्रकी कमजोरीके कारण नहीं दिखाई देते हैं उनकी रक्षा पूर्वक ही उठना, बैठना, आसन ग्रहण करना, वस्तुका उठाना रखना, मल मूत्र त्याग करना,

आदि काम किये जायँ। यह व्रती उस मृदु पिच्छिकासे स्थानको स्वच्छ कर उसे निर्जन्तु होने पर ही उपयोग में लेता है।

आहार ग्रहणकी पद्धतिमें क्षुल्लक दो प्रकारके हो जाते हैं। पहिला एक भिक्षानियम और दूसरा अनेक भिक्षानियम। जो श्रावकके एक ही घरमें जाकर जो वहाँ भिक्षान्न प्राप्त हो उसे लेकर अपनी उदर पूर्ति करते हैं वे एकभिक्षा नियम हैं। इनमें कोई एक भाजन (बर्तन) भोजनार्थ पास भी रखते हैं जो पीतल आदि साधारण धातुका हो और उसमें भोजन लेकर भोजन करते हैं। कोई बर्तन नहीं रखते श्रावक जिस वर्तनमें भोजन परोस दे उस वर्तनमें आहार कर लेते हैं।

अनेक भिक्षा नियमवाले क्षुल्लक अपने पासके वर्तनमें एक दो तीन आदि घरोंसे प्राप्त भिक्षान्न संग्रह कर लेते हैं। वे लेते उतना ही हैं जितनेमें उदर पूर्ति हो जाय, उससे अधिक नहीं। अपनी उदर पूर्तिके योग्य संग्रह होने पर किसी श्रावकके घर जहाँ भी प्रासुक जल प्राप्त हो जाय वहाँ बैठकर भोजन कर लेते हैं। सर्व प्रथम जो भिक्षान्न पात्रमें संगृहीत है उसे ग्रहण कर लेते हैं। यदि उतनेसे उदरपूर्ति नहीं होती तब इस अन्तिम गृहसे भिक्षान्न लेते हैं अथवा पात्र जल वहाँसे लेते हैं। ऐसा नहीं होता कि ये प्राप्तान्न यदि सामान्य है तो उसे छोड़कर अन्य रसवान् अन्न दूसरी जगह प्राप्त होने पर उसे लेलें। अथवा पूर्व संगृहीत अन्नमेंसे स्वादिष्ट स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर शेष फेंक दें। ऐसा करनेवाला व्रती अपने व्रतसे च्युत है। रसना इंद्रिय पर विजय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही आरंभत्याग प्रतिमामें परगृहका भोजन स्वीकार किया गया था। इसलिए नहीं कि घरमें द्रव्यकी हीनता है। गृहारंभ छोड़ कर पर घर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा अतः पर गृह भोजन किया जाय। ऐसा करनेवाला व्रती नहीं, पापी है। वह व्रतीके भेषमें अपनी आत्माको और दूसरोंको ठगाता है। उसने व्रती वेषको आजीविकाका साधन बना लिया है। वह इस वेषका उपयोग न केवल भोजन मात्रके लिए करता है अपि तु येन केन प्रकारेण भोले भक्तों व महिलाओंसे अन्य प्रकार भी द्रव्य ठगने लगता है। ऐसा व्यक्ति व्रती नहीं, मिथ्या ही व्रतवेषी है। इसकी आत्मा संसार परिभ्रमण करेगी। कुयोनियोंमें शयन कर घर-घर उच्छिष्टान्नका भोजन करेगी। जो व्रत पूज्यपद मुनिव्रतके अभ्यासके हेतु है उसका उपयोग यदि भोजन प्राप्तिहेतु किसी अज्ञानीने किया है तो यथार्थमें उसने रत्नहार प्राप्तकर उसकी कीमत नहीं समझी और वह केवल हारमें मणियोंको गूँथनेवाले सूत पर मोहित हो गया है, इसलिए मणियोंको तोड़ कर फेंक देता है और उस सूतसे अपने फटे चिथड़े वस्त्रोंको सीकर उपयोगमें लारहा है। ऐसा व्यक्ति दयाका पात्र है। सुपात्रकी गणनामें गिनने योग्य नहीं। सुगुरु उसपर दया करें और उसे मार्ग पर लगावें।

ऐसे भेषीसे यदि भेंट हो तो श्रावकोंको भी उससे घृणा न कर उसपर दया करनी चाहिए और उसे सन्मार्ग पर लानेका प्रयत्न करना चाहिए। श्रावक भी विवेकी हो तभी वह यह कार्य कर सकेगा। अविवेकी श्रावक उच्छृंखल व्यवहार कर उससे द्वेष करेगा और मार्ग पर न ला सकेगा। यदि विवेकी श्रावकों द्वारा वह सन्मार्ग पर न आवे तो उसे किसी सुगुरुके पास ले जाना चाहिए। वे उसे मार्ग पर अवश्य ले आनेमें समर्थ हो सकेंगे। यदि श्रावक तथा सुगुरु भी उसे मर्ग पर न लासकें। वह दोनोंकी उपेक्षा कर दे तो श्रावकोंका कर्त्तव्य है कि गुरुका आदेश पाकर एकबार उसके वेषको समाप्त कर उसे व्रती मानना छोड़ दें। व्रत पदके अनुकूल उसकी पूजा प्रतिष्ठा सन्मान आदि न करें। ऐसा करनेसे उसका वेष ग्रहण उसे निरर्थक जान पड़ेगा और अपनी ठगी वृत्तिमें सफलता न मिलनेसे या तो वह सन्मार्ग पर आवेगा या उस वेषका त्याग करेगा।

सम्यग्दृष्टिके अष्टांगोंमें उपगूहन, वात्सल्य स्थितीकरण और प्रभावना ये अन्तिम गुण हैं। व्रतसे च्युत होनेवाले व्यक्तिके साथ इन चारोंका क्रमशः उपयोग करना चाहिए। सर्व प्रथम तो उपगूहन अंगका पालन करे। यह विचार करे कि पापोदयसे आत्मा व्रतादिकोंमें शिथिल हो जाता है अथवा अज्ञान या शारीरिक व मानसिक कमजोरीसे ऐसा होना संभव है अतः व्रतियोंका अपवाद न हो इसलिए इसकी निन्दा करने या मात्र आलोचना करनेमें लाभ नहीं है। अतः इसके अवगुण प्रकाशित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उपगूहन अंगका पालन करनेमात्रसे यदि कार्य सिद्धि न हो तो इसलिए उस व्यक्तिसे घृणा न कर उससे धर्मवात्सल्य कर वात्सल्य अंगका पालन करे और वह व्यक्ति धर्ममें पुनः स्थिर हो जाय इसका प्रयत्न कर स्थितीकरण अंगका पालन करे। इस प्रकारसे कार्य करनेवाला व्यक्ति ही धर्मकी प्रभावनामें समर्थ होता है और प्रभावनांगका पालक है। अवगुण छिपानेका अर्थ अवगुण और अवगुणीका पालना नहीं है और न वह उपगूहन अंग है। छिपानेका तात्पर्य मात्र इतना है कि यदि किसी अज्ञानतासे या कर्मोदयसे कभी किसी से पद विरुद्ध कार्य हो गया है तो निन्दात्मक पद्धतिसे वह दूर नहीं किया जा सकता। निन्दा, आलोचना और अपवाद, उसके सुधारका उपाय नहीं हैं। सुधारका सच्चा उपाय है उसे उसके पदस्थकी महत्ता बताकर गिरनेसे बचाना। अपने दोपके जाननेवालेसे लज्जाशील व्यक्ति दबता है, उच्छृंखलता नहीं करता और इसीलिए उसकी इस वृत्तिका लाभ इस रूपमें उठाया जा सकता है कि उसे पुनः उसके पदमें प्रतिष्ठित कर दे। उसे यह विश्वास हो जाता है कि अमुक व्यक्ति बहुत सज्जन है और मेरा हितैषी है, क्योंकि मेरा दोप जानकर भी अपवाद न कर मुझे दोष दूर करनेकी सम्मति देता है और मेरी प्रतिष्ठाको बनाए रखनेके लिए प्रयत्नशील हैं। ऐसे विचारसे वह सन्मार्ग पर पुनः आजाता है। यह बहुत बड़ी सेवा है। जिस महापुरुषसे वह बन सके वह पूज्य पुरुष है।

जो व्यक्ति प्रारम्भसे ही छद्मवेषी हैं। व्रतकी आकांक्षासे इस मार्गपर नहीं आए। लज्जा शीलता जिनमें नहीं है। यहां लज्जा शीलताका अर्थ पाप करनेमें लज्जा आनेसे हैं, वह भूषण है। जो प्रयत्न करने पर भी सन्मार्गपर नहीं आते। अपने दुराचारसे पदको लांछित करते हैं। जिन्हें मार्गपर लानेके सब उपाय व्यर्थ चले गये हों उन्हें बलात् उस पदसे अलगकर देना श्रेयस्कर और प्रभावनांगका पोषक है। पर इसका प्रयोग करनेका अधिकार या तो दिगम्बर गुरुको है या उनके अभावमें विवेकपूर्वक क्रिया करनेवाले अन्य व्रती श्रावक संघको है।

जो संसार, देह और योगोंसे विरक्त होकर पांचों पापोंसे उन्मुक्त होनेके लिए लालायित हैं, किन्तु शारीरिक और मानसिक कमजोरीके कारण उनसे अबतक छूटे नहीं हैं, छोड़नेके लिए प्रयत्न शील हैं वे ही इस पद पर आसीन होते हैं। इस तरह एकभिक्षानियम और अनेकभिक्षानियम दोनों ही श्रावक इन्द्रिय विजयके पवित्र उद्देश्यका विस्मरण न करते हुए आहारकी वृत्तिको पूरा करते हैं। कुछ ग्रंथकार ऐसा लिखते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और स्पर्शशूद्र एसे ४ वर्णके लोग इस पदको धारण कर सकते हैं। उनमें तीन वर्ण तो एकभिक्षानियमवाले होते हैं। पीतलका कमंडलु या भोजन हेतु वर्तन रखते हैं। जो अनेकभिक्षानियम हैं उसे स्पर्श शूद्र वर्णवाले धारण करते हैं। वे लोहका कमंडलु और भोजन पात्र रखते हैं। कई ग्रन्थकार सभी वर्णोंके लिए दोनों प्रकारके नियम हैं ऐसा वर्णन करते हैं।

दोनों ही प्रकारके क्षुल्लक उद्दिष्टाहारके त्यागी हैं। इसलिए आहारके समय श्रावकोंके घर स्वयं जाते हैं। वहां या तो मौन पूर्वक एक क्षण बाहिर खड़े हो जाते हैं अथवा धर्मलाभ हो ऐसा आशीर्वचन

कहकर निकल जाते हैं इन दोनों अवस्थाओंमें क्षण एक वहां खड़े रहनेसे तात्पर्य इस बातका है कि श्रावक जो गृहके भीतर है अथवा अन्य कार्य में संलग्न है उसे उस भिक्षुके आनेका ज्ञान हो जाय। उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर भिक्षु फिर वहां बिना बुलाए नहीं ठहरता। श्रावक उन्हें देखकर प्रतिग्रह करता है। अर्थात् अपने गृह आनेकी प्रार्थना करता है और आहार पानी भिक्षुके योग्य उसके घर है तथा उसकी इच्छा दान की है यह व्यक्त करता है। इस क्रियाका नाम प्रतिग्रह है।

गृहस्थकी प्रार्थना पर भिक्षु ठहर जाता है और उसकी पुनः प्रार्थना पर उसके गृहमें प्रवेश करता है। गृहस्थ उसे उच्चस्थान पर बैठाता है, पैर धोता है, सम्मान करता है, नतमस्तक होता है और यह प्रतिज्ञा करता है कि आपको आहार देनेमें मेरे मन-वचन-कायसे विशुद्धि है। कोई कपटसे या किसी दबावसे अथवा केवल लोक लाजसे या लोकापवादके भयसे मैं बिना अपनी इच्छाके आहार देनेको प्रस्तुत नहीं हुआ हूँ। मैं हर्ष और पवित्र वृत्तिसे आपको आहार देनेको तयार हुआ हूँ। मेरे घर पर आपकी भिक्षाके योग्य शुद्ध व शास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार अभक्ष्यादि दोषरहित आहार व प्रासुक जल है। आप कृपाकर स्वीकार करें। इस प्रार्थना पर भिक्षु भोजनशालामें प्रवेश करता है और अपने नियमोंके अनुसार आहारको ग्रहण करता है। भिक्षु इष्ट और अनिष्टाहारमें राग द्वेष या संकल्प विकल्प नहीं करता किन्तु अपने उदरकी पूर्तिहेतु प्रेमसे उसे ग्रहण कर शरीरकी आवश्यकता पूरी करता है। अन्न और आहारके बिना शरीर नहीं टिकता, परिणाम संक्लिष्ट हो जाते हैं, धर्म साधन नहीं होता इसलिए भिक्षु आहारहेतु जाता है अर्थात् शरीर धर्म साधनका कारण है, इसलिए उसे अन्न पानी देकर स्थिर रखना है और उसके द्वारा धर्म साधन करना है इतना उद्देश्य लेकर भिक्षु इस वृत्तिको अंगीकार करता है। यदि बिना आहारके भी शरीर चलता है तो उस दिन उपवास करता है। अष्टमी चतुर्दशीको तो नियमतः उपवास करनेका इन्हें व्रत है। प्रोषधोपवास व्रत यहां उत्कृष्ट दरजेमें पालन किया जाता है। इच्छा होने पर और श्रावकके घर तक जाने पर भी यदि विधिवत् आहार न प्राप्त हो या कोई प्रतिग्रह न करे अथवा आहारमें अन्तराय आजाय तो भिक्षु उस दिन भी उपवास अवश्य करता है। वह केवल उसी अवस्थामें आहार ग्रहण करता है जब शरीरके लिए उसकी अत्यन्त आवश्यकताका अनुभव करता है। और वहां ही आहार लेता है जहां पर उक्त नवधा भक्तिके द्वारा सप्तगुण सहित श्रावकजन अपनी हार्दिक श्रद्धा पूर्वक, संतोष रखते हुए, उदारतासे, विनयपूर्वक, विवेकपूर्वक व धैर्यपूर्वक शक्त्यानुसार आहार देते हैं।

आहार करनेके बाद अपने भोजनके पात्र वह स्वयं स्वच्छ करे ऐसी जिनाज्ञा है। ऐसा नियम इसलिए है कि इसे कोई अहंकार भाव जागृत न हो और श्रावककी कोई क्रिया असंभव रूपसे इसके लिए न हो पाए। श्रावक भक्तिमें अथवा अन्य कारणोंसे उस भाजनके स्वच्छ करनेमें देर करे और इतने में आहारके करनेके लोभसे मक्खी आदि उसमें पतन कर प्राण रहित होजाय तो यह महान असंयम होगा ऐसा विचार कर भिक्षु स्वयं उसे माँजकर स्वच्छ करे। यदि श्रावक तत्काल ही संयम रक्षा करते हुए उसे स्वच्छ कर देना चाहे तो भी आपत्ति नहीं है। किन्तु श्रावकका कर्तव्य है कि वह मेरे जूठे बर्तन मांजे यह तो उसका सौभाग्य है, मैं तो महत्त्वशाली पद पर हूँ, इसे मेरी सेवा करनी ही चाहिए, ऐसे अहंकारके वशीभूत होकर श्रावकसे अपना बर्तन मांजनेको कहे तो व्रतीको दोष है।

आहारके बाद भिक्षु अपने संघमें वापिस आकर गुरुसे सब निवेदन करता है। यदि कोई त्रुटि आहार क्रियामें जानेके समयसे आनेके समय तकके मध्यमें हुई हो तो उसे स्पष्ट निवेदन करता है और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको स्वीकार करता है। भोजन वृत्ति दिनमें एक बार ही करनेका इसका नियम है।

क्षुल्लक गुरुसे दीक्षा लेते हैं, उनके सन्निधानमें रहते हैं। उनकी तथा अन्य संघके साधुओंकी हर प्रकारसे वैयावृत्य करते हैं। साधु-सेवा ही इनका व्रत है। स्वाध्याय द्वारा सदा अपने ज्ञानकी वृद्धि करते हैं, त्रिकाल आत्म-चिन्तन द्वारा अपनेको सन्मार्ग पर स्थिर रखनेका प्रयत्न करते हैं। यदि साधुजन न हों और इस व्रतीने भगवान् तीर्थंकरकी प्रतिमा या आगमग्रंथके सम्मुख स्वयं दीक्षा ली है तो भी उसे अन्य व्रती प्रतिमाधारियोंके साथ ही रहना चाहिये। स्वतंत्र विचरण नहीं करना चाहिए। स्वतंत्रतासे एकला भ्रमण करनेका तो साधुको भी निषेध है। अकेला विहार करनेवालेके सत्संगतिके अभावमें, और परीषह उपसर्गके विजय न कर सकनेकी स्थितिमें मार्गसे च्युत हो जानेकी संभावना आचार्योंने की है, अतः संघमें रहनेका आदेश दिया है। संघमें रहते हुए अन्य व्रतियोंकी धर्म-सेवा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। रोगी अवस्थामें, असहायावस्थामें, और पीड़ितावस्थामें उनकी शारीरिक सेवा भी करता है। धर्मसाधनमें सहायता करता है। समाधिमरणादि अवस्थामें अपने धर्म-साधनकी क्रियाओंमें हानि हो जानेपर भी समाधिगत साधु या श्रावककी सेवा कर उसे समाधिमें स्थिर करता है। यह कर्त्तव्य वह उस कालमें सर्वश्रेष्ठ मानता है। क्षुल्लक व्रतीकी यह प्रक्रिया है।२११।

किमैलकस्य चिह्नं मे वर्तते सिद्धये वद।

हे गुरुदेव! ऐलकका क्या लक्षण है, मेरी कल्याणसिद्धिके लिए कृपाकर कहें—

(वसन्ततिलका)

कौपीनमात्रवसनो करपात्रभोजी
स्थित्वासनेऽशनविधानपरः प्रकामम्।
स्वर्मोत्तमार्गनिरतो विरतोऽन्यकार्यात्
स्यादैलको निजरतः प्रतिमाप्रयोगी ॥२१२॥

कौपीनेत्यादिः—यः किल एकादशप्रतिमाधारी प्रवृद्धवैराग्यः साहसिकः स्वदेहस्थितं खण्डवसनमपि परित्यजति करपात्र एव भुंक्ते। भोजनपात्रमपि परित्यजति। श्रावकगृहे तत्पात्राणामप्युपयोगः यस्य नोचितः स च ऐलकः स्यात्। एषोऽपि पद्मासनेन अर्धपद्मासनेन सुखासनेन वा स्थित्वा भुंक्ते। क्षुल्लकवदेव प्रतिग्रहादिकमपेक्ष्य आहाराय गच्छति। प्रतिमायोगं धारयति न तु दिवसे। परीषहोपसर्गान् जयति। न तस्य भीतिस्तथापि स्वप्रयत्नतः परीषहान् प्राप्तुं न यतते। कटिसूत्रं कौपीनञ्च धारयति। शीतस्य दंशमशकस्य च समागतां बाधां ग्रीष्मे प्रस्वेदादिनिमित्तेन संप्राप्तां बाधाञ्चामन्यमानोऽन्यानप्युपसर्गपरिषहान् स्वयमेव समागतान् नावगणयति। एष द्वित्रिचतुर्षु मासेषु लोचमेव करोति न कर्त्र्यादिना केशानपनयति। न चास्मिन् पदे स्यादनेकभिक्षानियमः। एकभिक्षानियम एवात्र स्वीकृतः। वर्णत्रयेष्वेतत् पदं स्यान्न शूद्रेषु। मुनेर्लघुभ्रातुरस्य पञ्चाणुव्रतानि महाव्रतसमीपतां यान्ति। ईर्यासमित्यादीन् पालयति गुप्त्यादीनपि च भजते। प्रथमप्रतिमाग्रहणसमये यः संसारदेहभोगैर्विरक्ततायाः परिणामः सञ्जातः स एवात्र परिपूर्णतां याति। एवम्प्रकारेण क्रमशः प्रतिमारोहणेन अणुव्रतानां महाव्रतेष्वारोपणप्रक्रिया पूर्णतां याति।२१२।

इति श्री कुन्थुसागराचार्यविरचिते श्रावकधर्मप्रदीपे पण्डितजगन्मोहनलालसिद्धान्तशास्त्रिकृतायां प्रभाख्यायां व्याख्यायां च पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः।

क्षुल्लक व्रती वैराग्य परिणामोंकी वृद्धिके कारण साहसी हो कर ऐलक वृत्तिको प्राप्त होता है। इनकी आर्यसंज्ञा है। ये अपने केशोंका उत्पाटन दो, तीन, या चार मासमें अपने हाथोंसे करते हैं। कैंची आदिका उपयोग न स्वयं करते हैं और अन्यको देते हैं। खण्ड वस्त्रका भी त्याग कर मात्र कटिसूत्र और

कौपीन (लंगोटी) धारण करते हैं। शीत डांस मच्छर वर्षा और ग्रीष्मकी सम्पूर्ण बाधाएँ अपने खुले शरीर पर झेलते हैं। कोई भी परीषह और उपसर्ग आजाय तो उसके सहन करनेमें कायरता नहीं दिखाते। प्रीतिपूर्वक सहन करते हैं। तथापि परीषह उपसर्गोंकी प्राप्तिका प्रयत्न नहीं करते। घोर तपश्चरण आदिको धारण करनेकी शक्तिको उत्पन्न करनेका प्रयत्न करते हैं पर वर्तमान अवस्थामें वैसी शक्तिके अभावमें वैसी तपस्या नहीं करते। प्रतिग्रहादि नवधा भक्तिपूर्वक श्रावक आहार दे तो बैठकर अपने करपात्रमें ही लेते हैं। भोजनका पात्र ये अपने पास नहीं रखते, और न श्रावकके घर उनके ही पात्रोंमें भोजन करते हैं। अपने हाथ पर जो आहार श्रावक दे दे मात्र उसे उदरस्थ करते हैं। आरामसे स्वाद लेकर आहार ग्रहण नहीं करते। न अतिशीघ्र ही भोजन करते हैं। ये एषणा समितिपूर्वक देख शोधकर आहारको लेते हैं। आहार सरस है या नीरस है, स्वादिष्ट है या बेस्वाद इन बातों पर उनका ध्यान नहीं जाता। केवल इतना ध्यान रखते हैं कि आहार शुद्ध है, निर्जीव (प्रासुक) है, कोई अन्तराययोग्य वस्तुका उसमें समागम नहीं है।

स्वाध्याय, ध्यान, धर्मोपदेश और धर्मप्रभावना आदि कार्योंमें अपने समयका सदुपयोग करनेवाले ये भी साधु संघमें ही रहते हैं, अकेले नहीं। रात्रिमें मुनिकी तरह नग्न होकर ध्यान करते हैं पर दिनमें नहीं। प्रकारान्तरसे रात्रिमें इनकी मुनिवृत्ति और दिनमें ऐलक वृत्ति रहती है। यह पद ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंमें ही धारण किया जाता है। इनमें अनेक भिक्षाका नियम नहीं है। केवल एक घरमें ही आहार लेकर आजाते हैं। आहारके बाद गुरुको सब प्रक्रिया निवेदन करते हैं तथा दिया हुआ प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण ये नियमतः करते हैं। चातुर्मासमें एक स्थान पर रहते हैं। साधारणतः चातुर्मास गृहत्यागी सभी करते हैं। गृहस्थ भी करें तो धर्मसाधननिमित्त ऐसा देशव्रत ले सकते हैं पर गृहत्यागीको तो इसका यथायोग्य पालन करना ही चाहिये। वर्षाकालमें सर्वत्र मार्ग अप्रासुक हो जाता है सर्वत्र वनस्पति छाजाती है, त्रसराशि भी विशेष उत्पन्न होनेसे मार्गमें चलना कठिन हो जाता है, अतः आरम्भत्यागीके लिए तो उस समय विहार करना सर्वथा अनर्थदण्ड है। इसके पूर्व तो सभी गृह व्यापारादिका आरंभ संबंध होनेसे मार्गगमनका बंद करना संभव नहीं होता, पर आरंभ व्यापारका त्याग होने पर वह सहज ही बंद हो सकता है।

यह ऐलक पदस्थ व्यक्ति मुनिका लघुभ्राता कहा गया है। इनके पञ्चाणुव्रत यहां महाव्रतकी मर्यादामें पैर रखने लगते हैं, समित्यादिका भी उपयोग ये करते हैं और गुप्तिआदिका पालन करते हैं। ये सब मात्र प्रतिज्ञारूप या व्रतरूप नहीं है। तथापि मुनिकी तरह ही इनकी पालना ऐलक करते हैं। मयूरपिच्छिका रखते हैं तथा प्रतिलेखन करते हैं। दिनमें मार्ग गमन करते हैं, रात्रिमें नहीं। मात्रशौच आदि बाधा निवृत्तिहेतु ही गमन करते हैं अन्य प्रकारसे नहीं। हित, मित और प्रियवचन बोलते हैं। कठोर, विषम और पीड़ाकारक वचनोंका स्वप्नमें भी उच्चारण नहीं करते।

इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप पूर्ण हुआ। इसके बाद कौपीन मात्र त्यागकर ये मुनिव्रतको अंगीकार करते हैं। श्रावक व्रतकी समाप्ति ऐलक पदमें हो जाती है।

प्रतिमारोहणकी प्रथम शर्त थी कि जिसे संसार, देह व भोगोंसे वैराग्य हुआ हो वह इस मार्ग पर चले। ग्यारहवीं प्रतिमाके स्वरूपको प्राप्त करने पर वह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। श्रावकके १२ व्रत

जो द्वितीय प्रतिमामें धारण किए थे वे आगामी प्रतिमाओंमें बढ़ते-बढ़ते इस प्रतिमामें अपनी मर्यादा समाप्त कर महाव्रतत्वको प्राप्त हो जाते हैं। कहां कौन प्रतिमामें कौन-कौन व्रत बढ़ते हैं इस संबंधमें मूलग्रन्थकर्त्ता श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर महाराजने तीसरी प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तकका स्वरूप बीच-बीचमें कुछ गद्य वाक्योंमें किया है। उनका यहाँ वर्णन किया जाता है। वे वाक्य ये हैं—

१—सामायिकप्रतिमायामेव सामायिकं निर्दोषतां याति।

२—प्रोषधोपवासव्रतपूर्णता प्रोषधोपवासप्रतिमायां भवति।

३—पञ्चमप्रतिमायां भोगोपभोगव्रतपूर्णता भवति।

४—अथ षष्ठप्रतिमायां भोगोपभोगव्रतपूर्णता भवति।

५—भोगोपभोगव्रतस्य संपूर्णतया पूर्णता सप्तमप्रतिमायां भवति।

६—अष्टमप्रतिमायामारम्भत्यागः पञ्चाणुव्रतस्य शुद्धता विशेषरूपेण स्यात्।

७—नवमप्रतिमायां परिग्रहत्यागतोऽथिसंविभागव्रतस्य निरतिचारता स्यात्।

८—अथ दशमप्रतिमायां अनुमतित्यागादनर्थदण्डव्रतं निरतिचारतां याति।

९—अथोद्दिष्टाहारत्यागात् सप्तशालानां पूर्णता भवति तथाणुव्रतत्वमपि महाव्रतत्वं याति।

इनका तात्पर्य इस प्रकार है कि—

१—सामायिकव्रत यद्यपि द्वितीय प्रतिमामें ही धारण किया था पर उसकी पूर्णता तृतीय प्रतिमामें होती है। यहाँ सामायिक व्रतरूप हुआ। यद्यपि सामायिक ही एक मात्र चारित्र है, उससे ही सर्वकर्म निर्जरा होती है और इसलिए तृतीय प्रतिमामें उसकी पूर्णता नहीं होती। उसका आचरण तो मुनिजन करते हैं। उनके अन्य सब प्रयत्न इसे प्राप्त करनेके लिए हैं, तथापि श्रावक पदके योग्य यथासमय-नियमित सामायिक करना इतना व्रत मात्र इस प्रतिमामें पूर्ण होता है।

२—इसी तरह प्रोषधोपवासव्रतका प्रारम्भ भी द्वितीय प्रतिमामें था पर पूर्णरीतिसे गृहस्थ योग्य यह व्रत चतुर्थ प्रतिमामें पूर्ण होता है।

३, ४, ५—पांचवींमें भोजन सम्बन्धी छठीमें उपभोग संबंधी तथा सातवींमें पूर्णतया भोगोपभोग संबंधी सामग्रीका भोगोपभोगकी दृष्टिसे त्याग हो जाता है और यह व्रत पूर्ण होता है।

६—आठवीं प्रतिमामेंआरंभ व्यापारका त्याग होनेसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण ये पांचों ही अणुव्रत उज्ज्वलता धारण करते हैं। इन व्रतोंमें दोषोत्पन्न होने योग्य परिस्थिति ही समाप्त हो जाती है। दिग्व्रत देशव्रत सभी आरंभादि कार्यके अभावसे यहाँ पूर्णता प्राप्त करते हैं।

७—नवमी प्रतिमामें धनधान्यादि परिग्रह जो अभी तक थे आरंभ त्याग करने पर उनकी निरर्थकता स्वयं अनुभवमें आने लगती है। अतः उसका त्याग होनेसे त्यागवृत्तिके हेतु जिस अतिथिसंविभाग व्रतको धारण किया था वह परिग्रह त्यागसे पूर्ण होगी, अतः अब यह आहार दान छोड़कर अतिथिकी अन्य सेवायें ही करता है। अतः अतिथिसंविभागव्रत अपनी मर्यादा यहां पूर्णकर लेता है। अब यह स्वयं अतिथि बनने योग्य हो रहा है।

८—दशवीं प्रतिमामें आरंभादि संबंधी अनुमति भी नहीं देता, अतः बिना प्रयोजनके कार्य बन्द करनेके लिये उनके पापसे बचनेके लिए जो अनर्थदण्ड व्रत किया था वह यहां पर अपना अन्तिम रूप

पा जाता है। अतः इस व्रतकी पूर्णताके लिए यह प्रतिमा धारण की गई है।

इस प्रकार द्वितीय प्रतिमाके सम्पूर्ण १२ व्रत विभिन्न प्रतिमाओंमें अपनी अपनी वृद्धि करते करते महाव्रतमें प्रविष्ट होने योग्य बनते हैं।

६—ग्यारहवीं प्रतिमामें अन्य १० ही व्रतोंकी विशेष शुद्धिपूर्वक मुनि पदारोहणकी पूर्ण तयारी हो जाती है।

इसके बाद श्रावकधर्मकी मर्यादा समाप्त है।

श्रावकके बारह व्रतोंमें समाधिमरण भी एक व्रत किन्हीं आचार्योंने गिनाया है। उनके मतसे बारह व्रत इस प्रकार गिनाए गए हैं, पंचाणुव्रतके साथ दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डत्याग, भोग परिमाणव्रत, उपभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसंविभाग और समाधिमरण। किसी किसी ग्रंथकारने १२ व्रतोंके बाद समाधिकरणको अलगसे व्रत न मानकर भी उसकी आवश्यकता प्रत्येक व्रती या अव्रतीके लिए बतलाई हैं। वास्तवमें समाधिकरण एक ऐसी क्रिया है जिसकी इच्छा अव्रती भी करता है। वह भी चाहता है कि मेरा मरण उत्तमप्रकारसे धर्मपूर्वक हो। समाधिमरण करनेवालेको पाक्षिक और नैष्ठिककी तरह साधक ऐसा तीसरा स्वतंत्र नाम दिया गया है। पाक्षिक श्रावक प्रतिमारोहणके पूर्व व्रतोंकी उत्पत्तिके योग्य अपने आत्मतंत्रको बनाता है जिसमें पाक्षिक श्रावकके गुण आ जाते हैं। वह सरलतासे प्रतिमारोहणमें समर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रतिमारोही मरणके समय कषायों पर विजयकर व विषयोंका त्यागकर अपने में शान्ति या समाधि उत्पन्नकर मरणको प्राप्त करता है। इस तरह की आत्मसाधनाके कारण वह साधक पदको प्राप्त करता है।

मरणकाल किसी भयानक उपसर्ग या बीमारी आदिके कारण भी आ सकता है। उस समय पर सम्हल करके समाधिका साधन कर लेना कठिनतर कार्य है। पर जिन्होंने इसकी जीवनकालमें भावना की है उन्हें कठिन नहीं है। वे प्रतिक्षण उसकी कामना रखते हैं अतः उस समयको देखकर घबड़ाते नहीं हैं। तत्काल अन्नाहारका त्याग कर निष्कषायभावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं। आयुके पूर्ण होनेका नाम मरण है। ऐसा मरण प्रतिसमय होता है, क्योंकि आयुका गलना प्रतिसमय हो रहा है। यह मात्र व्यवहार है कि आयुके क्रमशः जो निषेक गलते जाते हैं उसे हम जीवन ही कहते हैं, और अन्तिम निषेककी समाप्तिको मरण कहते हैं। यथार्थमें तो आयुके निषेकका खिरना ही मरण है। आयुके निषेक प्रति समय क्षय होते है अतः प्रतिसमय ही मरण है। तब हम समाधि (समभाव) की प्रतिसमय वांछा और उसके प्रति प्रयत्न करनेवालेको समाधिकरणका व्रत है ऐसा कह सकते हैं। संभवतः इसी अपेक्षासे इसकी गणना १२ व्रतोंमें की गई है। मरणके समय सबसे ममत्व त्यागकर द्वादश भावनाओं-का विचार करना तथा आरंभ परिग्रहको सर्वथा त्याग धर्मध्यानमें अपना उपयोग लगाना, सबके प्रति उत्तम क्षमाका भाव रखकर सबसे क्षमा याचना करना, किसीके प्रति राग, द्वेष और किसी वस्तुकी वांछा नहीं रखना यह कर्त्तव्य होता है। इस प्रकार जिनका मरण होता है उनकी कुगति नहीं होती अव्रती श्रावकसे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक मुनिपदमें भी अपनी-अपनी योग्यता तथा प्राप्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार यह व्रत पाया जाता है।

इस व्रतके भी ५ अतिचार हैं जिनसे बचना चाहिए। वे ये हैं—(१) रोगादिसे या उपसर्गसे या वेदनासे घबड़ाकर शीघ्र मरणकी इच्छा करना, (२) सेवा करनेवाले व्यक्तियोंके मोहसे, उनकी

सेवाकी प्रसन्नतासे अथवा अन्य कोई विषय-वासनासे मरण न आवे, जितने काल जीवित रह सकें उतना अच्छा ऐसी वांछा करना, (३) अपने कुटुम्बीजन, स्त्री, पुत्रादिमें, मित्रादिमें प्रीतिभाव रखना, उनके मोहका त्याग न करना, (४) पहले जो विषय-भोग किए हैं उनकी बार-बार याद कर चित्तको विषयानुरागी बनाना, (५) व्रतोंका फल आगे स्वर्गादि संपत्ति रूप हो व अनेक विषयोंके उत्तमोत्तम साधन मिलें ऐसी वांछा करना ये पाँच अथवा इसी प्रकारके अन्य दोष समाधिमरणके अतिचार हैं।

इनसे विरक्त हो अपने उद्देश्यको सामने रखकर, लक्ष्य भ्रष्ट न हो, प्रयत्नपूर्वक समाधि लेना समाधिमरण है। यह व्रतोंका सार है। इसी समाधिके अर्थ ही व्रतोंका परिपालन है। जिसने जीवन भर व्रत किया और अन्त समय समाधिसाधन न किया उसने जीवन भर कमाई हुई संपत्तिको उपयोगके पूर्व कुएँमें डाल दिया। ऐसा समझकर इस व्रतका अवश्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार समाधिव्रत जो १२ व्रतोंमें भी गिना गया है उसका वर्णन प्रकरणसंगत होनेसे संक्षेपमें किया गया है।

पुरुषोंकी तरह स्त्रियाँ भी उक्त प्रतिमाओंका पालन करती हैं। उनकी अवस्थाके भेदसे क्वचित् भेद हो जाता है। जैसे छठी प्रतिमामें कृतकारितानुमोदनासे रात्रिभोजन त्याग होने पर भी जिस स्त्रीकी गोदमें दूध पीता बच्चा है वह उसे दूध पिलायगी, उसका त्याग उसे हो नहीं सकता। यदि करे तो बालककी अपमृत्युका कारण होनेसे महान् दोष उत्पन्न होगा।

इसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमामें क्षुल्लिकाके पास सोलह हाथ तककी धोती तथा एक ओढ़नेका वस्त्र और आर्यिका अवस्थामें केवल एक धोती मात्र परिग्रह रहता है। इतने वस्त्र इनके लिये विधेय हैं। ये श्राविकाओंके संघके साथ रहें। मासिक शरीरधर्मका कठिनाईके समय श्रावकके घर पर रहें। उस कठिनाईके दूर होने पर पुनः संघमें जाँय। अथवा संघमें भी योग्यता द्रव्य क्षेत्रकी अनुकूलता हो तो निर्वाह कर सकती हैं।

ये ग्यारहवीं प्रतिमाधारी शुद्धिनिमित्त तत्सम दूसरा वस्त्र लंगोटी आदि तथा धोती आदि भी रहने पर एक समय शरीर पर एकका ही उपयोग करें। आर्यिका केश लोच ही करे। इस तरह स्त्रीपर्याय गत योग्यताके अनुसार थोड़ा सा परिवर्तन होता है।

प्रतिमाधारी इच्छाकार या इच्छामि इस शब्द द्वारा परस्पर व्यवहार करें। इस शब्दका अर्थ है कि हमें मुनिपदकी वांछा है, हम उसे चाहते हैं। साधारण श्रावक जुहारु आदि शब्दों द्वारा पारस्परिक व्यवहार करते हैं, इस प्रकार ये नहीं करते। इनका व्यवहार इच्छामि शब्द द्वारा होता है। आर्यिका को वन्दामि कह कर उनका सम्मान करना चाहिये। स्त्रियोंके लिये यह पद सर्वोत्कृष्ट है। अतः उनका समुचित आदर करना चाहिये। स्त्रियोंको ही उनकी सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन समाप्त हुआ तथा श्रावक धर्मकी मर्यादा भी समाप्त हुई। इसके बाद पुरुष लँगोटी मात्र परिग्रहका भी त्याग कर मुनिपदको धारण करता है मुनिधर्मका वर्णन ग्रंथके पूर्व भाग मुनिधर्मप्रदीपमें आचार्य श्री कुन्थसागर जी ने किया है। २१२।

इस प्रकार आचार्य श्री कुन्थुसागर विरचित श्रावकधर्म प्रदीप व पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्त शास्त्री कृत प्रभानामक व्याख्यामें पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

———

ग्रन्थकारप्रशस्तिः

(अनुष्टुप्)

आचार्यशान्तिसिन्धोर्मे दीक्षागुरोर्दयानिधेः ।
सूरेः सुधर्मसिन्धोर्हि विद्यागुरोः प्रसादतः ॥ १ ॥
त्रिविधाः श्राद्धधर्माश्च यथावल्लिखिता मया ।
तुष्टेन विश्वशान्त्यर्थं कुन्थुसागरसूरिणा ॥२॥ युग्मम् ॥

इस कालमें विद्यमान दयाके सागर और मेरे दीक्षागुरु श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी तथा विद्यागुरु श्री १०८ आचार्य सुधर्मसागरजी के प्रसादसे विश्वमें सुखशान्तिकी वृद्धि हो ऐसे उद्देश्यको सामने रखकर श्रावकके तीनों प्रकारके भेदोंको प्रतिपादित करनेवाला यह श्रावकधर्मप्रदीप ग्रंथ मुझ कुन्थुसागर सूरिने पूर्वाचार्यकी परम्परासे आगत उपदेशके अनुसार लिखा है ।१।२।

इस श्रावकाचारका प्रयोजन—

(अनुष्टुप्)

पूर्वाचार्यप्रणीताश्च श्राद्धाचारप्रदर्शकाः ।
सन्त्यत्र बहवो ग्रन्था ग्रन्थस्यास्य प्रयोजनम् ॥ ३ ॥
किं वर्तते गुरो ब्रूहि ज्ञातुमिच्छामि चार्थतः ।
प्रयोजनं विना ग्रन्थो नोपादेयो यतो भवेत् ॥ ४ ॥ युग्मम् ॥

सर्वज्ञोपदेशके अनुसार पूर्वाचार्यों द्वारा रचित श्रावकके आचारका वर्णन करनेवाले बहुतसे ग्रंथ विद्यमान हैं, ऐसी अवस्थामें इस नवीन ग्रन्थकी रचनाका क्या प्रयोजन है ? हे गुरुदेव ! मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि प्रयोजनके बिना ग्रन्थ उपादेय नहीं हो सकता, अतः इसका यथार्थ कारण बताइये ।३।४।

(अनुष्टुप्)

जैनाहिंसातिरेकाद्धि हानिः स्याद् भारतस्य कौ ॥
ब्रुवन्त्यज्ञानतः केचिदिति तद्बाधहेतवे ॥ ५ ॥
जैनाहिंसातिरेकाच्च तद्बोधाद्धि किन्तु वै ॥
बभूवुश्चक्रवर्त्याद्याः तत्पालकाः स्वसिद्धये ॥ ६ ॥
ग्रन्थोऽयं लिखितो भव्यः स्वर्मोक्षसुखप्रदः ॥
नेच्छा मे ख्यातिलाभस्य न तु नामप्रसिद्धये ॥ ७ ॥
शुद्धचिद्रूपमूर्तेर्मे किन्नामादिप्रयोजनम् ॥
श्रीमतः स्वात्मतुष्टस्य कुन्थसागरसूरिणः ॥ ८ ॥ कलापकम् ॥

इस ग्रंथके लिखनेका यह प्रयोजन है कि वर्तमान युगमें कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जैनधर्म की अहिंसा ने भारतवर्षकी बहुत बड़ी हानि की है । अहिंसाके उपदेशसे लोग कायर हो गए । आततायी से युद्ध करनेमें उन्हें अहिंसाका पाप दृष्टिगोचर होता था, इसलिए विदेशी सत्ताके पैर भारतमें जम गये । वास्तविक स्थिति तथा ऐतिहासिक स्थितिको न जानकर व्यक्तियोंके द्वारा किए गये इस मिथ्या

आक्षेपका खण्डन करनेके हेतु तथा उन्हें सम्यग् बोध प्राप्त करानेके लिए इस ग्रंथकी रचना आवश्यक प्रतीत हुई।

इस ग्रंथमें यह बात ग्रंथकार बता चुके हैं कि जैनोंकी हिंसाके अतिरेकसे नहीं, किन्तु जैनी अहिंसा को न समझ सकनेके कारण भारतका पतन हुआ है। ग्रंथमें बताए गए हिंसाके स्वरूप और उसके भेदों पर विचार करके चलनेवाला गृहस्थ श्रावक उस हिंसासे बचता है, साथ ही अहिंसक धर्मात्माओंके ऊपर आनेवाले विघ्नको दूर करनेके लिए उनकी रक्षा करता है। इस रक्षाके उद्देश्यको अविस्मरण करके जो संघर्ष उसे करना पड़ता है उस विरोधी हिंसाका कार्य उसकी हिंसाकी परिधिमें नहीं आता। वह मात्र संकल्पी हिंसाका त्यागी है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञानके प्रचार हेतु ग्रंथकी रचना करनी पड़ी है।

अनेक चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण अथवा साधारण राजा आदि पुरुष जैनधर्मके प्रतिपालक होते हुए भी कभी नैतिक युद्धसे विमुख नहीं हुए। इनकी कथा जैन पुराणोंमें अनेक स्थलों पर पाई जाती है। अतः उक्त निराधार आक्षेपको मिटानेका अभिप्राय इस ग्रंथके लिखनेका है। लौकिक प्रशंसा आदि तथा कीर्ति आदि अभिलाषासे इस ग्रंथकी रचना नहीं की गई।

मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अनन्त गुणोंका पिण्ड हूँ। शरीरादि पुद्गल द्रव्य हैं। नाम आदि शरीरके हैं, आत्माके नहीं, तब नामादिका क्या प्रयोजन है? अपनी आत्माके स्वरूपमें ही मगन और अत्यन्त संतोषी मुझ कुन्थुसागर सूरिको नाम और तदाश्रय कीर्तिसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। ग्रन्थ लेखकका उद्देश्य केवल लौकिक अपवाद जो धर्म पर निरर्थक आया है उसे दूर करना मात्र है।५।६।७।८।

लघुताप्रकाश—

(अनुष्टुप्)

प्रमादान्मे क्वचित्स्याद्वा ग्रन्थेऽस्मिन् स्खलनं यदि।
शोधयन्तु मुदा सन्तो वस्तुतत्त्वविचारकाः॥ ६॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरे प्रमादसे इस ग्रंथके लेखनमें यदि कहीं त्रुटि रह गई हो तो वस्तुतत्त्वका विचार करनेवाले सज्जन इसका शोधन कर लें।६।

(अनुष्टुप्)

शान्तिसिन्धुस्सुधर्मो मामवतु ह्यवतु स्वयम्।
कुरु कुरु स्वतुल्यान् नो वृषभादिर्जिनेश्वर॥१०॥

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी तथा सुधर्मसागर जी मेरी रक्षा करें तथा ऋषभादि जिनेश्वर, आप हम सबको अपने समान बना लें।१०।

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥